भारतीय

काव्यशास्त्र

सिद्धान्त

डॉ० राज किशोर सिंह

काव्य-शास्त्र

(आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक
डॉ० राजकिशोर सिंह
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
आगरा कालेज, आगरा

मूल्य पाँच रुपये (रु० ५) मात्र।

प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

* प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स अमीनाबाद लखनऊ ।

* संस्करण : १९७३

* मूल्य पाँच रुपये (५ रु०) मात्र

प्रातः स्मरणीय

परम पूज्य गुरुवर

पं० जगन्नाथ जी तिवारी

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित

विनीत
राजकिशोर सिंह

प्राक्कथन

"वाङ्मय के शास्त्र और काव्य दो महत्वपूर्ण अङ्ग हैं, काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्र का ज्ञान परम आवश्यक है। जिस प्रकार बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अतः काव्यों के अध्ययन से पहले शास्त्र का अभ्यास परम आवश्यक है—इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेस्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्वार्थसार्थमध्यक्ष-यन्ति।" राजशेखर के उपर्युक्त कथन के अनुसार काव्यशास्त्र का अध्ययन साहित्य-संसार में प्रवेशार्थी के लिए नितान्त अपरिहार्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त विश्व साहित्य के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों से विशिष्ट हैं, किन्तु विशिष्ट होने के साथ-साथ दुर्बोध और जटिल भी हैं। भारतीय काव्यशास्त्र आज भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं में अनिवार्यतः पढ़ाया जा रहा है। 'भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त' नामक यह कृति विश्वविद्यालयी छात्रों के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इस पुस्तक में दस अध्याय हैं जिनमें—कला एवं काव्य, शब्दशक्ति, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, आलोचना, काव्य के रूप एवं विधाओं का सरल तथा प्रामाणिक विवेचन किया गया है। इस पुस्तक को लिखते समय छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने का विशेष ध्यान रखा गया है। इसीलिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में आये काव्यशास्त्र विषयक प्रश्नों के इसमें समाधान दिये गये हैं। इस पुस्तक को लिखते समय लेखक ने सरलता और स्पष्टता के साथ विषयवस्तु की पूर्णता एवं प्रामाणिकता को अपना लक्ष्य माना है। इस कार्य में लेखक ने भारतीय काव्यशास्त्रियों के मन्तव्यों का यथास्थान प्रयोग कर विषय को अधिक प्रामाणिक एवं उपयोगी बनाया है। लेखक का अपना विश्वास यह है कि आलोचनात्मक अध्ययन होने पर भी यह पुस्तक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

इस पुस्तक में कव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन तो है ही, किन्तु इसमें काव्यशास्त्रीय निवन्धों के लिए भी यथेच्छ सामग्री विद्यमान है। छात्र अपनी प्रतिभा से प्रस्तुत सामग्री का सदुपयोग करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

भारतीय काव्यशास्त्र के उन विद्वान् अनुसंधायकों का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिहोंने अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा से काव्यशास्त्र को प्रोद्भासित किया है। विशेषत: स्वर्गीय पूज्य गुरुवर आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि का चिरऋणी हूँ, जिनके ज्ञानदान एवं दिशानिर्देशन से अगाध ज्ञानराशि में से कुछ कण संचित कर सका हूँ।

लेखक उन सभी काव्यशास्त्रीय विद्वान् लेखकों का भी आभारी है जिनके ग्रन्थों से पुस्तक प्रणयन में सहयोग मिला है। साथ ही 'प्रकाशन केन्द्र लखनऊ' के संचालक मालवीयबन्धु श्री रविशंकर मालवीय तथा पं० पद्मधर मालवीय का भी आभारी हूँ, जिनके कारण पुस्तक सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रही है। पुस्तक की सामग्री संकलन तथा पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी पत्नी श्रीमती उषा यादव एम० ए० हिन्दी, इतिहास, बी० टी० से विशेष सहयोग मिला है; किन्तु उन्हें 'रस्मअदायगी' के रूप में धन्यवाद देने में संकोच का अनुभव हो रहा है।

छात्रों की सफलता की कामना के साथ पुस्तक के विषय में सत्परामर्श सादर आमन्त्रित हैं।

भवदीय

गोकुलपुरा, आगरा।

राजकिशोर सिंह

विषय-सूची

अध्याय १

कला एवं काव्य

प्रश्न-संख्या | पृष्ठ-संख्या

प्रश्न-संख्या | पृष्ठ-संख्या

अध्याय २

शब्दशक्ति

अध्याय ३

अलंकार

अध्याय ४

रीति

अध्याय ५

वक्रोक्ति

प्रश्न-संख्या पृष्ठ-संख्या

अध्याय ६

रस

प्रश्न-संख्या | पृष्ठ-संख्या

अध्याय १०

काव्य के रूप एवं विधाएँ

———

अध्याय | १

कला एवं काव्य

प्रश्न १—काव्यशास्त्र की आवश्यकता का संक्षेप में उल्लेख करते हुए यह बतलाइये कि आरम्भ में इस शास्त्र को किन नामों से अभिहित किया जाता था ? और सर्वाधिक लोकप्रिय नाम कौन-सा है ?

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास पुरातन है। साहित्य की आलोचना का प्रारम्भ साहित्य के उदय के साथ ही हो जाता है क्योंकि काव्य की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं, कुछ आदर्श होते हैं और संस्कृति के अनुरूप काव्यालोचन के मानदण्डों का उदय होता है। यहीं से काव्यशास्त्र के उदय की कहानी प्रारम्भ होती है। काव्यशास्त्र काव्य की श्रेष्ठता आदि का विवेचन करता है काव्य के गुण-दोष और अन्यान्य तत्वों का समीक्षण भी करता है।

काव्य आज के बौद्धिक युग की नितान्त अपरिहार्य आवश्यकता है। काव्य आज के जीवन का अभिन्न अंग है वह हमें विभिन्न जीवन-मूल्यों का सकेत करता है। जीवन के लिए प्रेरणा भी देता है, ऐसा प्रेरक काव्य लोक-मङ्गल-विधायक है या नहीं; इसके परीक्षण के लिए काव्यशास्त्र का उदय होता है।

काव्यशास्त्र की आवश्यकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विचारक काव्य को मानसिक उद्गारों का अभिव्यक्तिकरण मानते हैं, अतः काव्य की उपादेयता और अनुपादेयता का प्रश्न ही नहीं उठता है। दूसरे विद्वान् निरन्तर परिवर्तनशील जीवन-मूल्यों और मान्यताओं के साथ काव्यालोचन के प्राचीन प्रतिमान न्याय नहीं कर सकते हैं, अतः काव्यशास्त्र की उपयोगिता को वे स्वीकार नहीं करते हैं। क्योंकि

"एक सर्वमान्य एवं सर्वस्थायी मानदण्ड की स्थापना का प्रश्न अव्यावहारिक एवं भ्रमपूर्ण है। कारण, प्रत्येक युग के साहित्य को उस युग का अध्येता और सर्जक अपने ढंग से लिखता-पढ़ता है और उसका आकलन करता है।" किन्तु यह विचार तर्कसम्मत नहीं है। क्योंकि काव्य के वाह्य-तत्वों में तो परिवर्तन होता है किन्तु मानव-मन की मूल प्रवृत्तियों में विशेष अन्तर नहीं आता है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक और क्रोधादि भावानुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ शाश्वत हैं। अतः उनके स्वरूप एवं परिवेश में अन्तर हो सकता है, परिस्थितियाँ, स्थान एवं पात्र वदल सकते हैं किन्तु मूलभूत तत्व नहीं।

अतः काव्यशास्त्र की नितान्त आवश्यकता है। काव्य संसार में अराजकता उत्पन्न न हो, वहाँ क्रमवद्धता वनी रही है। इन सभी समस्याओं का समाधान काव्यशास्त्र प्रस्तुत करता है।

काव्यशास्त्र का नामकरण—संस्कृत वाङ्मय में साहित्य एवं काव्य समानार्थक हैं, अतः संस्कृत के लक्षणग्रन्थों में अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शव्द प्रायः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रीतिविषयक लक्षण-ग्रन्थों के विकास के वाद इस दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है। परिणामस्वरूप रीति एवं अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है और स्पष्ट हो जाता है अलंकार, काव्य एवं साहित्य आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा भिन्न व्यक्तित्व भी।

भारतीय 'काव्य-शास्त्र' जिसे 'साहित्य विद्या' या 'क्रिया-कल्प' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे सदा 'अलंकारशास्त्र' या काव्यालंकार' का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप 'अलङ्कार' शव्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण 'साहित्यशास्त्र' कहलाता है। लेकिन साहित्यशास्त्र नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हो सका, क्योंकि साहित्य एक शास्त्र-विशेष न होकर 'ज्ञानराशि के संचित कोष' का नाम है अथवा अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारों का समन्वित रूप है। काव्यशास्त्र के उदयकाल में काव्य के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम **'काव्यालङ्कार'** भी रहा है। इसीलिए प्रारम्भिक समग्र काव्य-

शास्त्र-विषयक ग्रन्थों के नाम काव्यालङ्कार रखे जाते थे; जैसे भामह का कारिकात्मक ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार', उद्भट का 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह', रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र'। किन्तु काव्य-सौन्दर्य की परीक्षा करनेवाले इन ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही विवेचन नहीं था, अपितु गुण-दोष, रीति, रस, काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन-हेतु आदि भी इन ग्रन्थों के विवेच्य विषय थे। इसलिए काव्य-विषयक इन आलोचनात्मक ग्रन्थों को 'काव्यशास्त्र' कहा गया जो कि अधिक समीचीन नाम था।

"संस्कृत साहित्य के काव्य या कविता के अंग की विविध-व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उसमें हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार-विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है। वस्तुतः काव्य की विविध पद्धतियों की समालोचना, समीक्षा और उसके मूल स्वरूप का परिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।" पाश्चात्य आलोचना-साहित्य में 'काव्य-शास्त्र' और 'अलङ्कारशास्त्र' को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया गया है।

"वे भावाभिव्यंजन की पद्धति पर विचार-विमर्श करनेवाले शास्त्र को शैली-शास्त्र (Stylistics) के नाम से अभिहित करते हैं तथा साहित्य के गद्य-पद्य भेद के आधार पर गद्यशैली के प्रतिपादक शास्त्र को 'अलङ्कार शास्त्र' (Rhetoric) तथा पद्यशैली का विचार करने वाले शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' (Poetics) नाम से पुकारते हैं। किन्तु भारत में अब इसके लिए काव्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, साहित्यालोचन तथा आलोचनाशास्त्र आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु सर्वाधिक प्रचलित नाम 'काव्यशास्त्र' है।

प्रश्न २—कवि एवं काव्य का महत्व स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ३—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' की व्याख्या कीजिए।

कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। मेदिनी कोष में काव्य की परिभाषा इस प्रकार लिखी हुई है—कवेरिदं कार्यभावो वा' (ष्यञ्) । अर्थात् कवि के द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो, वह काव्य है। आचार्य अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है कि 'कवनीयं काव्यं'। इन दोनों ही व्युत्पत्तियों में कवि के कर्म को

काव्य कहा गया है। अतः कवि किसे कहते हैं, उसका स्वरूप और महत्व क्या है, यह जानना भी अपेक्षित है। " 'कु' धातु में अच् प्रत्यय 'इ' जोड़कर 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है और 'कु' का अर्थ है 'व्याप्ति' 'आकाश', अर्थात् 'सर्वज्ञता'। फलतः कवि सर्वज्ञ है, द्रष्टा है। श्रुति कहती है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।' 'परिभूः', अर्थात् जो अपनी अनुभूति के क्षेत्र में अथवा दृष्टिक्षेप में सब कुछ समेट ले और 'स्वयम्भूः' जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का भी ऋणी न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है, जो स्वयं सम्पूर्ण और सर्वज्ञ हो।" वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है, जिसका अर्थ ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ है। वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा को इसलिये आदिकवि भी कहा गया है।

लौकिक साहित्य में 'कवि' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत संकुचित अर्थ में हुआ है। इस रूप में कवि उसे कहते हैं जो 'विशिष्ट रमणीय शैली में काव्य का रचयिता है।' वैसे कवि को क्रान्तदर्शी भी कहा जाता है, क्योंकि वह अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा से भूत, भविष्य और वर्तमान को हस्तामलकवत् साक्षात् कर देता है। प्रत्यक्ष चित्र के रूप में तीनों कालों को दिखा देता है—'कवयः क्रान्तदर्शिनः।' इसीलिए हिन्दी में कहा है—"जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।"

उत्तर-वैदिक काल में 'कवि' शब्द 'विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एक विशेष प्रकार की शैली में रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ हो गया था और परवर्ती काल में वह इसी अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है।

कवि के पास 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' और 'वर्णननिपुणता' का होना आवश्यक है। यही कवि विशेष सफल होता है। 'काव्य-प्रकाशकार' मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि "लोकोत्तर वर्णनानिपुण कविकर्म।" कवि के कर्म को काव्य और काव्य-संसार कहा गया है तथा कवि को इस संसार का रचयिता—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥
(अग्निपुराण ३३६/१०)

इस विस्तृत एवं अनन्तव्यापी काव्य रूपी संसार का विधाता कवि है, वह अपनी रुचि-विशेष के अनुसार इस विश्व (काव्य) का सृजन करता है। इस प्रकार कवि को प्रजापति कह कर उसके महत्व को स्वीकार किया गया है।

'काव्यप्रकाशकार' मम्मट ने भी कवि और उसके काव्य के महत्व की घोषणा करते हुए लिखा है कि कवि की वाणी विधाता के द्वारा रचित नियमों से रहित है, वह केवल आनन्दमयी है, वह अनन्य परतन्त्र है, वह नवरसों से रमणीय ऐसी कवि की वाणी सर्वोत्कृष्ट है—

नियतिकृत नियमरहितांह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधति भारती कवेर्जयति॥
(का० प्र०, १/१)

इस कारिका के द्वारा आचार्य मम्मट ने कवि की सृष्टि और सामर्थ्य को ब्रह्मा की सृष्टि एवं सामर्थ्य से अधिक महत्व प्रदान किया है। विधाता की सृष्टि से कवि की सृष्टि में चार विशेषतायें निम्न हैं—सर्वप्रथम विशेषता यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि 'नियतिकृत नियमसहिता' है। परन्तु कवि की सृष्टि विधाता के नियमों से आबद्ध नहीं है। 'नियति' के दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम तो यह—जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है, ये पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म नियति पद से कहे जाते हैं, उसके द्वारा किया गया नियम। ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत नियम से युक्त है। परन्तु कवि की सृष्टि इन समस्त नियमों से मुक्त है। "उसकी सृष्टि में स्त्री के मुख से कमल की सुगन्ध, आँखों में कमल का सौन्दर्य आदि रहता है।" अतः कवि की सृष्टि "नियतिकृत नियमरहितां" है।"

'नियति' पद का दूसरा अर्थ है—अदृष्ट या धर्माधर्म। ब्रह्मा की सारी सृष्टि अदृष्ट के सिद्धान्त पर ही स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत कर्म या अदृष्ट के फलभोग के लिए ही इस सारी सृष्टि की रचना हुई है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति होती है। किन्तु कवि की सृष्टि इस बन्धन से परे है। वह तो कल्पना के सहारे जब चाहे तब अतर्कित रूप से मनोवांछित सामग्री से भी अधिक सुख-सामग्री प्रस्तुत कर देता है। वह

इसी शरीर से सशरीर स्वर्ग में पहुँच सकता है। इसीलिए कवि-सामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

कवि-सृष्टि की दूसरी विशेषता 'ह्लादैकमयी' है। ब्रह्मा की सृष्टि में सुख-दुःख का अस्तित्व है, कोई प्राणी संसार में रहकर दुःख से बच नहीं सकता है। सांसारिक सुखों के साथ दुःख अवश्यम्भावी है। परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का सर्वथा अभाव है। कवि की सृष्टि 'रघुवंश' में हम राजा अज को इन्दुमती के वियोग में विलाप करते देखते हैं, और 'उत्तररामचरित' में कवि सीता के वियोग में राम को करुण विलाप करते देखता है, इन करुण-मार्मिक प्रसङ्गों में भी हम आनन्द का अनुभव करते हैं। इसीलिए कहा भी है कि—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
(साहित्यदर्पण ३/४-५)

इस प्रकार कवि-सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह सुखमयी है।

कवि-सृष्टि की तीसरी विशेषता 'अनन्य परतन्त्रता' है। ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति अथवा कारण आदि से नियन्त्रित है। परन्तु कवि-सृष्टि के लिए कवि की अपनी प्रतिभा और आस्था के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। वह अन्य किसी के अधीन न होकर अनन्य परतन्त्र है। अतः ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कर्षशाली है।

ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में चौथी विशेषता यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और अम्ल ये छः प्रकार के रस पाये जाते हैं। ये रस सभी को प्रिय नहीं होते हैं। कटु और तिक्त अप्रिय रस हैं। परन्तु कवि की सृष्टि में एक विशेषता यह है कि उसमें छः रसों के स्थान पर शृंगार, करुण आदि नौ या नौ से भी अधिक रस हैं। द्वितीय विशेषता यह है कि ये सभी आनन्दमय ही होते हैं। अतः कवि की सृष्टि 'नवरसा' और 'रुचिरा' होने के कारण भी ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

मम्मट की इस कारिका से कवि और काव्य का महत्व स्पष्ट है।

संस्कृत के साहित्यशास्त्र में कवि को बहुश्रुत और सुशिक्षित होना आवश्यक

माना गया है। आचार्य भामह ने लिखा है कि "शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर, शब्दार्थ-वेत्ताओं की सेवा कर तथा अन्य कवियों के निबन्ध को देखकर काव्य-क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।" (काव्यालङ्कार १/१०)। वामन कवि के लिए 'लोक-व्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्ड-नीति का ज्ञान काव्यशास्त्र का उपदेश करने वाले गुरुओं की सेवा आवश्यक मानते हैं' (काव्यालंकारसूत्र १/३/१/११)। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ने "कवि-शिक्षोपयोगी विविध-विषयों, शास्त्र-परिचय पदवाक्य-विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्य के स्रोत, अर्थव्याप्ति, कवि-चर्या, राज-चर्या, काव्यहरण, कवि-समय, देश-विभाग, कालविभाग का वर्णन किया है।" इसी प्रकार क्षेमेन्द्र, वाग्भट्ट, हेमचन्द्र आदि ने कवि-शिक्षा के विषय में काफी विस्तार से लिखा है, जो इस बात का प्रमाण है कि कवियों को बहुज्ञ होना चाहिए, तभी वह लोककल्याणकारी काव्य का सृजन कर सकता है। ऐसा बहुज्ञ कवि ही अपनी विश्वविहारिणी कल्पना से महान् काव्य का सृजन कर सकता है जिसके आधार पर कवि के महत्व को घोषित किया जा सकता है, तभी वह कवि भी '**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः**' कहा जा सकता है।

प्रश्न—कला शब्द की व्याख्या करते हुए कलाओं का विभाजन तथा परिचय दीजिए।

कला का उदय मानव की सौन्दर्य-भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति के लिए और मानसिक विकास के लिए विभिन्न कलाओं का उदय प्राचीन काल में हुआ था। प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। संस्कृत साहित्य में ज्ञान का विभाजन दो रूपों में किया गया है—विद्या और उपविद्या। विद्या के अन्तर्गत काव्य को स्थान दिया गया है और विभिन्न कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत। भर्तृहरि ने काव्य एवं कला को भिन्न माना है। उसके अनुसार "**साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात् पशु-पुच्छविषाणहीनः**" अर्थात् साहित्य, संगीत और कला के ज्ञान से रहित मनुष्य साक्षात् पशु ही है। अतः साहित्य और कला का महत्व स्वयं सिद्ध है।

कला शब्द की व्युत्पत्ति—कला शब्द की रचना **कल्+अच्+टाप्** धातु एवं प्रत्यय के संयोग से हुई है। कला का शाब्दिक अर्थ है—"**किसी वस्तु**

का छोटा अंश, चन्द्रमण्डल का षोडश अंश, राशि के तीसवें भाग का साठवाँ अंश।" कल् धातु भी आवाज, गणना आदि अर्थों की सूचक है। आवाज अथवा ध्वनि से हमारा आशय अव्यक्त से व्यक्त की ओर उन्मुख होना है, क्योंकि कलाकार भी "अपने अव्युक्त भावों को कतिपय साधनों के द्वारा व्यक्त करता है।" डा० रामदत्त भारद्वाज के अनुसार 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'कवि' और 'लास्य' इन दोनों के प्रथमाक्षरों से 'कला' शब्द निर्मित है। कवि का लास्य ही कला है। 'लास्य' शब्द का कोशार्थ है—नृत्य अथवा उछल-कूद। कवि के काव्य में कवि के अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है। उसके अव्यक्त भाव शब्दों के माध्यम से और आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं।" केवल कवि ही क्यों अन्य कलाकार (वास्तुकार, मूर्तिकार, चित्रकार आदि) भी अपने अव्यक्त भावों को अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करते हैं। कला की तृतीय व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है : क+ला= कला। क=कामदेव, सौन्दर्य, प्रसन्नता, हर्ष आनन्द। ला=देना। कं लाति ददातीति कला, अर्थात् सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम कला है। इसी आशय से दण्डी ने कला को "नृत्य गीत प्रभृतयः कला कामार्थसंश्रया" कहा है।

क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' में कला को वस्तु के रूप सँवारने वाली प्रतिभा या अभिव्यक्ति कहा है—"कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा।" अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है। भारतीय विद्वानों ने कला को साहित्य, ज्ञान, विद्या आदि से भिन्न स्वीकार किया है। सम्भवतः भरत ने इसीलिए 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' कहा है। अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए कला को 'कला गीतवाद्यादिका' लिखते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भारत में कला शब्द का प्रयोग ललित कलाओं (Fine Arts) के लिए भी होता था।'

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने Personality नामक पुस्तक में 'What is art शीर्षक लेख में ज्ञान के दो पक्ष कला और विज्ञान स्वीकार करते हुए, इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है–In art man reveals himself and not his

object. His objects have their place in books of information and science. अर्थात् कला मनुष्य की वाह्य वस्तुओं की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के मत में कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है। कला के कार्य का उल्लेख करते हुये रवीन्द्र लिखते हैं—कला का कार्य मानव के लिये सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना है—'This building of man's true world, the living world of truth and beauty is function of art. पाश्चात्य विचारक रस्किन प्रत्येक महान् कला को ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आल्लाद की अभिव्यक्ति मानते हैं—"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own." फ्रायड के मत में 'कला अन्तःकरण में दमित वासनाओं का व्यक्त रूप है।' कला के सम्बन्ध में टाल्स्टाय ने विस्तार से विचार करते हुए लिखा है कि कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुँचा देना ही है—'To evoke in ourself a feeling one has once experienced and having looked it in oneself, then, by means of movements, lines, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art.' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा देना ही कला का रहस्य स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुप्तजी "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही को कला" कहते हैं।

विविध कलाएँ एवं उनकी संख्या—भारतीय साहित्य में चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। उनके नाम निम्न हैं—गान, वाद्य, नृत्य, नाट्य, चित्र, वेल-बूटे, पूजोपहार-रचना, पुष्पशैया, अंगराग, मणि-फर्श, शैया-रचना, जल-बन्ध, सिद्धि-प्रदर्शन, माला-ग्रथन, पुष्पाभरण, वस्त्राभरण, प्रसाधन, कर्ण-पत्र-रचना, गंध-निर्माण, इन्द्रजाल, इच्छा-वेष, हाथ की कला, पाक, पेय, सूची-कार्य, काष्ठपुत्तलिका, प्रहेलिका, प्रतिमा-निर्माण, कूटनीति, शिक्षण, नाटका-ख्यायिकादि निर्माण, समस्या-पूर्ति, वेत-वाणादि निर्माण, गलीचा-दरी-निर्माण,

बढ़ईगीरी, भवन-निर्माण, रत्नधातु-परीक्षा, किमिया, मणि-रंग-परीक्षा, खनि-परीक्षा, वृक्षचिकित्सा, पशु-पक्षी-युद्ध, पशु-पक्षी-ध्वनि अनुकरण, उच्चाटन, केश-कर्म, मुट्ठी और मन की चीज या बात जानना, म्लेच्छ काव्यज्ञान, विभाषा-ज्ञान, शकुन विचार, मातृका यन्त्र, रत्न-कर्त्तन, सांकेतिक भाषा, कटक रचना, नव-वस्तु निर्माण, छल प्रयोग, कोष-ज्ञान, छन्दो-ज्ञान, वस्त्रगोपन-परिवर्तन, द्यूत क्रीड़ा, दूराकर्षण, बाल खेल, मंत्र-विद्या, विजय-विद्या, वेताल विद्या। वात्स्यायन के कामसूत्र में इन्हीं को कुछ नामान्तर से परिगणित किया है। इनके अतिरिक्त 'प्रवन्ध-कोष' में वृहत्तर, बौद्धग्रंथ 'ललित विस्तर' में छियासी कलाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु चौंसठ कलाएँ ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन कलाओं में जीवन की उपयोगी एवं हमारी मानसिक भावना को सन्तुष्ट करने वाली दोनों प्रकार की कलाएँ हैं।

कलाओं का वर्गीकरण—आधुनिक काल में कलाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—(क) उपयोगी कला एवं (ख) ललित कला। जीवन के लिये उपयोगी कलाओं का समावेश प्रथम में होता है। ये उपयोगी कलाएँ हमारी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, उदाहरण के लिये भोजन-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, आभूषण-निर्माण, स्वर्णकारी एवं वढ़ईगीरी। इन कलाओं के द्वारा हमारे जीवन को सुविधा प्राप्त होती है, इनके अभाव में जीवन कष्टमय हो सकता है। इन उपयोगी कलाओं के अतिरिक्त कुछ इस प्रकार की कलाएँ भी हैं, जिनसे सौंदर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्हें हम ललित कलाएँ कह सकते हैं। "अनुभूत सौंदर्य के जिस पुनर्विधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का अनुरंजन हो, हमारी चेतना सजीव हो, उसे ही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा सकता है।" इन कलाओं को प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी ललित कला के नाम से अभिहित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में अज के इन्दुमती-विलाप-प्रसङ्ग में "ललिते कलाविधौ" शब्द का प्रयोग किया है, जो कि सम्भवतः गीति एवं नृत्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः ललित कला शब्द पाश्चात्य Fine arts शब्द का हिन्दी रूपान्तर है।

पाश्चात्य विद्वानों ने मुख्य रूप से पाँच कलाएँ स्वीकार की हैं, जो कि क्रमशः स्थापत्य, मूर्ति, चित्र संगीत एवं काव्य हैं। वर्सफील्ड ने नाट्य, नृत्य, एवं भाषण नामक तीन कलाएँ और स्वीकार की हैं। हेगेल ने इन ललित कलाओं के मूर्त आधार और अमूर्त आधार नामक दो भेद भी बताये हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में इन्हीं मूर्त और अमूर्त आधार वाली कलाओं को नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाली तथा श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से तृप्ति प्रदान करने वाली ये दो भेद किये हैं जो कि क्रमशः वास्तु, मूर्ति एवं चित्र प्रथम के अन्तर्गत तथा शेष दो संगीत और काव्य द्वितीय के अन्तर्गत आती हैं।

वास्तुकला—वास्तुकला को स्थापत्य कला भी कहते हैं। इस कला के अन्तर्गत भवन-निर्माण, मंदिर-मस्जिद, बाँध, पुल आदि के निर्माण का कार्य होता है। वास्तुकला के आधार-रूप में ईंट, पत्थर, सीमेण्ट, लोहा, लकड़ी आदि स्थूल पदार्थ हैं और साधन के रूप में कन्नी, वसूला, फावड़ा आदि हैं। वास्तुकला में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीन तत्व होते हैं। स्थापत्य कला द्वारा व्यक्त भावों की अपेक्षा अन्य कलाओं द्वारा व्यक्त भाव अधिक आकर्षक होते हैं। सूक्ष्मता उनकी विशेषता है।

मूर्तिकला—स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला अधिक उन्नत कला है। इसमें रूप, रंग एवम् आकार होता है। लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई भी होती है। यह कला वास्तु की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसके साधन अपेक्षाकृत वास्तुकला के अधिक सूक्ष्म हैं। यह कला वास्तु की अपेक्षा उत्कृष्ट मनोभावों को व्यक्त कर सकती है, और व्यक्त करती है। इसमें कलाकार के मनोभाव कल्पना के रंग से विशेष अनुरंजित रहते हैं।

चित्रकला—वास्तु एवम् मूर्ति कला की अपेक्षा चित्रकला अधिक उत्कृष्ट एवम् सूक्ष्म कला है। यद्यपि वास्तु और मूर्तिकला के समान रूप, रंग और आकार इसमें भी होता है, किन्तु इस कला के मान तीन—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई न होकर केवल दो—लम्बाई और चौड़ाई ही होती है। रंग, कूची, लेखनी

इसके साधन हैं। वास्तु एवम् मूर्ति की अपेक्षा चित्रकला मनोभावों को अधिक स्पष्ट करती है।

संगीतकला—प्रथम तीन कलाओं की अपेक्षा संगीतकला अधिक उत्कृष्ट है। इसका आधार नाद अथवा स्वर होता है। इस कला के द्वारा व्यक्त भाव अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट होते हैं। संगीत कला का विशेषज्ञ अपनी कला से श्रोता को रुला भी सकता है और हँसा भी। इसमें पूर्वोक्त कलाओं की भाँति अनेक मान नहीं होते हैं। इसके प्रधान उपकरण स्वर और कर्णेन्द्रिय हैं।

काव्यकला—काव्य का स्थान ललित कलाओं में सर्वोत्कृष्ट है, इसके आधार शब्द और अर्थ हैं। जहाँ संगीतकला में केवल स्वरों का प्रयोग होता है, वहाँ काव्यकला में स्वर और व्यंजन दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। संगीत-विशेषज्ञ एक-दो स्वरों के आरोह और अवरोह के द्वारा श्रोता को भावविभोर कर सकता है, किन्तु यह भावविभोरता की स्थिति स्थायी नहीं होती, जबकि कवि व्यंजनों और स्वरों के प्रयोग तथा उनके अर्थ के द्वारा चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ललित कलाओं में निम्न तत्व सर्वसामान्य होते हैं—(१) **आधार तथा साधन**—जैसे ईंट, पत्थर, लोहा, कूची, कपड़ा, नाद, व्यंजन तथा शब्द। साधनों में छैनी, कूची, कंठ, वाद्य यंत्र, भाषा। (२) **उपकरण**—इन ललित कलाओं के उपकरणों में नेत्र और कर्ण हैं। वास्तु, मूर्ति और चित्र के उपकरण हैं नेत्र तथा संगीत और काव्य कला के उपकरण हैं कर्ण। (३) **सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण**—प्रत्येक कलाकार सौंदर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है।

प्रश्न 5—कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला कौन-सी है और क्यों ?

कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला काव्यकला है क्योंकि जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह कला उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इसी सिद्धान्त के आधार पर काव्यकला को सर्वश्रेष्ठ कला माना जाता है। काव्यकला में मूर्त आधार का पूर्णतः अभाव रहता है, अतः वह श्रेष्ठ कला है और मूर्त आधार सर्वाधिक वास्तुकला में होता है अतः सबसे निम्न कोटि की मानी जाती है। ललित-

कलाओं में जैसे-जैसे मूर्त आधार की मात्रा कम होती जाती है वैसे-वैसे कला श्रेष्ठ होती जाती है। वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य कलाओं के आधार उत्तरोत्तर सूक्ष्म और कम होते जाते हैं अतः काव्यकला सर्वश्रेष्ठ कला है। काव्यकला में मूर्त आधार की आवश्यकता नहीं रहती है। उसकी उत्पत्ति शब्दों या वाक्यों से होती है। शब्द की रमणीयता की अपेक्षा काव्य की रमणीयता अर्थ-सौन्दर्य पर आधारित है; अर्थ की रमणीयता भावों पर निर्भर करती है। भाव अमूर्त होते हैं; अतः काव्यकला में मूर्त आधार का सर्वथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त काव्यकला में संगीत, चित्र और मूर्तिकला की विशेषतायें नादात्मकता, चित्रोपमता, मूर्तिविधान या बिम्वग्रहण आदि भी विद्यमान रहती हैं। इसका क्षेत्र भी व्यापक एवम् विस्तृत है। भूत, भविष्य और वर्तमान का इसमें चित्रण अन्य कलाओं की अपेक्षा अच्छी तरह होता है। इन्हीं सब विशेषताओं को लक्ष्य कर भामह ने कहा था—

"महाकवि की कविता में कोई भी ऐसा शब्द नहीं, जो उसका अंगभूत बनकर उसमें समाविष्ट न हो, कोई भी ऐसा तत्व नहीं जो काव्य में अवर्णनीय हो।" अतः कवि का उत्तरदायित्व महान् है—न स शब्दो न तद्वाच्यम् न स न्यायो न सा कला। जायते यन्नकाव्यांगमहोभारः महान् कवेः। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य में स्थूल उपकरणों का प्रायः अभाव रहता है तथा मानव-जीवन के सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति इसमें सरलता से होती है अतः काव्यकला सर्वश्रेष्ठ कला है।

प्रश्न ६—कला का उद्देश्य क्या है—'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए'? कला-विषयक इन दोनों मतों की समीक्षा कीजिए।

कला के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। भारतीय विद्वान् कला और काव्य के क्षेत्र में भी अन्तर स्वीकार करते हैं। वे काव्य (साहित्य) को व्यापक एवम् उसके अस्तित्व को स्वतन्त्र मानते हैं; जबकि पाश्चात्य मत में काव्य कला के अन्तर्गत आता है। भारतीय विद्वान् कला को वस्तु का रूप सँवारने वाली विशेषता कहते हैं—"कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा" अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत

करती है। कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद है। उसके अनेक प्रयोजनों की परिकल्पना की गई है, जैसे—१. कला कला के अर्थ, २. कला जीवन के लिए, ३. कला जीवन से पलायन के लिए, ४. कला जीवन में प्रवेश के लिए, ५. कला सेवा के अर्थ, ६. कला आत्मानुभूति के लिए, ७. कला आनन्द के लिए, ८. कला विनोद के लिए, ९. कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के लिए आदि कला-विषयक मत विद्यमान हैं। उपर्युक्त मतों के आधार पर हम देखते हैं कि ये विद्वान् कला का प्रधान लक्ष्य आनन्द-विधान मानते हैं। इसके लिए उन्होंने Pleasure delight, joy, happiness आदि शब्दों का प्रयोग किया है। किसी-किसी ने कला का लक्ष्य Supreme happiness माना है तो किसी ने Joy for ever को ही उसकी कसौटी निर्धारित किया है। कोई Pure and elevated pleasure को ही उसका लक्ष्य मानते हैं। अरस्तू ने लिखा है कि The object of poetry as of all the fine arts is to produce an emotional delight a pure and elevated pleasure. भावात्मक, पवित्र एवम् उदात्त आनन्द की सृष्टि काव्य एवं कला का उद्देश्य है; वर्गसाँ का मत भी अरस्तू से मिलता-जुलता है। आशय यह है कि कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में आज भी अनेक मत विद्यमान हैं। किन्तु उपर्युक्त मतों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' मत हैं।

'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांसीसी साहित्य में हुआ था। इसके प्रमुख प्रवर्त्तक आस्कर वाइल्ड नामक विद्वान् माने जाते हैं। 'कला जीवन के लिए' इस सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप अनेक विद्वान् कला को जीवन से निरपेक्ष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। कला में नीति, सदाचार तथा मर्यादावाद को निषेधात्मक माना गया। कलावादियों ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में अनेक तर्क दिये—जिस प्रकार विज्ञान, दर्शन, गणित आदि विद्याएँ सौन्दर्य के मानदण्ड से नहीं नापी जा सकतीं; उसी प्रकार कला को भी सत्य और नीति के बन्धन से बद्ध नहीं किया जा सकता। नीति को वे धर्म का विषय मानते हैं, कला का नहीं। कला का उद्देश्य, उनकी

दृष्टि में, सहृदयों में रस और आनन्द का संचार करना ही है। "निरंकुशाः हि कवयः" वाली उक्ति के अनुसार वे भावनाओं की नग्न रूप में अभिव्यक्ति करने के पक्ष में है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी इस सिद्धान्त का पोषक वनकर अपनी अभिव्यंजना को जीवन से दूर ले जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान क्षेत्र के कुछ वादों ने भी इस मतवाद के पोषण में योगदान दिया है। इनमें फ्रायड का वासनावाद विशेष उल्लेखनीय है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण भारतीय विद्वान् भी इस सिद्धान्त का समर्थन करने लगे हैं। यह है 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास।

कलावाद के समर्थकों के विचारों को देखिए—ब्रैडले महोदय ने लिखा है:—

"कला की प्रवृत्ति वाह्य जगत् से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थित करने की नहीं है। उसका अपना एक स्वतंत्र, पूर्ण और निरपेक्ष जगत् होता है।" ब्रैडले के अनुसार कला स्वयं साध्य है, वे धर्म, संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा इत्यादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं। इनके मत से सौंदर्यजन्य आनन्द ही काव्य-कला का चरम लक्ष्य है। वही काव्य का अतंरग तत्व है। शिक्षा आदि उसके वहिरंग तत्व हैं अतः गौण हैं। ये आन्तरिक तत्व नहीं हैं और कला की कसौटी भी नहीं वन सकते—This experience (Imaginative experience) is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value... its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction, or softens the passions or furthers a good cause; because it brings the poet fame or a quiet conscience. (A. C. Bradley)। आस्कर वाइल्ड ने भी सदाचार की अवहेलना करते हुए कला को लोकहित के लिए वलिदान नहीं किया है।

"समालोचना में सवसे मुख्य वात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। कला के भीतर नैतिक-अनैतिक सद्-असद् का भेद आ ही नहीं सकता।" जे० ई० स्पिन्गार्न ने इसी बात को कुछ हास्योत्पादक रूप में प्रस्तुत किया है, उनका कथन यह है:—

"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूंढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित में समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विवाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" पुनः वे कहते हैं :—

"कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना अन्ध-परम्परा है और हमने उसे समाप्त कर दिया है, कुछ कविता का उद्देश्य शिक्षा मानते हैं, कुछ आनन्दोत्पादन और कुछ आलोचक आनन्द तथा शिक्षा दोनों ही स्वीकार करते हैं। परन्तु कला का एक उद्देश्य है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के उद्देश्य की खोज करना व्यर्थ है।" इस प्रकार स्पिन्गार्न सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं।

आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि टी० एस० इलियट लिखते हैं :—

"शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के विना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसके समकक्ष कुछ और है।" जो विद्वान् कला के सम्बन्ध में यह उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं वे यह विस्मृत कर देते हैं कि जब कला का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है, तब वह नीति, सदाचार, उपयोगिता की अवहेलना नहीं कर सकती। वास्तव में कला का अर्थ वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति है। रवीन्द्र ने 'What is art' में लिखा है—In art man reveals himself. वास्तव में कला में कलाकार जब अपने को अभिव्यक्त करता है उस कला को जीवन से दूर कैसे ले जाया जा सकता है। किन्तु जो विद्वान् कला को एकान्तिक तथा लोकबाह्य मानते हैं उनके विचार से कला एक काल्पनिक जगत् की वस्तु है। वे कला में सत्यं एवं शिवं को महत्व नहीं देते। वे कला का उद्देश्य केवल सौन्दर्य की अभिव्यंजना मानते हैं। बूचर ने लिखा है : Art employs method for the symmetrical formation of beauty, इस मान्यता ने कला को शृंगार की सहचरी और विकृत भावनाओं की अभिव्यक्ति तक सीमित कर दिया है।

हिन्दी साहित्य में भी इस कलावाद का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के यथार्थवादी कवि और लेखक, फ्रायडवादी इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं :—

"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति अथवा शिक्षा का स्थान नहीं है। उसके मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से वज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुपित करना है।" (साहित्य सर्जना)

किन्तु 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का साहित्य-संसार में पर्याप्त विरोध है। अनेक विद्वान् कला का जीवन से सम्बन्ध मानते हुए 'कला जीवन के लिए' इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इन विद्वानों में हैमिल्टन, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, प्रेमचन्द आदि उल्लेखनीय हैं। हैमिल्टन के अनुसार :—

"कलाकार वह है जो अपनी विशेष भावनाओं और अनुभूतियों को अपने आनन्द के लिए और साथ ही साथ सबके हित के लिए रूपाकार प्रदान करता है। उसकी यह कल्पनामिश्रित अनुभूति पूर्णरूप से जनसंवेद्य होती है।"

रस्किन ने भी लिखा है—'कला में सारतत्व यही है कि वह एक आत्मा का दूसरी आत्मा के लिए निवेदन है' : 'All that is good in art is the expression of one soul talking to another.' मैथ्यू आर्नल्ड 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए 'कला जीवन के लिए' है; इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका कहना है यदि किसी काव्य में नैतिकता के प्रति विद्रोह है तो वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है और जो काव्य नैतिक भावनाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण है वह जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है :' 'A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is poetry of indifference towards life.' आगे वे पुन: लिखते हैं कि काव्य अन्ततः जीवन की आलोचना है : Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life. कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व इसी में है कि वह अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन और जीवन-यापन के प्रश्न पर लगाये।

हिन्दी साहित्य के स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य और कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या माना है :—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहां
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ।।

वास्तव में कला का उद्देश्य महान् है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य और कला को जीवन से सम्बद्ध माना है। काव्य जीवन को मंगलमय बनाने का प्रयत्न करता है। भरत, भामह, रुद्रट, विश्वनाथ आदि ने काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में उसका सम्बन्ध जीवन से जोड़ा है। मम्मट के समस्त काव्य-प्रयोजन कवि और पाठक के जीवन से सम्बद्ध हैं।

तुलसी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें श्रेय और प्रेय का समन्वय हो, तथा जो सुरसरिता की तरह लोकमंगलकारी हो :—

कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ।।

महात्मा गाँधी कला को जीवन के उत्कर्ष का साधन मानते हैं—"कला वह है जो जीवन को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाय। कला से जीवन का महत्व है। कला जीवन को वास्तविकता की ओर ले जाती है।"

भारतीय साहित्य में लोकपक्ष की भावनाओं को महत्व दिया गया है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन साहित्य जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध है। ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर आदि संत कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना तथा छूआछूत आदि का विरोध किया है। तुलसी और सूर की रचनाओं में लोकपक्ष का प्राधान्य है। इन दोनों कवियों की कविता ने न जाने कितने व्यक्तियों को ज्ञान का प्रकाश दिया है। रीतिकालीन भूषण, लाल, सूदन आदि की कविता में देशभक्ति और राजभक्ति को महत्व प्राप्त है। हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग का नवाभ्युत्थान तो लोकसंग्रह के भाव को लेकर हुआ है।

भारतेन्दु, हरिऔध, गुप्त जी अनेक कवियों ने राष्ट्रकल्याण की भावना से बहुत कुछ लिखा है।

कला का उद्देश्य महान् है, वह हमें कार्याकार्य का निर्देश कर हमारी ज्ञानराशि को विकसित करती है। कला या काव्य के द्वारा मनुष्य के विचार संस्कृत उन्नत और परिष्कृत होते हैं। कला हमें ऐसी उच्चभावभूमि पर ले जाती है जहाँ हम ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठ जाते हैं। मानवमात्र से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि कला का जीवन से सम्बन्ध है। सच्चा साहित्य जीवन का तिरस्कार नहीं कर सकता है। अनेक युग बीत जाने पर भी बाल्मीकि, कालिदास, कबीर, तुलसी और सूर अमर हैं, क्योंकि उनका-साहित्य शाश्वत साहित्य है, मानव भावनाओं को उसमें मूर्तरूप मिला है, उसमें जीवन के लिए सन्देश है।

श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है। वह आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। कला जीवन की पूर्णता और विकास का सूचक है। यह जीवन की आभा है। आनन्द और सौन्दर्य की प्राप्ति मानवता का ध्येय है और उसको प्रदान करने वाली है कला। कला के द्वारा ही हम शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र का मत है—साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है, वह केवल भाव-भाव का भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं है। अतः कला और जीवन चिर सम्बद्ध हैं।

वास्तव में न तो 'कला कला के लिए' और न ही 'कला जीवन के लिए' यह दोनों सिद्धान्त अपने में पूर्ण हैं। एकाङ्गी रूप में दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण हैं। इन दोनों के समन्वय में कला की पूर्णता और सार्थकता है यदि केवल नैतिकता और लोक हित को कला की कसौटी मान लिया जाय तो वर्ड्सवर्थ, कार्लारिज बायरन, ड्रायडन, वर्जिल, बिहारी आदि कवि और हिन्दी साहित्य का रीतिकालीन साहित्य, छायावादी साहित्य तथा पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिक काव्य को नमस्कार करना होगा। और न ही प्रेम और सौन्दर्य

की एकान्त साधना ही काव्य अथवा कला का लक्ष्य हो सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न तो केवल आनन्द ही काव्य का लक्ष्य है और न केवल नैतिकता ही। उच्च स्तर के काव्यानन्द को न तो सर्वथा नीति निरपेक्ष माना जा सकता है और न काव्योपदेश को आनन्द हीन, अतः दोनों का समन्वय अनिवार्य है। अरस्तू ने ठीक ही लिखा है कि नैतिकता से निरपेक्ष आनन्द की संभावना नहीं, सौन्दर्य का मूल्य केवल नैतिकता नहीं। कला नीति का निरादर नहीं कर सकती है।

प्रश्न ७—साहित्य और काव्य एक है अथवा भिन्न ? स्पष्ट कीजिए।

साहित्य एवं काव्य शब्द आज प्रायः पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु इनके भिन्न स्वरूप को सिद्ध करने वाले अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में चौदह विद्याओं—चार वेद छः वेदांग और चार शास्त्र के अतिरिक्त काव्य को भी महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार चौदह विद्याओं का आधार काव्य है, क्योंकि वह गद्य-पद्यमय होता है, वह कविकर्म और हितोपदेशक भी होता है, अतः शास्त्र उसका अनुसरण करते हैं—सकल विद्या स्थानैकयतनो पञ्च-दशमं काव्यं विद्यास्थानमिति यायावरीयः।' तथा राजशेखर ने साहित्य को: पाँचवीं विद्या कहा है—'पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।" आचार्य कुन्तक ने आह्लादकारी, कविकृत व्यवस्थित शब्दार्थ-रचना को काव्य कहा है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र इति व्यापारशालिनी
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।

और शब्द-अर्थ की अन्यूनातिरेक की मनोहारी स्थिति साहित्य है :—
साहित्यमनयोः ......"अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः"
किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों के मिलने पर भी अन्तर स्पष्ट नहीं है।

हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रणेता आचार्यों ने भी इन दोनों शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है; जैसे—

(१) 'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। (डा० श्यामसुन्दर दास)

(२) साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है, वह सब साहित्य के अन्तर्गत है।
(डा० गुलाबराय)

(३) काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना है। (प्रसाद)

(४) आत्माभिव्यक्ति ही वह मूलतत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। (डा० नगेन्द्र)

उपर्युक्त उदाहरणों (प्रयोगों) से स्पष्ट है कि साहित्य और काव्य में एकता और भेद दोनों ही है। कुछ विद्वान् साहित्य का प्रयोग काव्येतर अर्थ में भी करते हैं। इसी प्रयोग के आधार पर हम इनके स्वरूप को स्पष्ट करेंगे। साहित्य शब्द का प्रयोग चार रूपों में मिलता है—(१) शब्द और अर्थ का सहभाव, (२) हितकारक रचना, (३) ज्ञानराशि का कोश (४) अंग्रेजी के 'लिटरेचर' के पर्याय रूप में।

शब्द और अर्थ का सहभाव—साहित्य शब्द का प्रयोग सहभाव में भी हुआ है। राजशेखर और कुन्तक ने इसी प्रयोग को मान्यता दी है। राजशेखर ने लिखा है—"शब्दार्थयोयथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या" अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव से समन्वित विद्या साहित्य विद्या है। आचार्य कुन्तक के अनुसार—"जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त, परस्पर स्पर्द्धा पूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है।" विश्वकवि रवीन्द्र नाथ के अनुसार—"साहित्य का 'सहित' शब्द मिलन-भाव का सूचक है। वह केवल भाव और भाव का, भाषा और भाषा का, ग्रन्थ तथा ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का,

दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं है।" साहित्य के इस प्रयोग के मूल में साहित्य शब्द की वह व्युत्पत्ति है जिसमें कहा गया है "सहितस्य भावः साहित्यम् वा सहितयोर्भावः साहित्यम्।" इसी व्युत्पत्ति के अनुरूप कालिदास ने भी 'रघुवंश' के मङ्गलाचरण में शब्द और अर्थ का संयोग शिव और पार्वती के अविच्छिन्न सहभाव के समान माना है—

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।'

गोस्वामी तुलसीदास ने भी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भाँति भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया है—"गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।" संस्कृत के काव्यशास्त्री आचार्यों में लगभग सोलह आचार्यों ने शब्द-अर्थ के सहयोग से काव्य को स्वीकार किया है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" (भामह)। वास्तव में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य एवं शाश्वत है—'नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे' तभी साहित्य की सार्थकता है।

हितकारक रचना—साहित्य शब्द का दूसरा अर्थ हित के सहित भी है। यह अर्थ 'धीयते इति हितम्—हितेन सह वर्त्तमानम् (भावे) साहित्यम्' इस व्युत्पत्ति पर आधारित है। हितकारक रचना का नाम साहित्य है। इस रूप में साहित्य शब्द व्यापक अर्थ का द्योतक वाङ्मय बन जाता है, जिसमें इतिहास, काव्यशास्त्र, आदि अनेक विषयों का समावेश हो जाता है। इस व्याख्या के द्वारा काव्य एवं साहित्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है क्योंकि काव्य साहित्य का एक अंग मात्र है। काव्य लोक का मंगल करता है। काव्य के अनेक प्रयोजन हैं, उनका अन्यत्र विस्तार से विवेचन करेंगे; यहाँ इतना जानना ही पर्याप्त है कि काव्य लोकमंगल-विधायक है। वह अनेक रूपों में मानव का हित करता है। इसीलिए कृष्ण ने गीता में कवि की वाणी (वाङ्मय) को तप कहा है :—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

तुलसी ने भी सुरसरि के समान हितकारी कविता एवं उसके रचयिता कवि को आदर दिया है :—

जो कवित्त वुध नहिं आदरहीं । सो श्रम वृथा वालकवि करहीं ।
कीरति भणिति भूत भल सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।

ज्ञान राशि का कोश—साहित्य ज्ञानराशि का कोश है । आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की परिभाषा में लिखा है—'ज्ञानराशि के चिरसंचित कोश का नाम साहित्य है ।' इस रूप में भी साहित्य शब्द का प्रयोग पुरातन है—"तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वं वुद्धिविशेष विषयित्वम् वा साहित्यम्' (शब्दशक्ति-प्रकाशिका)" अथवा "परस्पर सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेव क्रियान्वयित्वं साहित्यम्" (श्राद्ध-विवेक) इस रूप में साहित्य और काव्य पर्यायवाची नहीं है ।

अंग्रेजी के लिटरेचर (Literature) के पर्याय रूप में :—आज हिन्दी में 'साहित्य' शब्द अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द के अर्थ को व्यक्त करने लगा है । सामान्यतया किसी भी प्रकाशित पुस्तक अथवा प्रचारार्थ प्रकाशित पुस्तक अथवा पत्र भी 'साहित्य' कहा जाता है । इसी प्रकार सिनेमा, मेडिसन, आदि सम्बद्ध लिटरेचर भी सिनेमा साहित्य आदि कहलाता है । इसी प्रकार अंगरेजी के Moment literature तथा Day literature की भांति हिन्दी में भी क्षणिक साहित्य, स्थायी साहित्य आदि नाम चल निकले हैं । इस रूप में साहित्य शब्द व्यापक अर्थ का वोधक है । यह संस्कृत के वाङ्मय अर्थ को व्यक्त करता है । राजशेखर ने वाङ्मय के दो भेद—शास्त्र और काव्य माने हैं । उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य में भी—Non-creative literature तथा Creative literature उसी अर्थ में मिलते हैं । वास्तव में साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण वाङ्मय का परिचायक है । किन्तु जब साहित्य शब्द काव्य के लिये प्रयुक्त होता है तब वह एकाकी आता है अन्यथा उसका प्रयोग अंग्रेजी साहित्य, वैदिक साहित्य, पाली साहित्य आदि के रूप में होता है ।

आचार्य शुक्ल ने 'साहित्य' नामक लेख में यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि वे साहित्य से क्या समझते हैं । वे साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों को ग्रहण करते हैं—गद्य, पद्य,नाटक, चम्पू, उपन्यास तथा साहित्य सम्बन्धी समालोचनाएं । शेष उन्हें साहित्य नाम से स्वीकार नहीं हैं ।

काव्य एवं साहित्य का भेद स्पष्ट करने के लिये दो कसौटियाँ हैं, जिन पर परीक्षा करने से निर्णय किया जा सकता है कि वह साहित्य है या नहीं : १. जो सुप्त भावों को जागृत कर सके या २. जिसमें चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो। उपर्युक्त दोनों बातें साहित्य की परिभाषा स्पष्ट कर देती हैं, जिसमें या तो भावों की प्रेषणीयता हो या भाषा का कलात्मक चमत्कार हो। इस प्रथम कसौटी के आधार पर गणित, विज्ञान, धर्म शास्त्र, राजनीति, दर्शन, तर्क, कानून, इतिहास मीमांसा आदि भी साहित्य सिद्ध होते हैं। क्योंकि इनमें न्यूनाधिक रूप में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् का अस्तित्व रहता है तथा विचारों की प्रेषणीयता भी रहती है। गणित, दर्शन आदि की पुस्तकों में प्रेषणीयता होती है, उसका आनन्द गणितज्ञ तथा दार्शनिक लेते हैं। अतः ये भी साहित्य के अन्दर स्थान पाते हैं, यह बात दूसरी है कि काव्य में प्रेषणीयता अधिक होती है। साहित्य की दूसरी कसौटी चमत्कार पूर्ण अनुरंजन—इसके आधार पर अनेक विषय साहित्य की सीमा से बाहर हो जाते हैं और आचार्य शुक्ल के द्वारा निर्धारित विषय ही साहित्य के अन्दर आते हैं।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डी क्वेन्सी ने भी लिखा है कि साहित्य दो प्रकार का होता है—

(1) Literature of power शक्ति का साहित्य ।
(2) Literature of knowledge ज्ञान का साहित्य ।

शक्ति का साहित्य मनुष्य के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उद्दीप्त करता है और आनन्द की सृष्टि करता है। ज्ञान का साहित्य मनुष्य का ज्ञानवर्द्धन करता है (हिन्दी में जिसे हम काव्य-साहित्य कहते हैं वही शक्ति का साहित्य है, अन्य ज्ञान का साहित्य।

आलोचकप्रवर श्यामसुन्दर काव्य ने दास और साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है "काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक-आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और काव्य शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु

यह ठीक नहीं है क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता हो। यह एकमात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकायें आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रन्थ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।" डा० श्यामसुन्दरदास साहित्य और काव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"काव्यों के समुच्चय या संग्रह को साहित्य कहेंगे अथवा भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि संग्रह ही साहित्य है।"

निष्कर्ष यह है कि 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण भाव-जगत् को व्यक्त करता है। समस्त वाङ्मय इस शब्द से अभिहित किया जाता है और यही शब्द संकुचित अर्थ में हिन्दी साहित्य, संस्कृत साहित्य, नाटक साहित्य, प्रचार साहित्य आदि अर्थों का भी बोधक है। दूसरी ओर 'काव्य' शब्द व्यापक अर्थ में रागात्मक साहित्य के लिए प्रयुक्त होता है तथा कभी-कभी वाङ्मय के अर्थ का भी बोधक हो जाता है। किन्तु संकुचित अर्थ में कविता के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत साहित्य में काव्य शब्द से नाटक, चम्पू, गीति-महाकाव्य आदि का ही बोध होता है। काव्य कवि का कर्म है जब कि साहित्य सम्पूर्ण वाङ्मय जिसमें मानस के विविध व्यापार, ज्ञान, भक्ति और कर्म युगपत् विद्यमान रहते हैं, जिसमें गणित, विज्ञान, दर्शन, तर्क, कानून, इतिहास भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हैं क्योंकि इनमें प्रेषणीय तत्व रहता है।

प्रश्न ८ : प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-लक्षणों की समीक्षा करते हुए अपना अभिमत व्यक्त कीजिए।

A flower or sunset is able to see; able to enjoy, but not able to express...So is the poetry able to enjoy not to express. (Hardayal) क्योंकि काव्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है, जितना व्यापक है, उतना ही सूक्ष्म भी। अतः इसे लक्षण की परिधि में बद्ध करना

कठिन है। आदि-काल से काव्य को लक्षणबद्ध करने के प्रयत्न होते रहे हैं, किन्तु उसका विकसनशील रूप लक्षण एवम् परिभाषाओं की सीमा-रेखा से निरन्तर दूर दीख पड़ता है। काव्य की व्यापकता का प्रमाण यही है कि उसकी सत्ता सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। विश्व अनेक रूपात्मक एवम् अनेक भावात्मक है। मानवीय भावों का पर्यालोचन एवम् साधारणीकरण काव्य के माध्यम से होता है। 'भावभेद रसभेद अपारा' का गायक काव्य लक्षण की सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि काव्य आत्मा की अनुभूति का व्यक्त रूप है। वह हृदय से निकलता है और सहृदय भावुक ही उसके रस, आनन्द, महत्व एवम् स्वरूप को हृदयंगम कर सकता है। वास्तव में काव्य हृदय की चीज है अतः सूक्ष्म है, वह ब्रह्म के समान वाणीगम्य न होकर अन्तः करणगम्य है :—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

चिरनूतन-चिरपुरातन कविता-कामिनी के सौन्दर्य के विषय में विहारी की यह मान्यता सर्वांश में सत्य है :—

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

इस कविता-कामिनी के सौन्दर्य का अंकन करने के लिए न जाने कितने कवि-चित्रकारों ने प्रयास किया, किन्तु कविता-कामिनी प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान अपने सौन्दर्य के कारण किसी भी उपासक के द्वारा अपने वास्तविक रूप का अंकन न करा सकी। कविता का स्वरूप तो प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान सौन्दर्य के समान है जो—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतिः' तथा उसे हम जितना निकट से देखते हैं, उसका सौन्दर्य उतना ही बढ़ता है :—

ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे ह्वै नैननि।
त्यों-त्यों खरी निकसै री निकाई॥

काव्य सार्वदेशिक एवम् सार्वकालिक वस्तु है, इसलिए विश्व साहित्य में काव्य, की आत्मा एवम् काव्यलक्षण आदि पर पूर्णतः विचार किया गया है, पर उनमें

से कोई भी हमारे हृदय को यथोचित परितोष दिलाने में समर्थ नहीं है; जैसा कि महादेवी वर्मा ने लिखा है :—

"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी, जिसमें तर्क-वितर्क की संभावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा गया वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान।"

किन्तु हम प्राच्य-पाश्चात्य और प्राचीन-अर्वाचीन सभी विचारकों के द्वारा निर्धारित काव्य-लक्षणों पर आलोचनात्मक विचार करेंगे।

भरतमुनि काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"सरस, मधुर एवम् स्पष्ट ललित पदावली से समन्वित, नृत्य में प्रयोग करने योग्य, सन्धि-सन्ध्यंगों से युक्त नाटक (काव्य) को उत्तम मानना चाहिए।" किन्तु भरत का न तो यह काव्य-लक्षण है, न लक्षण बनने के योग्य ही है। यह तो केवल नाटक के स्वरूप की व्याख्या है।

काव्य का प्राचीनतम लक्षण अग्निपुराणकार का है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्॥

संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें दोषरहित, गुणसहित, अलंकृत वाक्य हों। इस परिभाषा में पाँच बातें हैं—इष्टार्थ, संक्षिप्त वाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इस काव्य के लक्षण में काव्य की बाह्य रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य रमणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति काव्य में आवश्यक होती है, पर इसके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं थी। इष्ट अर्थ तो सभी कवि व्यक्त करते हैं, यदि इसका अर्थ समाज और श्रोता की दृष्टि से इष्टार्थ है तब भी यह अस्पष्ट है। अलंकार सौन्दर्यपक्ष का विधायक है। गुण से युक्त होना काव्यगुणों की स्थिति का संकेत करता है। दोष से रहित होना उत्तम काव्य का

कठिन है। आदि-काल से काव्य को लक्षणबद्ध करने के प्रयत्न होते रहे हैं, किन्तु उसका विकसनशील रूप लक्षण एवम् परिभाषाओं की सीमा-रेखा से निरन्तर दूर दीख पड़ता है। काव्य की व्यापकता का प्रमाण यही है कि उसकी सत्ता सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। विश्व अनेक रूपात्मक एवम् अनेक भावात्मक है। मानवीय भावों का पर्यालोचन एवम् साधारणीकरण काव्य के माध्यम से होता है। **'भावभेद रसभेद अपारा'** का गायक काव्य लक्षण की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि काव्य आत्मा की अनुभूति का व्यक्त रूप है। वह हृदय से निकलता है और सहृदय भावुक ही उसके रस, आनन्द, महत्व एवम् स्वरूप को हृदयंगम कर सकता है। वास्तव में काव्य हृदय की चीज है अतः सूक्ष्म है, वह ब्रह्म के समान वाणीगम्य न होकर अन्तःकरणगम्य है :—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

चिरनूतन-चिरपुरातन कविता-कामिनी के सौन्दर्य के विषय में बिहारी की यह मान्यता सर्वांश में सत्य है :—

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

इस कविता-कामिनी के सौन्दर्य का अंकन करने के लिए न जाने कितने कवि-चित्रकारों ने प्रयास किया, किन्तु कविता-कामिनी प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान अपने सौन्दर्य के कारण किसी भी उपासक के द्वारा अपने वास्तविक रूप का अंकन न करा सकी। कविता का स्वरूप तो प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान सौन्दर्य के समान है जो—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतिः' तथा उसे हम जितना निकट से देखते हैं, उसका सौन्दर्य उतना ही बढ़ता है :—

ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे ह्वै नैननि।
त्यों-त्यों खरी निकसै री निकाई॥

काव्य सार्वदेशिक एवम् सार्वकालिक वस्तु है, इसलिए विश्व साहित्य में काव्य, की आत्मा एवम् काव्यलक्षण आदि पर पूर्णतः विचार किया गया है, पर उनमें

से कोई भी हमारे हृदय को यथोचित परितोष दिलाने में समर्थ नहीं है; जैसा कि महादेवी वर्मा ने लिखा है :—

"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी, जिसमें तर्क-वितर्क की संभावना न रही हो। धुँधले अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा गया वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान।"

किन्तु हम प्राच्य-पाश्चात्य और प्राचीन-अर्वाचीन सभी विचारकों के द्वारा निर्धारित काव्य-लक्षणों पर आलोचनात्मक विचार करेंगे।

भरतमुनि काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"सरस, मधुर एवम् स्पष्ट ललित पदावली से समन्वित, नृत्य में प्रयोग करने योग्य, सन्धि-सन्ध्यंगों से युक्त नाटक (काव्य) को उत्तम मानना चाहिए।" किन्तु भरत का न तो यह काव्य-लक्षण है, न लक्षण बनने के योग्य ही है। यह तो केवल नाटक के स्वरूप की व्याख्या है।

काव्य का प्राचीनतम लक्षण अग्निपुराणकार का है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्॥

संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें दोषरहित, गुणसहित, अलंकृत वाक्य हों। इस परिभाषा में पाँच बातें हैं—इष्टार्थ, संक्षिप्त वाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इस काव्य के लक्षण में काव्य की बाह्य रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य रमणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति काव्य में आवश्यक होती है, पर इसके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं थी। इष्ट अर्थ तो सभी कवि व्यक्त करते हैं, यदि इसका अर्थ समाज और श्रोता की दृष्टि से इष्टार्थ है तब भी यह अस्पष्ट है। अलंकार सौन्दर्यपक्ष का विधायक है। गुण से युक्त होना काव्यगुणों की स्थिति का संकेत करता है। दोष से रहित होना उत्तम काव्य का

लक्षण है। इस परिभाषा के द्वारा काव्य को वाह्य सीमाओं में बाँधने का सफल प्रयास किया गया है किन्तु उसका मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

अग्निपुराणकार के बाद भामह की परिभाषा मिलती है वे 'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्' शब्द और अर्थ का संयोग काव्य मानते हैं। यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्त्तालाप आदि सभी आ जाते हैं। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। यह भी काव्य के अत्यन्त व्यापक एवं वाह्य स्वरूप का ही स्पष्टीकरण है।

आगे के आचार्यों ने इस वाह्य स्वरूप का निरूपण करने वाले लक्षणों का खण्डन कर काव्य की अन्तर्भूत विशेषता या आत्मा की खोज करने का प्रयास किया। दण्डी ने कहा—"शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली तो शरीर मात्र है। यही मान्यता ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की थी—'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्' काव्य तो शब्दार्थ-शरीर वाला है। इसकी आत्मा या वास्तविक तत्व कुछ और ही है। काव्य का व्यावर्त्तक तत्व जो वस्तु हो, वही काव्य की आत्मा है। इसी व्यावर्त्तक तत्व के पर्यालोचन के लिए भारतीय मनीषा के चिन्तन ने—अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुमिति, रस नामक तत्वों का अनुशीलन किया और इन तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले काव्य-सम्प्रदायों का विकास हुआ।

किन्तु काव्य की आत्मा के माध्यम से भी काव्य का लक्षण बताना कठिन है, क्योंकि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त वैषम्य मिलता है। फिर भी आत्मा के आधार पर काव्य-लक्षण लिखने का प्रयास हुआ है। प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने सम्प्रदाय के आधार पर वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति, औचित्य आदि परक काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये हैं। किन्तु परवर्ती संस्कृत के आचार्यों में भोजराज, न्यायवागीश, वाग्भट्ट, विद्याधर, अच्युतराय, धर्मसूरि आदि आचार्यों ने काव्य को निर्दुष्ट, गुणान्वित, अलंकृत एवं रसात्मक स्वीकार किया है। प्रायः ये सभी आचार्य समन्वयवादी हैं।

आचार्य मम्मट ने पूर्व परम्परा से प्राप्त काव्य-तत्वों के सार को लेकर अपना यह काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है :

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

प्रस्तुत लक्षण में काव्य को निर्दुष्ट, गुण युक्त और कभी-कभी अलंकार रहित शब्दार्थ कहा गया है। इस लक्षण में सभी अवश्यक काव्य तत्वों का समाहार है। अपेक्षित सन्तुलन और महत्व का भी प्रतिपादन है। प्रस्तुत लक्षण की विशेषताएँ निषेधात्मक ही हैं, किन्तु मम्मट के काव्य लक्षण पर विश्वनाथ, जयदेव एवं पण्डितराज ने अनेक आक्षेप किये हैं :—

(१) काव्य सर्वथा निर्दुष्ट नहीं बन सकता है, (२) सगुणौ पद शब्दार्थौं का विशेषण नहीं होना चाहिए। (३) अलंकाररहित काव्य होता ही नहीं है, (४) काव्य शब्दार्थनिष्ठ न हो कर केवल शब्दनिष्ठ है।

किन्तु ये सभी आक्षेप केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए हैं, अथवा आलोचकों ने भ्रमवश किये हैं। प्रायः सभी आक्षेपों का समुचित निराकरण परवर्ती आचार्यों ने किया है। 'रसगंगाधर' के व्याख्याकार नागेशभट्ट ने पण्डितराज द्वारा उठाई गई आशंकाओं को 'नोचिताः' कहकर अस्वीकार कर दिया है। अतः आक्षेपों के होते हुए भी प्रस्तुत मम्मट का लक्षण व्यावहारिकता की दृष्टि से सर्वोत्तम है। मम्मट की इस परिभाषा में यह भी स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का महत्त्व है, किन्तु कभी-कभी गुणोत्कृष्टता के कारण उनके बिना भी काम चल सकता है।. नारी का सौन्दर्य उसकी वर्णाकृति पर निर्भर होता है किन्तु वस्त्राभूषण से उसकी शोभा बढ़ जाती है। वस्त्राभूषण के बिना भी सुन्दरी सुन्दरी ही कहलायेगी, उसको असुन्दर नहीं कहा जा सकता, तथापि उसके लिए वस्त्रभूषणों की शोभा अपेक्षित है। इसी प्रकार काव्य दोषाभाव तथा गुणों के अस्तित्व पर निर्भर है, तथा उसे अलंकारों की भी अपेक्षा है। यदि 'अदोषौ अभावात्मक और 'सदोषौ' भावात्मक व्यावर्तक (Differentia) है तो 'अनलंकृतिः पुनः क्वापि' विशेष धर्म (Property) है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्य-लक्षण काव्य के सभी भारतीय प्राचीन काव्य लक्षणों में सर्वश्रेष्ठ है। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने इस परिभाषा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने आचार्य शुद्धोदनि के काव्य लक्षण 'काव्य' रसादि मद्वद् वाक्यम्' के आधार पर अपना 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

रसात्मक वाक्य ही काव्य है यह लक्षण प्रस्तुत किया है । इस लक्षण के अनुसार विश्व नाथ ने काव्य में रस की प्रतिष्ठा की है । यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन और शुद्धोदनि आदि अपने ग्रन्थों में रस की यथास्थान चर्चा कर चुके थे, किन्तु इतने समारम्भ से काव्य लक्षण में रस की प्रतिष्ठा किसी ने नहीं की थी ।

काव्य-लक्षण की दृष्टि से यह लक्षण संतुलित एवं संक्षिप्त है । किन्तु प्रश्न यह है कि 'क्या विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह रस जिस काव्य में हो वही काव्य है ? इस स्थिति में रस की काव्य में अनिवार्य सत्ता सिद्ध है । किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से जिस काव्य में रस सम्पादन हुआ हो, उसे काव्य कहेंगे तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायेगा—विहारी, केशव की भी अनेक पंक्तियाँ काव्य के क्षेत्र से हटानी पड़ेंगी और उक्ति वैचित्र्य तथा अलंकार काव्य नहीं रहेंगे । और यदि हम रस का अर्थ सरसता माधुर्य्य आदि से लेते हैं, तब जिसमें मन को रमाने वाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रस ले सके, वह काव्य है; ऐसी दशा में इस सरसता का संपादन अनेक वातों से हो सकता है—अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, भाव, वस्तु--वर्णन आदि से । इस संसार की सभी वस्तुएँ विभाव अनुभाव और व्यभिचार भाव से निष्पन्न 'रस' हो सकती हैं, फिर तो दुनिया के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायँगे । अतः पण्डितराज जगन्नाथ के मत से विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य को काव्य लक्षण कहना अनुपयुक्त है किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने विश्वनाथ के लक्षण को अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और महत्वपूर्ण स्वीकार किया है । डा० गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन में लिखा है कि दण्डी, मम्मट आदि ने पत्ते और शाखाओं को सींचने की और तुलसीदास के शब्दों में 'बरी बरी में लोन' देने की कोशिश की है, वहाँ विश्वनाथ ने जड़ को सींचा है । गुण, अलंकार, आदि सभी रस के पोषक हैं । 'वाक्य' शब्द में शब्द के साथ अर्थ भी शामिल हो जाता है क्योंकि सार्थक शब्द ही वाक्य वन जाता है । इसके 'रसात्मक' शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष आ गया और 'वाक्य' शब्द में अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा कला पक्ष आ गया ।

इस लक्षण में केवल यह दोष है कि शब्द व्याख्या सापेक्ष है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लिखी है। यह परिभाषा विश्वनाथ की सरसता का और भी विकसित स्वरूप व्यक्त करती है। काव्यलक्षण को रमणीयता के आधार पर अधिष्ठित करके रस, अलंकार और रीति आदि का झगड़ा ही यहाँ मिटा दिया गया है। यहाँ पर रमणीयता, सौन्दर्य और तज्जनित आह्लाद ही काव्य के प्राण हैं, यह सिद्ध किया गया है। रस तो काव्य का प्रधान तत्व है ही, पर अलंकार, गुण आदि का अस्तित्व भी इसी आह्लाद के लिए ही है। 'रमणीयता' के समावेश से यह लक्षण अधिक व्यापक हो गया है क्योंकि अभिव्यंजना अलंकार शास्त्र की मान्य शैलियों तक सीमित नहीं रह सकती है। 'रमणीयता' द्वारा कवि-प्रतिभा स्वच्छन्द वातावरण में विकसित होती है। वस्तुतः काव्य का मानदण्ड तो वही लोकोत्तर आनन्द है जिसे पण्डितराज 'रमणीयता' के नाम से अभिहित करते हैं। 'रमणीयता' से जगन्नाथ का तात्पर्य वही है, जिसे दण्डी ने 'इष्टार्थ', वामन ने सौन्दर्य,' आनन्दवर्धन एवं कुन्तक ने लोकोत्तर-आह्लाद तथा अन्यों ने 'चमत्कार' कहा है। पण्डितराज ने स्वयं रमणीयता का तात्पर्य लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की गोचरता' लिया है, उनके शब्द हैं—'रमणीयता' च लोकोत्तराह्लाद जनकज्ञान-गोचरता।' इस प्रकार पण्डितराज का काव्य-लक्षण अधिक विशद, अधिक गम्भीर एवं समीचीन तथा व्यापक है डॉ० सत्यदेव चौधरी के विचार से 'संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्य-लक्षण सर्वोत्कृष्ट है।"

संस्कृत के आचार्यों के समान ही पाश्चात्य आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण निर्धारित करने के प्रयास किये हैं जो कि उनके अपने-अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं अनुभूतियों के सूचक हैं। पश्चिमी काव्यशास्त्र का सूत्रपात प्लेटो और अरस्तू से होता है। इन दोनों ने कविता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तू के अनुसार, भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण ही काव्य है। यह परिभाषा स्पष्ट ही अपूर्ण है क्योंकि प्रकृति अथवा स्वभाव का अनुकरण नाट्य हो सकता है, काव्य नहीं (अवस्थानुकृतिर्नाटचम्)। कल्पना को

प्रधानता देने वाले **शेक्सपीयर** कहते हैं—कविता वायवीनगण्य अस्तित्वशून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और धाम प्रदान करती है : 'poety gives to airy nothing a local habitation and a name.' किन्तु काव्य का अन्तिम लक्ष्य कल्पना ही नहीं है, उसमें अन्य तत्व भी महत्वपूर्ण स्थान पाते हैं। वर्ड्सवर्थ ने भाव को प्रधानता देते हुए काव्य को शान्ति के समय में स्मरण किये गये प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह माना है—"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from recollected in tranquillity." यह परिभाषा अवश्य ही महत्वपूर्ण है। किन्तु शान्ति के क्षणों में हम अपने मनोवेगों को स्मरण करते हैं और अपने प्रबल भावों को प्रकट करते हैं, क्या यह सब काव्य हो जाता है ? अपने सुख और दुःख के समय सभी हँसते और रोते हैं, क्या वही काव्य है ? यहाँ पर कला और उसके प्रभाव का उल्लेख नहीं है। परन्तु इस में संदेह नहीं, कि प्रतिभा और अभिव्यक्ति-कौशल से युक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया यहाँ पर अवश्य स्पष्ट हुई है।

मिल्टन कविता को सादा, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक कहते हैं—"Poetry should be simple, sensuous and passionate." यह किसी अच्छे काव्य-लक्षण की स्थापना नहीं है। इसमें कलापक्ष की उपेक्षा की गई है। कॉलरिज अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए कविता को उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान मानते हैं—"Poetry the best words in the best order." इस लक्षण के आधार पर प्रश्न यह है कि उत्तमोत्तम शब्द कौन-से हैं और उनका उत्तमोत्तम क्रम कौन-सा है ? अतः यह लक्षण भी पूर्ण नहीं है। **शेली** विषादमय क्षणों की अभिव्यक्ति काव्य मानता है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." **कार्लाइल** की दृष्टि में काव्य संगीतमय विचार है—"Poetry we will call musical thought." **मैथ्यू आर्नल्ड** ने कविता को मूलतः जीवन की आलोचना कहा है—"Poetry is at bottom a criticism of life." यह लक्षण महत्वपूर्ण होते हुए भी लेखक की निजी मान्यता का सूचक है। इसमें उत्तम काव्य की विशेषता यद्यपि स्पष्ट है फिर भी इसे विशिष्ट लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीवन की समीक्षा

साहित्य के और रूपों में भी हो सकती है, केवल कविता में ही नहीं । आचार्य जॉनसन की दृष्टि में कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है"Poetry is the art of unity pleasure with truth by calling imagination to the help of reason." इस परिभाषा में जॉनसन ने काव्य का प्रधान स्वरूप स्पष्ट किया है । सत्य के प्रकाशन में आनन्द का समावेश, रमणीयता और रोचकता का संकेत करता है और कल्पना का तो इस कार्य में हाथ रहता ही है । यह परिभाषा काव्य के कल्पना-पक्ष पर विशेष आग्रह करती है, जब कि इसमें शैली-तत्व की उपेक्षा है ।

हडसन के अनुसार काव्य जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोयोग तीनों का ही योग है--"Poetry is interpretation of life, thought, imagination and emotion." अन्य परिभाषाओं को देखते हुए यह परिभाषा अधिक पूर्ण है, किन्तु कलापक्ष का स्पष्ट उल्लेख न होकर कल्पना-तत्व में ही उसे समाहित कर लिया गया है ।

एवर क्राम्बि ने काव्य की जो परिभाषा दी है, वह अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित और आदर्श है । उनके अनुसार, काव्य भाषा के माध्यम से प्रेषणीय अनुभूति है अर्थात् काव्य एक अनुभूति है और वह अनुभूति प्रेषणीय भी है । हँसना, रोना भी अनुभूतियाँ हैं और प्रेषणीय भी हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, शाब्दिक नहीं । अतः ये काव्य नहीं हैं । इसी प्रकार रेलवे की समय-सारिणी में प्रेषणीयता तो है, क्योंकि सारिणी का निर्माता अपने विचारों को अपने पाठकों तक पहुँचा देता है, पर वे विचार कोरे विचार हैं, अनुभूति नहीं । अतएव इस सारिणी को काव्य नहीं कहा जा सकता । काव्य में इस प्रकार का चित्रण नहीं होता, जैसा कि फोटो-कैमरे में होता है । कवि वस्तु-वर्णन की अपेक्षा उससे उत्पन्न भाव और प्रभाव का वर्णन करता है । अतः काव्य अनुभूति की शाब्दिक अभिव्यक्ति है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं में कहीं भावपक्ष, कहीं कलापक्ष, तो कहीं जीवन की व्याख्या को महत्व दिया गया है, तो अन्यत्र तीनों के समन्वित रूप को ।

हिन्दी के आचार्यों ने भी काव्य-लक्षण निर्धारित करने के प्रयास किये हैं। महाकवि तुलसी ने उसी काव्य को उत्तम माना है जो हितकारी हो--

कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

तुलसी का काव्य समन्वय की एक विराट् सफल चेष्टा है, जिसमें जीवनादर्शों एवं नैतिकता के उच्चतम मानदण्डों की स्थापना हुई है। उसी की झलक इन पंक्तियों में भी मिलती है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। यहाँ तक कि अधिकांश ने संस्कृत के काव्य-लक्षणों का ही शब्दानुवाद किया है। चिन्तामणि ने मम्मट एवं हेमचन्द्र के आधार पर अपनी परिभाषा बनाई है। हिन्दी के रीतिकालीन समस्त आचार्यों की लगभग यही स्थिति है। ठाकुर कवि ने लिखा है "पण्डित और प्रवीनन को जोऊ चित्त हरे सो कवित्त कहावे"। इस प्रकार ठाकुर काव्य का लक्ष्य मनोरंजन मानते हैं, जोकि सर्वथा एकाङ्गी विचार है। आचार्य केशव कलापक्ष की प्रधानता स्वीकार करते हैं; उनका काव्य-पाण्डित्य प्रदर्शन का भाण्डार है। स्वयं उनका कथन है--"रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द"। केशव काव्य की आत्मा अलंकार को मानते हैं— "भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त।" केशव ने काव्य-दोष के सम्बन्ध में लिखा है—

राजत रंच न दोष युत कविता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगा घट अपबित्त॥

कुलपति का काव्य लक्षण यह है—

जग ते अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥

उपर्युक्त विचार काव्य-लक्षण की कसौटी के अनुरूप नहीं हैं।

हिन्दी के आधुनिक विद्वानों की परिभाषाएँ प्रायः पाश्चात्य लक्षणों पर आधारित हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ओर जहाँ अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम काव्य मानते, तो दूसरी ओर मिल्टन के प्रभाव से

प्रभावित होकर कहते हैं कि 'कविता सरल, प्रत्यक्षमूलक और रचनात्मक होनी चाहिए ।' किन्तु वे कविता में असलियत पर जोर देते हैं—'सादगी, असलियत और जोश यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या !' द्विवेदी जी की ये सभी मान्यताएँ काव्य के कलापक्ष का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं ।

आचार्य शुक्ल रसवादी हैं, वे सत्य की अवहेलना नहीं कर सके तथा आचार्य विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' परिभाषा को संकुचित 'रसात्मकं' के आवरण से निकाल कर व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हैं—"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है ।" एक दूसरे स्थल पर पुनः वे लिखते हैं—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ।" वास्तव में काव्य का चरम लक्ष्य हृदय की मुक्ति ही है । वही हमें ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठाकर चित्त के विक्षेप से दूर ले जाकर, काव्यानन्द का आस्वाद कराती है । आचार्य शुक्ल भावजगत् और वाह्य जगत् दोनों का सामंजस्य चाहते हैं । वे न तो कोरे चमत्कार के पक्ष में हैं और न ही मनोरंजन के । यही नहीं, वे काव्य को लोकहित से भी संवद्ध करना चाहते हैं । इसी लोकहितवादी भावना के कारण वे तुलसी को हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं, किन्तु शुक्ल जी की ये दोनों ही परिभाषाएँ विस्तृत हैं तथा उनकी कविता-विषयक समस्त मान्यताओं को भी स्पष्ट नहीं करती हैं, इन्हें काव्य-लक्षण न कह कर काव्य के स्वरूप की व्याख्या कहें तो अधिक अच्छा होगा ।

प्रसाद काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहते हैं—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है ।" प्रस्तुत परिभाषा में सत्य, सौंदर्य और श्रेय के समन्वय पर वल दिया गया है । प्रसाद

जी रसवादी हैं अतः आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में भाव-पक्ष निहित है। किन्तु इसमें अभिव्यक्ति-पक्ष का उल्लेख नहीं है। अस्पष्टता भी है। काव्य को ज्ञान की धारा कहना भी अनुपयुक्त है। तथापि प्रसाद जी की परिभाषा मौलिक है, उनके चिन्तन की सूचक है। यह परिभाषा उपनिषद् के 'अयं आत्मा वाङ्मयः' एवं भवभूति के 'अमृतात्मनः कलाम्' तथा ऋग्वेदीय "मैं अपने कवित्व को वादलों में फूटकर वाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ।" कथन के निकटतम है।

प्रेमचन्द काव्य को जीवन की आलोचना कहते हैं। पंत वाल्मीकि शैली की भाँति विषादमय क्षणों की अभिव्यक्ति काव्य मानते हैं—

वियोगी होगी पहला कवि
आह से निकला होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान॥

पंत ने दूसरी जगह "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।" कहा है। यह परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि मानव के परिपूर्ण क्षण किन्हें कहा जाय। प्रत्येक व्यक्ति का एक न एक क्षण परिपूर्ण होता ही है, फिर तो उसकी वाणी भी कविता होगी। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति कवि होगा। अतः यह मान्यता भी सर्वमान्य नहीं हो सकती है।

बाबू गुलाबराय जी का लक्षण महत्वपूर्ण एवं सन्तुलित है—"काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का इस सम्बन्ध में अभिमत है—"काव्य तो प्रकृत-मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदना उत्पन्न करता है।" निस्संदेह वाजपेयी जी ने काव्य के स्वरूप को व्यक्त करने में सफलता पाई है।

डा० नगेन्द्र ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र का अध्ययन कर काव्य-

लक्षण के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य परिभाषाओं का अध्ययन कर हम कह सकते हैं कि यूरोप में काव्य को जहाँ जीवन की अनुकृति आलोचना, भावस्मरण, कल्पना आदि कहा गया है वहाँ कहने वाले की दृष्टि कवि केन्द्रित रही है—इसके विपरीत हमारे यहाँ जब उसे रसात्मक वाक्य; रमणीयार्थप्रतिपादक आदि कहा गया है, तब कहने वाले का ध्यान सहृदय की ओर ही रहा है। जैसा कि मम्मट की काव्य परिभाषा एवं काव्य के प्रयोजन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्तिगत रहा है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व-साहित्य में विभिन्न कालों में काव्य के लक्षणों का निर्माण हुआ है और हो रहा है फिर भी इस सम्बन्ध में यही कहना अधिक उचित एवं उपयुक्त होगा कि कविता-कामिनी का पूर्ण विशुद्ध सर्वसम्मत लक्षण आज तक नहीं लिखा जा सका है और न ऐसी सम्भावना ही है क्योंकि 'भाव भेद रस भेद अपारा' का गायक काव्य एक संक्षिप्त परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है, ऐसा सम्भव भी नहीं है क्योंकि वह तो आत्मानुभूति का व्यक्त रूप है, अतः

"न शक्यते वर्णयितुं गिरा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।" कहना ही उपयुक्त है।

1974

प्रश्न ६—प्राच्य एवं पाश्चात्य मतानुसार काव्य के प्रयोजनों पर विचार कीजिए।

आधुनिक शब्दावली में काव्य प्रयोजन का अभिप्राय काव्य रचना की आन्तरिक प्रेरणा एवं हेतु है किन्तु स्पष्ट रूप से इनका प्रयोजन ही है। संस्कृत-साहित्य में किसी विषय के अध्ययन के चार क्रम बतलाये गए हैं—(१) प्रयोजन, (२) अधिकारी, (३) सम्बन्ध और (४) विषय-वस्तु। इन्हें अनुबन्ध चतुष्टय भी कहा जाता है। इस अनुबन्ध-चतुष्टय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रयोजन ही है। इसीलिए संस्कृत काव्य शास्त्रियों का सिद्धान्त है—"यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।" एक बात यह भी है कि संसार के किसी व्यक्ति की कार्याकार्य में प्रवृत्ति कारण-विशेष से होती है क्योंकि मूर्ख व्यक्ति

भी निष्प्रयोजन किसी कार्य को नहीं करते हैं—"प्रयोजनमनुद्दिश्यमन्दोऽपि न प्रवर्तते

भारतीय साहित्य में काव्य हेतु एवं प्रयोजनों पर विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचार धारा में काव्य के प्रयोजनों पर विचार करते हुए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अवहेलना नहीं की गई है, अतः धर्म, अर्थ, और शिक्षा आदि भी काव्य के प्रयोजन निर्धारित किये गये हैं।

भरत—आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मनाट्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, उस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य केवल मनोरंजन का ही विधान नहीं करता, वरन उसमें धर्मिक, नैतिक और साहसिक प्रेरणाएँ भी प्राप्त होती हैं। वह कायरों को साहस प्रदान करता है, वीरजनों को उत्साह वितरण करता है, शोकार्त उससे सान्त्वना पाते हैं, उद्विग्न चित्तवालों को शान्ति मिलती है। धर्म, यश, आयु, हितोपदेश, जनहित आदि नाट्य के प्रयोजन हैं। भरत के नाट्य के प्रयोजन ही काव्य-प्रयोजन हैं क्योंकि ये काव्य पर भी असंदिग्ध रूप में चरितार्थ होते हैं।

भामह—भामह ने काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा है कि सत्काव्य के अनुशीलन अथवा रचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान होता है, कलाओं में नैपुण्य मिलता है, कीर्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। इन प्रयोजन में कीर्ति का लाभ कवि को मिलता है तथा प्रीति (अलौकिकानन्द) का लाभ कवि और पाठक दोनों को होता है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य-निबन्धनम् ।।
(काव्यालंकार १।२)

वामन—वामन के अनुसार काव्य के दो ही प्रयोजन हैं : प्रीति और कीर्ति। ये दोनों प्रयोजन जीवनकाल और उसके अन्तर भी रहते हैं। वामन ने आनन्दानुभूति को काव्य का दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति को अदृष्ट प्रयोजन कहा है—

काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थप्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात् (काव्यालंकार सू० १।१।५)

रुद्रट—आचार्य रुद्रट ने काव्य के अनेक प्रयोजन बताये हैं—युगान्त स्थिर जगत्व्यापी यश, धनप्राप्ति, विपत्तिनाश, अलौकिकानन्द, आप्त कामना, धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति । किन्तु यश को विशेष महत्व दिया है ।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रीति (हृदयाह्लाद) को माना है—तेनब्रूमः सहृदयमनसः प्रीतये तत्स्वरूपम् । अभिनवगुप्त ने भी प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है, किन्तु अभिनव की प्रीति रसानुभूति-परक है ।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने काव्य के प्रयोजनों पर गंभीरता से विचार किया है । उनके अनुसार काव्य—धर्मार्थ, काम, मोक्ष—पुरुषार्थ-चतुष्टय का साधक होता है, सहृदयों को आह्लाद देने वाला होता है, व्यवहार का साधक तथा अलौकिकानन्द का जनक होता है । (वक्रोक्तिजीवित १।४-५)

आचार्य विश्वनाथ ने भामह के समान पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन माना है (सा० द० १।३) ।

पंडितराज जगन्नाथ यश, लोकोत्तर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता काव्य का प्रयोजन मानते हैं—'तत्र कीर्ति परमाह्लाद गुरुराजदेवता प्रसादाद्यनेक प्रयोजनस्य काव्यस्य···।"

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य-प्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन सर्वाधिक मान्य एवं चर्चा के विषय रहे हैं । मम्मट के अनुसार काव्य का विशिष्ट प्रयोजन आनन्द है । यह सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो पढ़ते ही अपूर्व आनन्द की सृष्टि करता है—"सकल प्रयोजन-मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्" । यह प्रयोजन कवि और सहृदय-संवेद्य है । उनके काव्य-प्रयोजन निम्न हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे (का० प्र० १।२)

अर्थात् यश, धन, व्यवहार-ज्ञान, अनिष्ट-निवारण, आनन्द और कान्ता-सम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं । मम्मट निर्दिष्ट इन छः प्रयोजनों में से तीन मुख्यतः कविनिष्ठ तथा तीन पाठकनिष्ठ कहे जा सकते हैं—यश, अर्थ

और अनिष्ट-निवारण ये तीन कविनिष्ठ प्रयोजन तथा शेष तीन पाठकनिष्ठ प्रयोजन हैं।

यश—यश की कामना प्रत्येक व्यक्ति को होती है, यश एक प्रधान प्रेरक तत्व है। कालिदास, भवभूति, जायसी आदि कवियों ने यश के लिए ही काव्य-सृजन किया था। भर्तृहरि के अनुसार कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु जरा-मरण से रहित यशःशरीर अमर रहता है—

> जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः।
> नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

भारवि भी "यशोधिगन्तुम्" यश-प्राप्ति के लिए लिखते हैं। आशय यह है काव्य के सृजन का एक प्रधान प्रयोजन और प्रेरक तत्व यश है।

अर्थ—काव्य के भौतिक प्रयोजनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अर्थ है, क्योंकि संसार में प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता होती है। श्रीहर्ष, धावक को प्रचुर धन मिला था। केशवदास को इक्कीस गाँव मिले हुए थे। विहारी को एक मुहर प्रत्येक दोहे पर मिलती थी। शाहनामा के लेखक फिरदौसी को भी एक शेर पर एक अशर्फी देने का वायदा किया गया था। अँग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्कॉट ने कर्ज चुकाने के लिए उपन्यास लिखे थे। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवि प्रायः अर्थ के लिए ही काव्य लिखते थे। आज के कवि और लेखक भी अर्थ के लिए काव्य सृजन करते हैं। किन्तु सभी अर्थ के लोभ से काव्य सृजन नहीं करते हैं, यह गलत है क्योंकि तुलसी और कुम्भनदास कवि 'स्वान्तः सुखाय' और 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' के आदर्श का पालन भी करते हैं और राजा-महाराजाओं के आमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं।

व्यवहार-ज्ञान—काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान पाठक को होता है। कवि पाठकों के समक्ष अपने जीवन के अनुभवों पर आधारित आदर्शों का प्रतिपादन करता है। सूर और तुलसी के काव्य से तत्कालीन रीति-व्यवहार का सहज ज्ञान मिलता है।

शिवेतर-क्षति—काव्य से अनिष्ट का निवारण भी होता है। काव्य स्तुतियों द्वारा अनेक कवियों ने अपने कष्टों का निवारण किया है। मम्मट ने

'काव्य-प्रकाश' में मयूर कवि का उदाहरण दिया है, जिन्होंने सूर्य की सौ श्लोकों में स्तुति कर अपने कुष्ट रोग का निवारण किया था । वाणभट्ट ने पार्वती की स्तुति की थी। गोस्वामी तुलसी दास ने 'हनुमान वाहुक' की रचना वाहुपीड़ा के निवारण के लिए की थी। आज के प्रगतिवादी कवियों और लेखकों की रचनाओं से व्यक्ति और समाज के कष्टों का निवारण होता है। राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार भी काव्य से होता है।

सद्यः परनिर्वृत्ति—काव्य का यही मूल्य उद्देश्य है। काव्य के आस्वादन से जो रस रूपी आनन्द मिलता है, वही काव्य का लक्ष्य है—सहृदयस्य तु काव्यश्रवणानन्तरमेव सकल प्रयोजनेषूत्तमं स्थायिभावास्वादन समद्भूतं वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दनम्" यही काव्यास्वादजन्य आनन्द सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है। इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद अस्तमित रहता है तथा वह विभावादि के वर्णन और उसके चर्वण से निष्पन्न होता है। इसी लिए कविता को मम्मट ने 'नवरसरुचिरां' तथा 'ह्लादैकमयीं' कहा है। काव्योत्पन्न आनन्द पाठक और कवि दोनों को मिलता है। यह आनन्द जीवन की विषमता एवं वेदना को दूर कर शान्ति के मनोराज्य की स्थापना करता है।

कान्तासम्मिततयोपदेश—पत्नी के समान मधुर उपदेश देना भी काव्य का एक प्रयोजन है। अनेक सन्तों की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। पंचतंत्र और हितोपदेश का सृजन इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर हुआ था । इस उद्देश्य के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु शास्त्र इस काव्य के प्रयोजन का समर्थन करते हैं। शास्त्रों में तीन प्रकार के वचनों का निर्देश है—प्रभु-सम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्ता सम्मित। प्रभुसम्मित शब्द में आज्ञा रहती है और अच्छी-बुरी वातों का निर्देश होता है—वेद शास्त्रादि के उपदेश इसी श्रेणी में आते हैं। सुहृत्-सम्मित में आज्ञा न होकर भावना होती है, उदाहरण होते हैं—इतिहास पुराण आदि के उपदेश इसी कोटि में आते हैं। कान्तासम्मित वाक्य में प्रेमोपदेश होता है यह सरस होता है । वास्तव में काव्य का उपदेश शक्कर में लिपटी हुई कुनैन की गोली के समान होता है। विहारी के एक दोहे का प्रभाव राजा जयसिंह के सर पर चढ़ कर बोला था,

यदि बिहारी राजा को उपदेश देते तो न तो उसका कोई प्रभाव पड़ता, सम्भावना यह भी थी कि वे कोपभाजन बनते। वह यह है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिध्यौं आगे कौन हवाल।।

मम्मट-निर्दिष्ट काव्य के इन प्रयोजनों के अतिरिक्त संस्कृत के आचार्यों ने धर्मार्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग को भी काव्य के प्रयोजनों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ये चारों ही तत्व मम्मट के निर्दिष्ट तत्वों में सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं।

काव्य के प्रयोजनों पर हिन्दी के रीतिकालीन एवं आधुनिक आचार्यों ने भी विचार किया है। रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों पर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के प्रभाव का सहज अनुसंधान किया जा सकता है। आचार्य कुलपति मिश्र यश, धन, आनन्द और व्यवहारज्ञान काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

जस सम्पत्ति आनन्द अति दुखिन डारै खोय।
होत कवित तें चतुरई जगत राम बस होइ।।

देव आनन्द और यश को काव्य का प्रयोजन मानते हैं, जो कि वामन एवम् आनन्द की कीर्ति एवं प्रीति ही है—

ऊँच नीच अरु कर्म, बस चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवन्त जस, भव्य काव्य सुखसार।।

आचार्य सोमनाथ कीर्ति, धन, मनोरंजन, अनिष्ट-नाश और उपदेश को काव्य का प्रयोजन कहते हैं—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करै भलो उपदेश नित वह कवित्त चित चेति।।

इन सभी आचार्यों पर अधिकतर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है।

हिन्दी के आधुनिक लेखक पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव तथा युगीन परिस्थितियों से प्रायः प्रभावित रहे हैं। इसलिए आधुनिक विद्वानों ने लोकमंगल जीवन की आलोचना, चरित्र सुधार, यश, मनोरंजन, शिक्षा, स्वान्तः सुखाय, समाज के प्रति विश्वास आदि तत्वों को काव्य प्रयोजन माना है, किन्तु विशेष दृष्टि लोकमंगल की ओर रही है।

पाश्चात्य-साहित्य का आधुनिक साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है, अतः साहित्य की प्रेरणा एवं प्रयोजन का अध्ययन करते समय जीवन की प्रेरणा का भी अध्ययन किया जाता है। भारतीय प्राचीन साहित्य में पुत्रैषणा (पुत्र की चाह), वित्तैषणा (धन की चाह), लोकैषणा (यश की चाह) जीवन की मूल प्रेरणाएँ मानी गई हैं। किन्तु पाश्चात्य साहित्य में मनोविश्लेषण के द्वारा जीवन की समस्याओं का समाधान किया गया है। कवि के काव्य का अध्ययन करते समय भी इस शास्त्र का सहारा लिया गया, परिणामस्वरूप फ्रायड के अनुसार—जन-जीवन की सभी क्रियाओं की मूल प्रेरक मानव की कामवासना है, जोकि जीवन के प्रारम्भ से ही अपना कार्य करती रहती है, जोकि समय-समय पर कवियों की वाणी से व्यक्त होती है। अतः फ्रायड के अनुसार कहा जा सकता है कि काव्य भी दमित भावनाओं की तृप्ति और अभिव्यक्ति का परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक एडलर क्षतिपूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। कवि भी अपनी क्षतिपूर्ति के लिए काव्य-सृजन करते हैं। उदाहरण के लिए अंधे सूर और मिल्टन, कुरुप कबीर और जायसी, पत्नी के उपालम्भ से पीड़ित तुलसी, भाभी के उपालम्भ से प्रताड़ित भूषण आदि कवि लिये जा सकते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य का सृजन हमारी किसी क्षतिपूर्ति के रूप में ही होता है।

हडसन के अनुसार काव्य को जन्म देने वाली मूलभूत चार प्रवृत्तियाँ हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति की कामना, (२) मनुष्य और उसके कार्यों के प्रति आकर्षण, (३) यथार्थ जगत् के प्रति हमारी ममता और काल्पनिक संसार के निर्माण की प्रवृत्ति, (४) रूप-विधान की कामना।

पश्चिम में काव्य को कला माना गया है और कला के अनेक प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है; जिनमें से निम्न प्रमुख हैं—

कला कला के लिए इस सिद्धान्त के समर्थक कविता का प्रयोजन अपने सुख से भिन्न कोई अन्य प्रयोजन नहीं मानते। उनके अनुसार कला का क्षेत्र नीति, सदाचार आदि से भिन्न है।

कला जीवन के लिए—इस सिद्धान्त के मानने वालों का विचार है कि कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वह जीवन की गति को उचित दिशा देकर उसे मंगलमय बनाने का यत्न करती है। कला का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। अतः नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती।

कला जीवन से पलायन के लिए—इस सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि संसार का सुधार करना असम्भव है अतः इसके संघर्ष में पड़कर व्यक्तिगत सुख-शांति भंग करना व्यर्थ है; ये लोग कला की सुखदायिनी गोद में आनन्द लेना चाहते हैं।

कला जीवन में प्रवेश करने के लिए—कला का उद्देश्य जीवन से पलायन करना नहीं है, अपितु इस संघर्षमय संसार में प्रवेश करने का पाठ इसी कला से मिलता है और इस संसार में प्रवेश कर उस सौन्दर्य की झाँकी कला में मिलती है।

कला सेवा के अर्थ—कला का यह एक मानवीय पक्ष है। इसी के द्वारा मनुष्य उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित होता है।

कला आत्मानुभूति तथा आनन्द के लिए—यह सिद्धान्त भारतीय मान्यता एवं आदर्श के अनुकूल है। कला में हमारे भाव तथा विचार भाषा का परिधान धारण कर मुखरित होते हैं। इस प्रकार हम अपनी आत्मा के दर्शन का, आत्मानुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं।

कला विनोद के लिए—कला का यह भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसे लोग निम्न कोटि का उद्देश्य मानते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह मत सार्वदेशिक है। कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। यह मत भी आज लोकप्रिय तथा बहुचर्चित है।

अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजन शिक्षा और आनन्द माने हैं। इनको प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों में समान महत्व प्राप्त है। मन की भावना को उदात्त एवं साधारणीकृत बनाने के लिए भी काव्य लिखा जाता है।

निस्सन्देह काव्य का प्रयोजन महान् है, वह सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने

के साथ-साथ मानवहृदय का विस्तार भी करता है। तुलसी एवं कबीर ने सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित की थी। वाल्टेयर के निबन्धों में रूस की क्रान्ति का जन्म एवं इतिहास छिपा है। काव्य यदि क्रान्ति करा सकता है तो वह सृजन का शंखनाद भी फूंक सकता है। आशय यही है कि काव्य व्यापक है तो उसका प्रयोजन भी व्यापक एवं महान् है।

प्रश्न १०—काव्य-हेतुओं पर भारतीय विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

कवि में काव्य-निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों का नाम काव्य-हेतु है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इन पर विस्तार से विचार हुआ है। वैसे काव्य के प्रेरक, हेतु और प्रयोजन शब्द लगभग समान हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रेरक तत्वों पर विचार हुआ है जब कि भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य के हेतु तथा प्रयोजन पर।

"...काव्य का वह गूढ़तम कारण जिसका अनुमान साधारणतया नहीं हो पाता, 'प्रेरक' (अथवा प्रेरणा) कहलाता है; उसका अर्द्ध व्यक्त रूप 'हेतु' है और अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप 'प्रयोजन' है। काव्य का 'प्रेरक' वह कारण है जो मनोविश्लेषण से ज्ञात होता है; काव्य का साधक 'हेतु' है और काव्य का निमित्त अथवा उद्देश्य प्रयोजन है।"[1]

संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों में 'भामह' ने काव्य का हेतु केवल 'प्रतिभा' को माना है—

'गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।'[2]

अर्थात् गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, किन्तु काव्य का कर्ता कोई प्रतिभावान् व्यक्ति ही हो सकता है। दण्डी महोदय प्रतिभा के अतिरिक्त शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास को भी काव्य का हेतु मानते हैं। नैसर्गिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोष शास्त्र का अध्ययन तथा अमन्दकाव्य

१. काव्य-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ४२
२. काव्यालंकार १।५

का अभ्यास काव्य-सम्पत्ति के कारण हैं ।[१] रुद्रट शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं । उनके अनुसार—'काव्य में असार वस्तु को दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लाने के कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, काव्य के कारण हैं ।'[२] आचार्य वामन 'लोक' विद्या और प्रकीर्ण को काव्यांग मानते हैं ।'[३] वामन का काव्यांग ही काव्यहेतु है । लोक से वामन का अभिप्राय लोक व्यवहार, विद्या से शास्त्रज्ञान अभिधान कोश, छन्दः शास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति से है ।[४] वामन जिसे विद्या कहते हैं वही अन्य आचार्यों की दृष्टि में 'व्युत्पत्ति' है । प्रकीर्ण से उनका अभिप्राय काव्य-परिचय, काव्य-रचना का उद्योग, वृद्ध-सेवा, प्रतिभा और चित्त की एकाग्रता से है ।[५] राजशेखर ने काव्य-हेतु के विवेचन-प्रसङ्ग में श्यामदेव तथा मङ्गल के मतानुसार लिखा है—"काव्य-कर्म में कवि की समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है ।"[६] मङ्गल के अनुसार "अभ्यास काव्य का प्रधान हेतु है ।'[७] किन्तु राजशेखर समाधि एवं अभ्यास से उत्पन्न 'शक्ति' को काव्य का प्रधान कारण मानते हैं[८] तथा शक्ति ही प्रतिभा

---

१. काव्यादर्श १।१०३

२. काव्यालंकार १।१४

३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।१ लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।

४. वही १। ।३—शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।

५. वही १।३।११—लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् ।

६. काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० २६

"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते" इति श्यामदेवः ।

मनस एकाग्रता समाधिः । समाहितं चित्तमर्थान्पश्यति ।

७. वही, अभ्यासः इति मङ्गलः । अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः ।

८. वही, तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः । "सा केवलं काव्ये हेतुः" इति यायावरीयः ।

और व्युत्पत्ति को जन्म देती है; ऐसा राजशेखर का मत है।[1] आचार्य मम्मट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को समन्वित रूप में काव्य का हेतु माना है— 'शक्ति (प्रतिभा), लोक-व्यवहार, शास्त्र एवं काव्यादि परिशीलन से प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा काव्यज्ञ की शिक्षा से अभ्यास ये काव्य के उद्भव में हेतु हैं—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। (का० प्र० १।३)

मम्मट के अनुसार शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पृथक्-पृथक् काव्य के हेतु नहीं हैं अपितु तीनों मिलकर ही काव्य के हेतु हैं।[2] रुद्रट ने भी तीनों को समन्वित रूप में ही स्वीकार किया है।[3] वाग्भट्ट ने इन तीनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सृजन को बढ़ाने वाला है; ऐसा प्राचीन कवियों का मत है—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादिकवि संकथा । (वाग्भटालंकार १।३)

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार "प्रतिभा काव्य का हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संस्कार करने वाले हैं[4] जिस प्रकार मृत्तिका और जल से संयुक्त ही बीज-माला की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार शास्त्र और उसके अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा ही कविता की उत्पत्ति में कारण है"—जयदेव ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[5] पण्डितराज जगन्नाथ 'काव्य का कारण कवि में

---

१. वही, शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणि ।

२. का० प्र० १।३ व्याख्या:

त्रय समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे ।
समुल्लासे च हेतुर्न्न तु हेतवः ।।

३. काव्यालंकारः त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ।

४. काव्यानुशासन १।४

५. प्रतिभैव श्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ।। चन्द्रालोक १।६

रहने वाली प्रतिभा को मानते हैं तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के कारण हैं।' उस प्रतिभा का हेतु किसी देवता, महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट होता है कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति तथा काव्य-रचना के अभ्यास से—तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा···तस्याश्च (प्रतिभायाश्च) हेतुः क्वचिद्देवता महापुरुष प्रसादादिजन्यमदृष्टम् क्वचिच्च विलक्षण व्युत्पत्ति काव्य कारणाभ्यासौ।'[१]

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्य इस विषय में मम्मट से विशेष रूप से प्रभावित हैं किन्तु किसी-किसी आचार्य ने जयदेव की उपमा—'मिट्टी पानी के संयोग से बीज बढ़कर लता के रूप में व्यक्त होता है' का प्रयोग कर तीनों के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।[२] निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत के काव्यशास्त्री काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को विशेष महत्व देते हैं, किसी-किसी आचार्य ने समाधि को भी काव्य का हेतु माना है।

प्रतिभा—आचार्यों ने काव्य-सृजन के हेतु-रूप में 'प्रतिभा' को विशेष महत्वपूर्ण स्थान दिया है। प्रतिभा के शक्ति और संस्कार-विशेष पर्यायवाची शब्द हैं। जिस व्यक्ति में प्रतिभा होती है, वही सत्काव्य की सृष्टि में समर्थ होता है और 'कवि' कहलाने का अधिकारी होता है। भट्टतौत के अनुसार —प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जो नित-नूतन रसानुकूल विचार उत्पन्न करती

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन।

२. क—कारण देव प्रसाद जिहि, सक्ति कहत सब कोइ।
वितपति और अभ्यास मिल, त्रय बिन काव्य न होइ॥
जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन।
तबहीं तरु उपजें सु त्यों इनते कविता जान॥
(सुरति मिश्र : काव्य-सिद्धान्त)

ख—शक्तिनिपुणता लोकमत वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा तें होत है ताको ललित प्रकास॥
(श्रीपति : काव्यसरोज)

है—'प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।[1] वामन इसे 'जन्मान्तर से प्राप्त कोई संस्कार' कहते हैं, जिसके विना काव्य-सृजन सम्भव नहीं है, यदि होती भी है तो वह हास्यास्पद होती है ।[2] रुद्रट के अनुसार, प्रतिभा शक्ति-विशेष है, 'मन की एकाग्रावस्था में जिसमें अभिधेय का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं, उसे शक्ति कहते हैं ।"[3] कुन्तक ने कवि-शक्ति को प्रतिभा कहा है : पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार से परि-पक्व एक अद्वितीय दिव्य शक्ति प्रतिभा कहलाती है—

"प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः ।"

आचार्य मम्मट ने भी प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है और वामन के समान ही उसकी व्याख्या भी की है—'शक्ति कवित्व का वीज-रूप संस्कार-विशेष है, जिसके विना काव्य प्रसृत नहीं होता है और यदि होता भी है तो वह उपहासास्पद होता है ।"[4] वाग्भट्ट ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रसन्न पदावली, नित नूतन अर्थों तथा उक्तियों का उद्बोधन करने वाली कवि की स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धि को 'प्रतिभा' कहते हैं ।" हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ भट्टतौत की मान्यता का समर्थन करते हैं । आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त शक्ति और प्रतिभा की एकरूपता स्वीकार करते हैं ।[5]

---

१. भट्टतौत: काव्य कौतुकं

२. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।१६ : "कवित्व वीजं प्रतिभानं कवि-त्वस्य वीजं कवित्ववीजं, जन्मान्तरागत-संस्कार-विशेषः कश्चित् यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्"

३. रुद्रट : काव्यालंकार १।२५

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।

४. मम्मट : काव्यप्रकाश १।३—शक्तिः कवित्ववीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् ।।"

५. ध्वन्यालोकलोचन—१।३—"शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनो-ल्लेख शालित्वम् ।" तथा 'प्रतिभा अपूर्व वस्तुनिर्माण क्षमा ।'

अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को दो प्रकार का माना है—आख्या तथा उपाख्या। कवि की प्रतिभा आख्या तथा समालोचक या सहृदय की प्रतिभा उपाख्या। रुद्रट ने भी प्रतिभा के दो भेद माने हैं—सहजा और उत्पाद्या। सहजा स्वाभाविक होती है और उत्पाद्या शास्त्राध्ययन आदि से उत्पन्न की जा सकती है। राजशेखर ने प्रतिभा दो प्रकार की मानी है[1]—कारयित्री और भावयित्री। कवि-कर्म की सहयोगिनी तथा कवि का उपकार करने वाली 'कारयित्री' प्रतिभा कहलाती है।[2] इसके तीन भेद होते हैं—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी।[3] "जन्मान्तर के संस्कारों की अपेक्षा रखने वाली सहजा होती है, वर्तमान जन्म के संस्कारों से उत्पन्न आहार्या तथा मन्त्रतन्त्रादि साधनों से उत्पन्न औपदेशिकी होती है।"[4] भावक या समालोचक की उपकार करने वाली प्रतिभा का नाम 'भावयित्री' प्रतिभा है।[5] यह प्रतिभा कवि के श्रम को सफल बनाती है।[6] पाश्चात्य विद्वान् 'प्रतिभा' को कवि की विशेष कल्पना-शक्ति मानते हैं। कवि कल्पना-शक्ति और प्रतिभा एक ही है। दण्डी प्रतिभा की अपेक्षा निपुणता तथा अभ्यास को महत्व देते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा के न होने पर भी अध्ययन एवं अभ्याससम्पन्न व्यक्ति वाणी की कृपा से विद्वानों की सभा में विहार के योग्य हो जाता है।[7]

---

१. काव्य मीमांसा चतुर्थ अध्यायः—'सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च।'
२. वही—'कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।'
३. वही—'साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च।'
४. वही—'जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी।"
५. वही—'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री।'
६. वही—"सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति।"
७. काव्यादर्शः नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च वहु निर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः। १।१०३
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुवन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येवकमप्यनुग्रहम्॥

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति का अर्थ है पाण्डित्य या विद्वत्ता। रुद्रट के अनुसार छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, एवं पदार्थ-ज्ञान से उत्पन्न उचितानुचित विवेक का नाम 'व्युत्पत्ति' है।[1] मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है। यह निपुणता चराचर जगत् के निरीक्षण और काव्यादि के अध्ययन से प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार सांसारिक अनुभव और अध्ययन से निपुणता प्राप्त होती है इसी का नाम व्युत्पत्ति है।[3] राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के आधार पर व्युत्पत्ति को बहुज्ञता कहा है।[4] यह बहुज्ञता, निपुणता या व्युत्पत्ति कवि या काव्यकर्त्ता के लिए आवश्यक है क्योंकि इस ज्ञान और अध्ययन से उनके विचार प्रामाणिक बनते हैं और वे पाठक को क्रान्तिकारी चेतना देने में समर्थ हो सकते हैं। क्रान्तिकारी चेतना वही दे सकता है जिसे उचितानुचित का विवेक हो—'यह उचित अनुचित का विवेक' राजशेखर के मत में व्युत्पत्ति है।[5] मङ्गल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं, जबकि आनन्द प्रतिभा का।[6] किन्तु राजशेखर के मत में प्रतिभा और व्युत्पत्ति समवेत रूप से श्रेयस्कर हैं। जैसे, लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप-सम्पत्ति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता।[7]

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वति श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः। १।१०४
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते। १।१०५

१. काव्यालंकार : छंदोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानाम्। युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥
२. काव्यप्रकाश १।३ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
३. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन : लोकशास्त्र काव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः।
४. राजशेखरः काव्यमीमांसा पंचम अध्यायः "बहुज्ञता व्युत्पत्तिः" इत्याचार्याः।
५. वही—"उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः।
६. वही—'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः। "व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मङ्गलः।
७. वही—"प्रतिभाव्युत्पत्तीमिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूप सम्पदो वा लावण्यमलब्धिर्महते सौन्दर्याय।"

अभ्यास—प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि 'अभ्यास' द्वारा कविकर्म में कुशलता प्राप्त करता है—"[1]"अभ्यासो हि कर्मसु कौशलयावहति।" अभ्यास यदि काव्य का प्रमुख तत्व नहीं है तो आवश्यक हेतु अवश्य है। अभ्यास का अर्थ है बार-बार प्रयोग अथवा निरन्तर प्रयत्न करते रहना अभ्यास है।" दण्डी प्रतिभा के महत्व को सर्वोपरि महत्व देते हैं किन्तु वे अभ्यास को भी आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि "पूर्ववासनाजन्य अद्भुत प्रतिभा भले ही न हो, किन्तु काव्य आदि के श्रवण, अनुशीलन तथा निरन्तर अभ्यास से सरस्वती की उपासना करने पर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है। अतः जो कीर्ति चाहते हैं, उन्हें आलस्य का परित्याग कर सरस्वती की उपासना करनी चाहिए; क्योंकि कवित्व के क्षीण होने पर भी अभ्यासशील व्यक्ति विद्वानों की सभा में विहार करने में समर्थ हो सकते हैं।"[2] भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तादि सभी आचार्यों ने 'अभ्यास' के महत्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप में स्वीकार किया है। वास्तव में 'अभ्यास' कविकर्म के लिए आवश्यक तत्व है, उसके द्वारा काव्य में दीप्ति का आधान होता है। जड़बुद्धि भी 'अभ्यास' के द्वारा सुजान हो सकते हैं।

समाधि—राजशेखर ने 'समाधि' को श्यामदेव के आधार पर काव्य का हेतु स्वीकार किया है।[3] वे मन की एकाग्रता को 'समाधि' कहते हैं। समाहित-चित्त मूल अर्थ का दर्शन करता है।[4] कविकर्म के लिये समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन

---

१. काव्यमीमांसा : चतुर्थ अध्याय : "अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्रनिरतिशयं कौशलमाधत्ते।

२. काव्यादर्श : १/१०४-१०५ :

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती क्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते॥

३. काव्यमीमांसा : चतुर्थ अध्याय :

'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इतिश्यामदेवः।

४. वही; मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति।

है, समाधि आन्तरिक है अभ्यास बाह्य ।[1] वामन 'समाधि' को 'अवधान' शब्द से अभिहित करते हैं ।[2] किन्तु यह 'समाधि' अभ्यास का ही प्रतिरूप है । समाधि के लिए भी पहले अभ्यास की ही आवश्यकता है तथापि इसे काव्य का हेतु स्वीकार करने में कोई विशेष दोष नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्य के हेतुओं पर पर्याप्त विचार हुआ है; वे प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि हैं । इन हेतुओं में से किसी ने एक को महत्व दिया है तो किसी ने दूसरे को; तथा किसी ने तीनों को महत्व दिया है । किन्तु वास्तव में तीनों का समन्वित महत्व है; तीनों ही परस्पर पूरक हैं, अपने आप में कोई एकाङ्गी पर्याप्त नहीं है, एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण ही है । प्रतिभाशाली व्यक्ति को भी व्युत्पत्ति और अभ्यास का आश्रय लेना ही पड़ता है; अतः तीनों हेतुओं का महत्व स्वीकार्य है । इसीलिए रुद्रट ने तीनों को महत्व देते हुए लिखा है कि—"त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ।" आचार्य मम्मट ने भी तीनों के समन्वित महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—"त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।" ये तीनों ही काव्योत्कर्ष के समन्वित हेतु हैं; अलग-अलग नहीं । इसी प्रकार वाग्भट्ट (प्रथम), हेमचन्द्र, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ तीनों के महत्व को स्वीकार करते हैं । हिन्दी के अधिकांश आचार्य मम्मट और जयदेव का अनुसरण करते हुए तीनों—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं ।

प्रश्न ११—काव्य-आत्मा-विषयक विभिन्न सम्प्रदायों की समीक्षा करते हुए, यह बतलाइये कि आप काव्य की आत्मा का पद किस तत्व को प्रदान करते हैं और क्यों ?

संस्कृत साहित्य का अलंकार-शास्त्र गम्भीर विवेचन के कारण परिपूर्ण है । काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म ग्रन्थियों का उद्घाटन संस्कृत-साहित्य में

१. काव्यमीमांसा;—समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः ।
२. काव्यादर्श १।३।१७:

हुआ है। काव्य के वास्तविक रहस्य के पर्यालोचन के कारण विभिन्न सम्प्रदायों की उद्भावना हुई है क्योंकि आलंकारिकों के समक्ष काव्य की आत्मा की खोज एक महत्वपूर्ण विषय था और उस आत्मा की खोज अपनी रुचि एवं संस्कारों के अनुसार प्रत्येक काव्यशास्त्री ने की है। भारत प्रारम्भ से ही आत्मवादी रहा है। मानवात्मा की शोध एवं प्रतिष्ठा उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसको प्राप्त कर व्यक्ति आनन्द-मग्न हो जाता है, काव्य भी आनन्ददायक है। अतएव काव्यशास्त्रियों ने भी उसमें आनन्द रूप आत्म की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है। इसी महत्वपूर्ण विषय के पर्यालोचन के लिए आचार्यों ने सूक्ष्म चिन्तन के माध्यम से अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस एवं औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया। उसी का परिणाम यह हुआ कि काव्यशास्त्र के इतिहास में छः सम्प्रदायों का जन्म हुआ। प्रत्येक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय अपने महत्व के प्रतिपादनार्थ प्रयत्नशील रहा है। इन सम्प्रदायों का उल्लेख अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रवन्ध ने किया है। समुद्रवन्ध के आधार पर धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय प्रमुख हैं—

१. अलंकार सम्प्रदाय

२. गुण या रीति सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने वाला सम्प्रदाय, वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार को मान्यता देने वाले आचार्य कुन्तक हैं। इसी व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन के लिए भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर पर भट्टनायक ने की है। किन्तु इसे आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन होगा।

व्यंग्य मुख से शब्दार्थ में वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, आनन्द ने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। अलंकार सर्वस्व की समुद्रवर्धन टीका में लिखा है—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च-वैशिष्टयं धर्ममुखेन, व्यापार-

मुखेन, व्यंग्य मुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपिभणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति

पंचसुपक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः। द्वितीयो वामनेनः तृतीयो वक्रोक्ति-जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन।

—(समुद्रवन्ध कृत अलंकार सर्वस्व टीका)

उपर्युक्त वर्णन में भरत के रस सिद्धान्त का तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार काव्य की आत्मा की पर्यालोचना करने वाले छः सम्प्रदाय हुए—

१. रस-सम्प्रदाय — भरत
२. अलंकार-सम्प्रदाय — भामह, उद्भट तथा रुद्रट
३. रीति-सम्प्रदाय — दण्डी तथा वामन
४. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय — कुन्तक
५. ध्वनि-सम्प्रदाय — आनन्दवर्धन
६. औचित्य-सम्प्रदाय — क्षेमेन्द्र

रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्त्तक कौन है? उपलब्ध साहित्य के आधार पर भरत ही इसके आदि आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्र में नाट्य के अतिरिक्त रस एवं भाव आदि पर विस्तार से विचार किया है, उनके इस विवेचन का प्रभाव परवर्त्ती सभी काव्यशास्त्रियों पर देखा जाता है। यद्यपि— "**ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मनाः**" से द्रुहिण नामक आचार्य की सत्ता का भी आभास मिलता है। राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' के आधार पर नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से रस का निरूपण किया है "**रसाधिकरणं नन्दिकेश्वरः।**" किन्तु नन्दिकेश्वर की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र उल्लेख होते हुए भी प्रामणिक ग्रन्थों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अतः नाट्य-शास्त्र के आधार पर भरतमुनि ही रस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य मान्य हैं, यद्यपि नाट्यशास्त्र का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि भरत से पूर्व ही रस-सम्प्रदाय का आविर्भाव हो चुका था। "**विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" यह भरतमुनि का ही

है। परवर्ती काल में इस सूत्र की लगभग ग्यारह आचार्यों ने व्याख्या की है। परवर्ती अनेक व्याख्याकारों द्वारा व्याख्यात होने पर भी इस सूत्र की अपनी महत्ता है। रससूत्र के प्रमुख व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त हुए हैं। इन आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार रस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। साहित्य में रस-सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों में भी रस की महत्ता स्वीकार की गई है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसध्वनि, इन तीन ध्वनियों में रस ध्वनि को भी स्थान देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। भोजराज भी रसोक्ति का स्थान काव्य में प्रमुख मानते हैं। विश्वनाथ कविराज तो रसवाद के प्रवल पोषक हुए हैं। उन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' लिखकर रस सिद्धान्त को जीवन-शक्ति ही प्रदान कर दी है। रुद्रभट्ट ने भरत के मतानुसार रस को काव्य की आत्मा माना है। अग्निपुराणकार काव्य में चमत्कार की प्रधानता मानते हुए भी रस को ही काव्य का जीवन मानते हैं "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्।" राजशेखर भी काव्य को आत्मा का पद रस को देते हैं। भरत की तो स्पष्ट ही घोषणा है। "नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" इस प्रकार भरत रस को काव्य का मौलिक आधारभूत तत्व मानते हैं। रस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक है। इस सिद्धान्त में मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्तियों का विवेचन कर उसके सहायक भावों की भी चर्चा होती है। रस सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा करने वाले भरत—नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक, धनंजय—दशरूपक, विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, जगन्नाथ—रस गंगाधर, अभिनव—अभिनव भारती, मम्मट—काव्यप्रकाश, भोज—शृंगारप्रकाश, आदि आचार्य एवं उनके ग्रन्थ हैं।

अलंकार सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह (षष्ठ शतक) हैं। इनके अनुयायियों में उद्भट, दण्डी रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज एवं जयदेव आदि प्रमुख हैं। उपर्युक्त सभी आचार्य अपनी कृतियों में अलंकारों की महत्ता को स्वीकार करते हैं। इन अलंकारों की महत्ता को अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती", "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्", इत्यादि वचनों से

सहर्ष स्वीकार किया है। मम्मट के काव्य-लक्षण में प्राप्त "अनलंकृती पुनः क्वापि" पद के आलोचक चन्दालोककार जयदेव के मत में अलंकार के अभाव में काव्य की सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है—

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्ठामनलंकृती।" (१—८)

रुय्यक का कथन है कि प्राचीन अलंकारिक काव्य में अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते हैं—

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।" (अलंकार सर्वस्व)

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य रस सम्प्रदाय से अपरिचित हों, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु ये आचार्य रस की अपेक्षा अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते हैं। इसी कारण रसवदलंकार-प्रेय-ऊर्जस्वित् समाहित अलंकारों में रस तथा भाव का अन्तर्भाव करते हैं। इसी प्रकार अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनिवाद से अपरिचित हों, यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि रुय्यक का स्पष्ट कथन है कि भामह, उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर अलंकार के अन्तर्गत उसे मानते हैं—

"इह तावत् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यते"
(अलंकार सर्वस्व, पृ० ३)

इस प्रकार अलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करने वाले आचार्य भी काव्य के अन्य तत्वों के अस्तित्व को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु इस सम्प्रदाय में काव्य का प्रधान तत्व अलंकार है, रसादि तो उसके उपकार के तत्व-मात्र हैं। अलंकारवादियों के कथनानुसार अलंकारों की प्रधानता के कारण रसादि के वर्णन होते हुए भी काव्य-मीमांसा के ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

रीति सम्प्रदाय—रीति तत्व की चर्चा नाट्यशास्त्र में भी मिलती है तथा

संस्कृत साहित्य में रीति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, विभिन्न काव्य शास्त्री अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार रीति का प्रयोग एवं अर्थ करते हैं, उदाहरणार्थ भामह काव्य, दण्डी और भोज मार्ग, वामन रीति, आनन्द पद-संघटना, रुद्रट एवं मम्मट वृत्ति और विश्वनाथ रीति कहते हैं। भोज रीङ् गतौ धातु से क्तिन् के योग से रीति शब्द को निष्पन्न मानते हैं और इसका अर्थ वे मार्ग (पन्थाः) करते हैं—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥

(स० क० २।२७)

रीति सम्प्रदाय के आचार्यों में दण्डी का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है किन्तु इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक वामन ही हैं। वामन के मत में काव्य की आत्मा रीति ही है "रीतिरात्मा काव्यस्य"। पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है—"विशिष्टा पद रचना रीतिः"। विशिष्ट से उनका आशय गुणों से है, गुण- सम्पन्नता काव्य-सौन्दर्य का मूलतत्व है; इस प्रकार रीति का मूलाधार तत्व गुण है। वामनाचार्य ने इसी का आगे प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—"विशेषो गुणात्मा" इस प्रकार वामन गुण एवं रीति को समान स्तर पर स्वीकार करते हैं। काव्य में यह गुणों की परम्परा भरतमुनि से ही चलती आ रही थी। भरत ने दस गुणों का वर्णन किया था। रुद्रदामन के शिलालेख में भी माधुर्य, कान्ति, उदारता जैसे काव्य गुणों का उल्लेख मिलता है। दण्डी ने भरतमुनि के अनुरूप ही गुणों को मान्यता दी है, किन्तु रीतियों में गुण की प्रधानता स्वीकार करते हैं। आचार्य वामन ने गुणों के शब्दगत-अर्थगत इन दो भेदों को स्वीकार किया है और वामन के मत में गुणों की कुल संख्या बीस हो जाती है। किन्तु परवर्ती समस्त आलंकारिक आचार्य भामह के अनुसार माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य-तत्व का प्रस्फुटन रीति-सम्प्रदाय में पर्याप्त रूप से हुआ है। आचार्य वामन के मत में तीन रीति हैं। रीति का प्राचीन नाम 'मार्ग' या 'पन्था' है। रीति शब्द की निष्पत्ति रीङ् धातु से हुई है।

आचार्यों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यऽनयेति करण साधनोऽयं रीति शब्दो मार्ग पर्यायः"

आधुनिक आलोचनाशास्त्र में 'रीति' शब्द अर्थ प्रायः शैली के रूप में लिया जाता है। शैली विचारों का परिधान है या अभिव्यंजना की पद्धति ही रीति शैली है। रीति सम्प्रदाय में अलङ्कारों एवं गुणों में भेद स्वीकार कर गुणों को महत्व प्रदान किया गया है। क्योंकि काव्य की शोभा को करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं तथा उनके अतिशय करने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः ।।
(वामन : का० अ० ३।१। -२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिकांश आलंकारिक रीति के अस्तित्व और उसके महत्व को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करते ही हैं। आशय यह है कि 'रीति' सम्प्रदाय भी संस्कृत काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय—'वक्रोक्ति' शब्द अनेकार्थक है किन्तु कुन्तक ने इसकी विशिष्ट व्याख्या कर इसे एक सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ—वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन है। काव्य में उक्ति-वैचित्र्य को सदा ही महत्व मिला है क्योंकि यह सामान्य जन के कथन से भिन्न तथा चमत्कार-जनक कथन का प्रकार है।

काव्यशास्त्र में सबसे पहले आलंकारिक भामह ने इसकी कल्पना की थी। भामह के मत में अतिशयोक्ति का रूपान्तर ही वक्रोक्ति है तथा काव्य का मूल-तत्व भी वक्रोक्ति है। उनके कथनानुसार वक्रोक्ति ही अलङ्कार का कार्य सम्पादन करती है—"वाच्यां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।" आचार्य दण्डी सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभक्त करते हैं—'स्वाभाविक कथन को स्वभावोक्ति के अन्तर्गत तथा शेष समस्त भावों को वक्रोक्ति अलङ्कार के अन्तगत स्वीकार करते हैं—"भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्-मयम्।"[१] आचार्य वामन भी वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु वे

---

१. दण्डी : काव्यादर्श २।३६२।

सदृश्य के ऊपर आश्रित अर्थालङ्कार के अन्तर्गत लक्षणा मानते हैं। रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति शब्दालङ्कार के अन्तर्गत अलङ्कार माना जाने लगा। रुद्रट की दृष्टि से उक्ति एवं प्रत्युक्ति में ही वक्रोक्ति अलङ्कार की सत्ता है। उसके अनुसार वक्ता ने कुछ कहा श्रोता ने सम्बद्ध दूसरे अर्थ को लगा लिया यही वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति को अलङ्कार मानने की इस परम्परा का अनुसरण मम्मट, रुय्यक और हेमचन्द्र ने भी किया है।

वकोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक की मान्यता सवसे भिन्न है। कुन्तक वक्रोक्ति को केवल अलङ्कार ही स्वीकार नहीं करते हैं अपितु काव्य का मूलाधायक तत्व भी मानते हैं, वे वक्रोक्ति को—वैदग्ध्यभंगी भणितिः[१] •वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।[२] वैदग्ध्यं कवि कौशलं यस्य भंगी विच्छित्तिः ॥[२] अर्थात् अलौकिक कथन (जनसाधारण से विलक्षण) के प्रकार का नाम वक्रोक्ति है। इस प्रकार वक्रोक्ति का निरन्तर अर्थ-परिवर्तन होता रहा और अन्ततः वह काव्य की आत्मा के पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाती है, "इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकार के मूलतत्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्व स्वीकार की गई है।"

(भारतीय साहित्य शास्त्र)

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है—"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।" कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या व्यापक रूप में की है। उन्होंने वक्रोक्ति को छः भेदों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार हैं—वर्णवक्रोक्ति, पूर्वार्द्ध-वक्रोक्ति, वाक्य-वक्रोक्ति, प्रकरण-वक्रोक्ति, प्रवन्ध-वक्रोक्ति। इन विभिन्न भेदों के अनुसार हम कह सकते हैं कि कुन्तक की वक्रोक्ति किसी न किसी वैचित्र्य पर आधारित है। इसमें काव्य-वस्तु का विकास

१. वक्रोक्ति काव्य जीवितम् १।१०

२. वही, १।१० वृत्ति,

कवि की विशिष्ट दृष्टि से होता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति का सम्पूर्ण ढाँचा ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर खड़ा किया था और इसीलिए उन्होंने अपने विवेचन में रस और ध्वनि को वक्रोक्ति में आत्मसात करने का प्रयास किया है। यही नहीं, कुन्तक ने समन्वयवादी दृष्टि अपना कर भाव, अलंकार और कल्पना का समन्वय भी वक्रोक्ति सिद्धान्त में किया है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय निश्चित ही काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है "वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुदृढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता में चमत्कृति का संचार होता है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं; परन्तु उनकी अभिधा शब्दों का शक्ति रूप आद्य एकदेशीय व्यापार नहीं है, प्रत्युत उनकी अभिधा के भीतर लक्षण तथा व्यंजना का समग्र संसार विराजमान है। वाल-रुचि वाले कवियों को पसन्द आनेवाले चमत्कार के वे पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत वे रस को काव्य का मुख्य अर्थ मानने वाले आचार्य हैं।...कुन्तक की आलोचना की प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मता का परिचय इसी से लग सकता है कि पश्चाद्वर्ती ध्वनिवादी अलंकारियों ने उनकी वक्रोक्ति के समग्र प्रकारों को ध्वनि का प्रभेद मानकर अंगीकर कर लिया है।"[1] इस सम्प्रदाय की एक विशेषता यह भी है कि इस सम्प्रदाय ने अलंकार, रीति, रस तथा ध्वनि आदि सिद्धान्तों की एकांगिता को दूर कर काव्य के पूर्ण स्वरूप तथा तत्वों का परिचय दिया है। किन्तु योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में सम्प्रदाय का समुचित विकास नहीं हो सका है।

ध्वनि-सम्प्रदाय—ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में युगान्तरकारी है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकार, रस तथा वक्रोक्ति आदि पूर्वन्तनीन काव्य के तत्त्वों का सामंजस्य ध्वनि के साथ कर लेते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आनन्दवर्धन एवं पोषक अभिनव गुप्त तथा उसमें प्राणाधान करने वाले आचार्य मम्मट हैं। यद्यपि ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोधियों ने इसके खण्डन के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु अन्तस्तत्व की महत्ता के कारण यह सिद्धान्त अजेय रहा है।

---

१. बलदेव उपाध्याय: भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० ४७७

वाच्यार्थ की अपेक्षा जो अन्य अर्थ हृदयाह्लादकारक हो वही ध्वनि है—"इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये नाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः" (का० प्र० १/४)। अर्थ मुख्यतः वाच्य एवं प्रतीयमान दो होते हैं। साहित्य में ध्वनि-वादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ में होता है तथा ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ में होता है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीय-मान अर्थ की सत्ता निश्चित होती है तथा वह एक अन्य ही वस्तु है, इसी 'अन्य' शब्द की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार इस प्रकार है—"किसी सुन्दरी के शरीर में अङ्ग तथा अवयव से व्यतिरिक्त लावण्य की सत्ता रहती है; इसी प्रकार काव्य में भी चमत्कारोत्पादक प्रतीयमान अर्थ विद्यमान रहता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

(ध्वन्यालोक १।४)

ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनन्दवर्द्धन की अपनी विशे-षता है। आनन्द ने पूर्ववर्त्ती कवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनित्व को देख उसे काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार कर आत्मा के पद पर बड़े संरम्भ के साथ प्रतिष्ठित किया है। वे लिखते हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'। परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज तक ध्वनि के महत्व को स्वीकार किया गया है।

आनन्द ने 'ध्वनि' शब्द व्याकरणशास्त्र से ग्रहण किया है। व्याकरण में कर्णगोचर शब्द अनित्य माने जाते हैं; अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः वैयाकरण नित्य शब्दों की कल्पना के लिए स्फोट सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं। इस स्फोट शब्द की व्याख्या आचार्यों ने इस प्रकार की है—स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः' अथवा 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' (शब्द कौस्तुभ : भट्टोजी दीक्षित)। जिस शब्द-विशेष से अर्थ फूटता है वह स्फोट है, वह नित्य है। वह पूर्वापर सम्बन्धरहित अखण्ड तथा एकरस है। इस शब्द की अभिव्यक्ति ही ध्वनितत्व है। व्याकरणशास्त्र में ध्वनि शब्द

केवल अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा ध्वनि-सम्प्रदाय में यह ध्वनि शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय में ध्वनि काव्य की आत्मा है। ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि के अन्तर्गत—रसध्वनि, अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि को ग्रहण करते हैं। रस ध्वनि से उनका अभिप्राय नवरस, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि से भी है। वस्तुध्वनि से तथ्यकथन, तथा कल्पना-प्रसूत चमत्कार-जनक भावाभिव्यक्ति का अलङ्कार-ध्वनि में ग्रहण होता है। इन तीनों ध्वनियों में रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण है।

ध्वनि-सम्प्रदाय में काव्य के तीन भेद होते हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूत-व्यंग्य काव्य तथा चित्रकाव्य। आचार्य मम्मट ने इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अवर (अधम) की संज्ञा से अभिहित किया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, भोज, विश्वनाथ तथा पंडितराज प्रमुख हैं।

औचित्य सम्प्रदाय—औचित्य सम्प्रदाय की उद्‌भावना एवं प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को प्राप्त है। इस सम्प्रदाय की साहित्य में आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। प्राचीनता की दृष्टि से भरत के नाट्यशास्त्र में भी इसका विधान प्राप्त होता है। लोक में प्राप्त वस्तु का उसी रूप में उसी मुद्रा में अनुकरण ही नाट्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति का, उचितानुचित्त का विचार नाट्यशास्त्र में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। औचित्य तत्व की कल्पना नाट्यशास्त्र के अनन्तर आनन्दवर्द्धन के यहाँ विशेष रूप से मिलती है। आनन्दवर्द्धन इस तत्व की उपयोगिता स्वीकार करते हुए रस का मूलरहस्य औचित्य को मानते हैं—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥
>
> (ध्वन्यालोक ३।१४)

आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्य तथा ध्वनि को परस्पर उपकारक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र भी अभिनवगुप्त के ही पट्टशिष्य हैं, ध्वनि-वादी होते हुए भी औचित्य को व्यापक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इनके

काव्यशास्त्र ग्रन्थ का नाम है—"औचित्य विचार चर्चा"। इसमें लेखक ने औचित्य की विचारधारा का सर्वाङ्गीण विवेचन किया है और काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों को अपने भीतर समेट कर काव्य के रूप को स्पष्ट किया है। साथ ही क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि अलंकार और गुणों का अपना महत्व है किन्तु रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलंकारा गुण एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
(औ० वि० च०)

क्षेमेन्द्र औचित्य तत्व पर विचार करते हुए लिखते हैं कि "उचित का जो भाव है वही औचित्य है"—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृश किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
(औ० वि० च० श्लोक ७)

वह औचित्य ही रस का प्राणतत्व एवं काव्य में चमत्काराधायक है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य रस का जीवन है, रस काव्य की आत्मा है, वह उस आत्मा का भी जीवन है, अतः विचारणीय है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना॥
(औ० वि० च० श्लोक ३)

औचित्य तत्व काव्य में अपरिहार्य है क्योंकि काव्य में यदि इसी तत्व का अभाव होगा, तो काव्य उपहासास्पद हो जायगा। उदाहरणतः विकृताङ्ग व्यक्ति लोक में सामान्यतः तिरस्कार का पात्र बनता है इसी प्रकार विकृत काव्य भी विद्वानों के द्वारा उपेक्षणीय ही होता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर विचार करते हुए उसके अनेक भेदों की चर्चा की है। उनके अनुसार जैसे—पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, रस, अलंकार, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, देशकाल आदि।

औचित्य तत्व काव्य के लिए कोई क्षेमेन्द्र की नूतन उपलब्धि नहीं है अपितु

भरत, आनन्दवर्द्धन एवं कालिदासादि के काव्य में इस तत्व को देख तथा उसकी महत्ता का अनुभव कर इसकी आवश्यकता पर वल देकर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र के जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है तथा काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है।

समीक्षा—ऊपर की पंक्तियों में छः तत्वों के आधार निर्मित छः काव्य-सम्प्रदायों का अति संक्षिप्त परिचय दिया है—रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति एवं औचित्य परस्पर नितान्त भिन्न तत्व नहीं हैं, अपितु ये रुचिभेद से महान् काव्य के अङ्ग ही हैं। इन सबका समष्टिगत रूप ही काव्य है। इन तत्वों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक आत्मतत्व का पक्ष, दूसरा शरीर के महत्व को स्वीकार करने वाला पक्ष। आत्मा और शरीर की सापेक्ष अनिवार्यतः स्वतः सिद्ध है, यदि आत्मा के विना शरीर निरर्थक है, तो शरीर के विना आत्मा का भी कोई मूर्त्त अस्तित्व नहीं है। यही वात रस और रीति के सम्वन्ध में है। भाव-सौन्दर्य उक्ति-सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे रह सकता है; इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव-सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एकाङ्गीरूप में ये सभी तत्व एवं तत्सम्वन्धी सम्प्रदाय काव्य के व्यापक रूप को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसके एक अङ्ग को ही प्रस्तुत करते हैं। इनमें से ऐसा एक भी नहीं है, जिसे काव्य का अङ्ग स्वीकार न किया जा सके। काव्य-सम्प्रदायों के महत्व तथा पारस्परिक सह-योग की दृष्टि से हम कुप्पूस्वामी के इस श्लोक को उद्धृत कर स्पष्ट करेंगे कि परस्पर ये मिलकर ही काव्यतत्व को स्पष्ट करते हैं—

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालङ्कृति रीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

औचित्य का एक वृत्त है। औचित्य के वृत्त पर ध्वनि, रस एवं अनुमिति की सत्ता है। जब कवि की आत्माभिव्यक्ति होती है तो ध्वनित होकर रस व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औचित्य तत्व पर ही रस की स्थिति और उसकी निष्पत्ति निर्भर है। वक्रोक्ति कथन को प्रणाली है, जब तक कथन में अनूठापन या वक्रता नहीं होगी, तब तक गुण व अलङ्कार की स्थिति संभव

नहीं है; क्योंकि वक्रता के द्वारा ही गुण और अलंकार हैं। रीति की उत्पत्ति गुण और अलङ्कार के कारण है। इन्हीं गुण और अलङ्कार का मिश्रित रूप ही रीति है। इस स्थिति में ही यह वक्रता रीति में परिणत हो जाती है। बाह्यवृत्त आत्मा का है और आन्तरिक वृत्त शरीर का है; केन्द्र ही अन्य दोनों वृत्तों में परिणत हो जाता है। रस ही काव्यात्मा है, वह ध्वनि के द्वारा औचित्य के माध्यम से व्यक्त होने पर ही काव्य की आत्मा है, वह शब्दार्थ के द्वारा ही व्यक्त होता है, यह सम्पूर्ण समष्टि ही काव्य की आत्मा है। पाठक औचित्य के माध्यम से चलता है, देखता एवं अनुभव करता है और कवि शरीर तत्व से। इन दोनों के संयोग से ही काव्यात्मा-रूप आनन्द की उत्पत्ति होती है, यह आनन्द ही रस है और रस ही काव्य की आत्मा है।

प्रश्न १२—काव्य-दोषों के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्य-दोषों के भेदों का सामान्य परिचय दीजिए।

यदि उत्तम काव्य के लिए गुणों का होना आवश्यक है, तो वहाँ दोषाभाव का होना और भी आवश्यक है। इसीलिए संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने दोषों के अभाव को गुण माना है।[1] आचार्य भरत गुण को दोष का विपर्यस्त मानते हैं।[2] भरत की यह मान्यता चिरकाल तक मान्य रही; परिणामस्वरूप दण्डी तक दोष का कोई स्पष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलता है। प्रायः सभी आचार्य दोषों के अभाव को उत्तम काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं, इसीलिए भामह को काव्य में एक भी सदोष पद स्वीकार्य नहीं है।[3] दण्डी को काव्य में दोषों की उपेक्षा जरा भी सह्य नहीं है, क्योंकि वे काव्य की विफलता के कारण होते हैं। उदाहरण द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जैसे कुष्ठ का एक धब्बा सुन्दर शरीर को कुरूप बना देता है वैसे ही दोष काव्य को

---

१. दण्डी : काव्यादर्श : 'महान् निर्दोषिता गुणाः।

२. भरत : नाट्यशास्त्र १७।६५, विपर्यस्तो गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।

३. भामह : काव्यालङ्कार १।११। सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुः सुतनेव निन्द्यते॥

असुन्दर बना देते हैं; अतः दोषों से बचना चाहिए।[१] यही नहीं, दण्डी के अनुसार कवि-कौशल एवं चमत्कार के द्वारा सभी दोष-सीमा का उल्लंघन कर गुण भी बन जाते हैं।[२] अग्निपुराणकार के अनुसार दोष उद्वेगजनक होते है।[३] वामन के अनुसार दोष गुण के विपर्यय होते हैं तथा दोष काव्य-सौन्दर्य की हानि करते हैं।[४] महिमभट्ट काव्य में दोष की स्थिति अनुचित मानते हैं -[५] काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु भी दोषों को अनुचित मानते हैं।[६] भोजराज दोषों को त्याज्य मानते हैं।[७] जयदेव, मम्मट, हेमचन्द्र, भोजराज आदि काव्य के लक्षण में 'निर्दोष' शब्द का प्रयोग कर काव्य में दोष के अभाव को आवश्यक मानते हैं।[८] अग्निपुराणकार ने भी काव्य के लक्षण में दोष को

१. दण्डी : काव्यादर्श १।
   (क) दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा (प्रभा टीका) पृष्ठ ३७४।
   (ख) तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
   स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्। १।७
   इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः। ३।१२६

२. वही, ३।१७९ उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते।

३. अग्निपुराण ११।१ उद्वेगजनको दोषः।

४. काव्यालङ्कार सूत्र २।१।२ गुण विपर्ययात्मानो दोषाः।

५. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक 'शब्द दोषाणामनौचित्योपगमात्।

६. काव्यालङ्कार टीका—सकलालङ्कारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण-दुष्येत, अलंकृतवधूवदनं काणेनेव।

७. सरस्वतीकण्ठाभरणः 'हेया इत्यनेन सामान्य लक्षणम्। ये हेयाः ते दोषाः इत्यभिप्रायात्।

८. जयदेव : चन्द्रालोक : 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषणा।'
   मम्मट : काव्यप्रकाश : १। तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनःक्वापि।
   भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण
   निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।।
   हेमचन्द्र : काव्यानुशासन
   अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

वर्जित किया है।[1] आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्षक को दोष कहा है। उद्देश्य की प्रतीति का विघातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्षक है। मुख्यार्थ है रस।[2] आचार्य विश्वनाथ भी मुख्य अर्थ के अपकर्ष करनेवाले तत्व को दोष कहते हैं।[3] रस का विघात तीन प्रकार से होता है—(१) रस की प्रतीति में विलम्ब, (२) अवरोध द्वारा, तथा (३) रस-प्रतीति में पूर्ण विघात। काव्य का प्रमुख तत्व रस है और रस के अपकर्ष करने वाले तत्व को काव्यदोष कहना सर्वथा उचित है। क्योंकि जब रस सदोष होगा, काव्य का मूलतत्व ही त्रुटिपूर्ण और सदोष है तब अन्य तत्व शब्द और अर्थ का कहना ही क्या। शब्द और अर्थ से निष्पन्न काव्य काव्यानन्द दे सकेगा; इसमें संदेह ही है।

हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने मम्मट आदि के आधार पर ही काव्य के दोषों का विवेचन किया है। हिन्दी के आचार्यों में केशवदास 'कविप्रिया' में कहते हैं कि 'दूषण सहित कवित्त' से बचना चाहिए। पूर्ण लक्षण इस प्रकार है—"प्रभु न कृतघनी सेइये, दूषण सहित कवित्त।" श्रीपति ने 'काव्य-सरोज' के चतुथ दल में दोषों का विवेचन किया है। उनकी दोष की परिभाषा इस प्रकार है—

जा पदार्थ के दोष तें आछे कवित्त नसाइ।
दूषन तासों कहत हैं श्रीपति पण्डित राइ॥

चिन्तामणि कविकल्पतरु में शब्द, अर्थ और रस के विघातक तत्वों को दोष कहते हैं—

शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दीन कहत है ताहि कौ सुने घटतु है हर्ष।

---

१. अग्निपुराण संक्षेपाद्......गुणवद्दोष वर्जितम्॥
२. मम्मट : काव्यप्रकाश ७।४६
मुख्यार्थं हृतिर्दोषोरसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण ७। दोषास्तस्यापकर्षका:

कुलपति मिश्र के अनुसार रस निष्पत्ति का बाधकतत्व दोष है—

शब्द अर्थ में प्रकट ह्वै रस समुझन नहिं देय।
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हरि लेय॥

भिखारीदास के अनुसार शब्द, वाक्य, रस और अर्थ में दोष होता है, इनसे बचकर कविता करनी चाहिए—

दोष शब्द हूँ, वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होय।
तेहि तजि कविताई करैं, सज्जन सुमती सोय॥

प्रतापसाहि काव्यविलास में मुख्यार्थ के बाधक तत्व को दोष कहते हैं—

अथ बोध के मुख्य में, घात करत जो होई।
ताको दूषण कहत है शब्द अर्थ रस सोई॥

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम कह सकते हैं कि हिन्दी के आचार्यों की दोष-विषयक मान्यता संस्कृत काव्यशास्त्रोपजीवि है। इन हिन्दी के आचार्यों ने मुख्यार्थ (रस) के बाधक तत्व के रूप में काव्यदोषों को स्वीकार किया है।

दोष-भेद—नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने दोषों की संख्या दस मानी है, उनके नाम ये हैं—अगूढ़, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि, और शब्दहीन।[1] भामह ने तीन प्रकार के दोषों की चर्चा की है[2]—सामान्य दोष, वाणीदोष, और अन्य दोष। सामान्य दोष निम्न हैं—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त और गूढ़ शब्द। वाणी-दोष—श्रुतिकटु, अर्थ-दुष्ट, कल्पना तथा श्रुति-दुष्ट। अन्यदोष—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत, विसन्धि, देशविरुद्ध कालविरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन। भामह के अनुसार उपर्युक्त समस्त दोष एक-दूसरे में समन्वित होकर ग्यारह रह जाते हैं। दण्डी के अनुसार (काव्यादर्श ३।१२५-२६) निम्न काव्यदोष हैं—(१) निरर्थक, (१) विरुद्धार्थक, (३) अभिन्नार्थक (४) संशययुक्त, (५) अपेक्षित शब्दहीन, (६) यतिभ्रष्ट, (७) असमवृत्त, (८) सन्धिरहित, (९) स्थान-समय-कला-लोक-न्यास, और आगम का विरोध। (१०) अपक्रमम्। आचार्य वामन ने पूर्वोक्त आचार्यों

---

१. ना० शा० १७।८८;

२. काव्यालंकार (भा०) १।३७, ४७; ४।१; ५।६०;

की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। वामन के अनुसार दोष दो प्रकार के शब्दगत और अर्थगत होते हैं। इनके भी चार भेद पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष, और वाक्यार्थ-दोष हैं। इन्होंने शब्दगत दोषों के तीन भेद पदगत, पदार्थगत, और वाक्यगत किये हैं। तथा अर्थगत के दो भेद पदार्थगत और वाक्यार्थगत माने हैं। काव्य के दोषों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं मान्य विवेचन काव्यप्रकाशकार मम्मट ने किया है। मम्मट के अनुसार काव्य-दोष तीन प्रकार के—शब्द-दोष, अर्थ-दोष तथा रस-दोष होते हैं। पद, पदांश और वाक्यगत दोषों का परिगणन मम्मट शब्द-दोषों में ही करते हैं। मम्मट ने शब्ददोष सैंतीस, अर्थदोष तेईस और रसदोष दस माने हैं। शब्दकोष के अन्तर्गत पद-दोष निम्न हैं—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ (पदगत-समासगत), क्लिष्ट, अविमृष्ट-विधेयांश, विरुद्धमतिकृत। उपर्युक्त सोलह दोषों में से च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक दोष को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्य में भी होते हैं। पदांशदोष निम्न हैं—श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गलदायी, अश्लील, सन्दिग्ध, नेयार्थ।

वाक्यगत दोष—प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्थान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग, अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद, अपदस्थ समास, सङ्कीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत भग्नप्रक्रम, अक्तम, अमतपरार्थ।

अर्थदोष--(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) सन्दिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) सनियमपरिवृत्त, (१३) अनियमपरिवृत्त, (१४) विशेषपरिवृत्त, (१५) अविशेषपरिवृत्त, (१६) साकांक्ष, (१७) अपदयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशित विरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादयुक्त, (२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत, तथा (२३) अश्लीलअर्थ दुष्ट।

रसदोष—(१) व्यभिचारीभाव, रस तथा स्थायीभावों का स्वशब्द द्वारा कथन, (२) अनुभाव, विभाव की कष्ट-कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति, (३) प्रतिकूल

विभाव आदि का ग्रहण, (४) बार-बार दीप्ति, (५) अनवसर रस का विस्तार (६) रस का अनवसर विच्छेद, (७) अङ्ग या अप्रधान का विस्तार, (८) अंगी की उपेक्षा, (९) प्रकृति का विपर्यय, (१०) अनङ्ग का वर्णन।

ध्वन्यालोककार ने रस-विषयक दोषों का विवेचन करते समय 'दोष' को 'अनौचित्य' शब्द से अभिहित किया है।

हिन्दी के काव्यशास्त्रियों ने भी दोषों पर विस्तार से विचार किया है। केशवदास ने 'कविप्रिया' में बाईस दोषों का विवेचन किया है।[1] चिन्तामणि ने शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोषों का विवेचन किया है।[2] कुलपति मिश्र ने इस विषय में चिन्तामणि का अनुकरण किया है।[3] सोमनाथ उपर्युक्त तीन प्रकार के दोषों के अतिरिक्त 'वृत्तदोष' नामक अन्य दोषों को भी स्वीकार करते हैं।[4] भिखारीदास शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत तथा रसगत दोषों को मानते हैं।[5]

निष्कर्ष यह है कि काव्य-सौंदर्य को हानि पहुँचाने वाले तत्व का नाम दोष है। किन्तु दोष सर्वत्र दोष नहीं रहते, उनका परिहार भी हो जाता हैं। केवल उनका परिहार ही नहीं, वे कभी-कभी गुण भी हो जाते हैं, काव्य-सौंदर्य का उत्कर्ष भी कर देते हैं और कवि की वाणी का चमत्कार कहलाते हैं, किंतु यह तभी होता है जबकि कवि सावधानी से कार्य करता है। अतः कहा जा सकता है कि दोष काव्य में अनित्य ही हैं।

प्रश्न १३—कविता के उपकरण (तत्व) क्या हैं, इनका स्पष्ट विवेचन कीजिए।

काव्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने काव्य के लक्षणों को लिखकर दिया है, किन्तु काव्य की परिभाषाएँ व्यक्ति, देश, काल आदि सापेक्ष हैं, अतः वे पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण हैं। काव्य की आत्मा के निर्धारण-प्रसङ्ग

---

१. केशव : कविप्रिया तृतीय, अध्याय
२. चिन्तामणि : कविकुल-कल्पतरु, चतुर्थ प्रकरण
३. कुलपति : रस-रहस्य, पंचम प्रकरण
४. सोमनाथ : रस-पीयूष-निधि, इक्कीसवाँ तरण
५. भिखारीदास : काव्यनिर्णय

में भी आचार्यों ने काव्य, उसकी आत्मा और उपकरणों की ओर संकेत किया है। उसके द्वारा भी काव्य के तत्वों का स्पष्ट निर्देश नहीं मिला है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि भाव और भाषाशैली काव्य के अनिवार्य उपकरण हैं। "स्पृहणीय सुन्दर भाव ही काव्य-साहित्य का मूलतत्व है और उसकी अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम भाषा-शैली है। रस-भाव या उदात्त भाव काव्य का प्राणतत्व है तो भाषा-शैली उसका शरीरतत्व है।" वास्तव में यही दो तत्व काव्य के प्रधान उपकरण या तत्व हैं किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पनातत्व को विशेष महत्व दिया है। भाव के अन्तर्गत ही बुद्धितत्व या विचारतत्व का भी समावेश हो जाता है किन्तु विद्वानों ने इन दोनों तत्वों में पार्थक्य मान कर इन्हें दो तत्व स्वीकार किया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने काव्य में तीन प्रधान उपकरण या तत्व माने हैं, उनका विचार है कि—

(१) "बुद्धितत्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक या कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी वृत्ति में अभिव्यक्त करता है। (२) रागात्मक तत्व अर्थात् वे भाव जिनका उसको काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है तथा (३) कल्पनातत्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति जिसे वह अपनी वृत्ति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।" किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने चार तत्व माने हैं, उनके नाम हैं—(१) बुद्धितत्व, (२) भावतत्व, (३) कल्पनातत्व, (४) कला या शैली (भाषा-शैली)।

काव्य बुद्धि, भाव, कल्पना और भाषा-शैली का समन्वित परिणाम है। एक के अभाव में काव्य का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। किन्तु हम किस तत्व को प्रधान मानें और किसे अप्रधान। हमारे विचार से सर्वाधिक प्रधान तत्व भाव है "काव्य में भावतत्व की ही प्रधानता प्रतीत होती है, बुद्धितत्व का स्थान गौण होता है। बुद्धितत्व के अभाव में काव्य का कोई न कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मांस के शिथिल श्लथ के सदृश ही क्यों न हो। किन्तु केवल बुद्धितत्व कभी काव्य का विधान नहीं कर सकता।

वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थिपंजार के सदृश ही प्रतीत होगा। इस लिए काव्य में बुद्धितत्व सदैव ही भावाश्रित रहता है।" इसी बात को मेरी Merry नामक पाश्चात्य विद्वान् ने इस प्रकार लिखा है—

In literature there is, no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion." (The Problem of Style, Page 73.)

"अर्थात् साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।"

(शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ ७६.)

बुद्धितत्व का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है, वह कवि को विचारसम्पदा प्रदान करता है। कवि के दृष्टिकोण को स्वस्थ दिशा देने का कार्य भी बुद्धि-का है। वह जीवन और जगत् के चिरन्तन सत्यों को मूर्त रूप प्रदान करने में सहयोग देता है। बुद्धितत्व उचितानुचित के विवेक का कार्य भी करता है। डा० त्रिगुणायत ने बुद्धि के निम्न कार्य स्वीकार किये हैं—

(१) भावों का आधारभूमि के रूप में,

(२) भावों को स्पष्टतर करने के लिए,

(३) लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में,

(४) भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में,

(५) भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य में बुद्धितत्व का विशेष महत्व है; उसके द्वारा ही काव्य की रूपरेखा व्यवस्थित होती है। वह कल्पना की उन्मुक्त गति को संयमित करता है, और काव्य को लोकमंगल का विधायक वनने के लिए वाध्य करता है।

भावतत्व—भाव या रस काव्य का प्राण है। यह भाव ही काव्य का आधार है। इसी भावतत्व की पूर्ण परिणति के लिए अन्य तत्वों का प्रयोग किया जाता है। भावतत्व ही काव्य का ऐसा एक अनिवार्य तत्व है जिसके महत्व को सभी स्वीकार करते हैं, यही तत्व काव्य की मूलभूत एकता की प्रतिष्ठा करता

है। "मनोवेग, जिन्हें साधारणतः भाव ही कहा जाता है, काव्य के भाव-पक्ष के प्राण हैं। कवि की संस्कारजन्य प्रतिभा जीवन के विविध वातावरणों के मार्मिक चित्रों को आत्मसात् करती रहती है। मनोवेगों के किसी विशेष उद्रेक द्वारा यह एकत्रित चित्र वाग्धारा के माध्यम से काव्य का निर्माण करते हैं। काव्य के कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्व और शैलीतत्व यह तीनों तत्व भावतत्व पर आश्रित हैं।" भाव ही कवि-कल्पना का प्रेरक तत्व है। वह काव्य में प्रभाव उत्पन्न करता है। वही वास्तव में काव्य है, वही संगीतात्मकता का प्रेरक है। निःसन्देह भाव ही काव्य का मूलतत्व है। उसी तत्व की सहायता के लिए अन्य तत्वों का प्रयोग होता है। श्रेष्ठ काव्य के निर्माण के लिए भावों में उदात्तता, गहनता और विस्तार होना आवश्यक है।

भाषा-शैली तत्व—कल्पना, बुद्धि और भाव-तत्व की तरह शैली तत्व भी काव्य का अनिवार्य तत्व है। भाव आत्मतत्व है तो भाषा-शैली शरीर-तत्व। भावार्थ जब शब्दार्थ रूप ग्रहण करता है तभी वह साहित्य रूप को ग्रहण करता है। "काव्य का शैली तत्व मनोगत भावों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला सहज साधन है। शैली काव्य के वाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में सहायक होती। है भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैली-गत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्व रखती है।" निश्चय ही ही शब्द और अर्थ प्रत्येक साहित्यकार की अपनी सम्पत्ति होते हैं किन्तु जो उनका समुचित प्रयोग करना जानता है करता है और महान् साहित्यकार के पद को अभिषिक्त करता है।

कल्पना-तत्व—काव्य के तत्वों में एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व कल्पना है। काव्य रूप की सृष्टि करने वाली शक्ति कल्पना ही है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को समक्ष प्रस्तुत करने का काम कल्पना करती है। यह अमूर्त्त को मूर्त्त रूप प्रदान करती है। पात्रों के चरित्र की सृष्टि करती है। विभिन्न भावों के चित्र

अंकित करना भी इसी कल्पना का कार्य है। भूत, भविष्य और वर्तमान का साक्षात्कार हम कल्पना के द्वारा ही करते हैं' अतः काव्य में कल्पना का महत्व स्वयं सिद्ध है। कल्पना से उत्पन्न चित्र ही भावों को उत्तेजित करते हैं, भाषा-शैली उन्हें शब्द रूप प्रदान करती है। "सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को, चेष्टा, क्रियाकलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन, तीव्रता और प्रभाव को कल्पना की सहायता के विना पूर्णतया प्रगट नहीं किया जा सकता! कल्पना की चल-चित्रावली जव उद्घाटित होने लगती है, तव अनुभूत, अतीत जीवन की झाँकियाँ हमारे सामने नाचने लगती हैं। जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है उसी प्रकार कल्पना की झाँकी भी मधुर और संवेद्य हैं। सुख या दुःख चाहे जिसके चित्र यह कल्पना की चित्रा-वली प्रस्तुत करें हम उसे देखने की अटूट तृष्णा से ओत-प्रोत हैं। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है।" शेक्सपीयर ने इसी लिए लिखा भी है कि—The lunatic, the lover and the poet are of imagination all compact." अर्थात् उन्मत्त प्रेमी और कवि का कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कल्पना को प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही काव्य-संसार तथा उनके काव्यशास्त्र महत्व प्रदान करते हैं।

काव्य के इन भाव, कल्पना बुद्धि और भाषा-शैली नामक चारों तत्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे को पूर्णता प्रदान कर काव्य का रूप ग्रहण करते हैं। डा० कृष्णदेव झारी ने लिखा है कि "कल्पना, शैली और विचार-तत्व मूल उदात्त भाव-तत्व की श्रेष्ठ सिद्धि में ही सहायक होते हैं। कल्पना भाव को पुष्ट करती है, उसकी नई-नई सामग्री जुटाती है, नए नए चित्र उपस्थित कर भाव एवं कला दोनों को बल देती है कल्पना का सम्बन्ध मानसिक सृष्टि से है। बुद्धितत्व कल्पना को उच्छृङ्खल वनने से रोकता है और भावों को उदात्त बनाता है। बुद्धि-तत्व से काव्य में सत्यं और शिवं की रक्षा होती है, तो कल्पना और भावतत्व से सुन्दरम् का निर्माण होता है। कल्पना से सुन्दरम् का शरीर निर्मित होता है तो भावों में उसकी आत्मा रहती है। शैली अभिव्यक्ति का माध्यम है इसी से तो कवि के

हृदय के साथ पाठक के हृदय का सहस्पन्दन होता है।"

प्रश्न १४—काव्य में कल्पना तत्व, को स्पष्ट करते हुए स्वरूप, कार्य और उसके भेदों का विवेचन कीजिए।

काव्य ही नहीं, प्रत्येक कला का जन्म कल्पना के कारण ही संभव हो पाता है। प्रत्येक कला में यथार्थ तथा कल्पना का समन्वय ही कला-सृष्टि के लिये उत्तरदायी है। हमें इन्द्रियों की संवेदना से जो प्रत्यक्षीकरण (Perception) होता है उसे हम प्रत्यक्ष ज्ञान या यथार्थ का ज्ञान कहते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में भी नाना प्रकार के रमणीय एवं भयानक, सुखद एवं दुःखद चित्र जो मन के सामने उपस्थित हो जाते हैं यह कल्पना का ही व्यापार है। कल्पना पूर्वानुभूत वस्तुओं को नवीन परिधान एवं रंग-रूप में हमारे समाने उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता रखती है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने काव्यानन्द को अलौकिक कह कर लौकिक अनुभव से उसकी जो भिन्नता प्रकट की है उसका तात्पर्य यही है कि काव्य में लौकिक अनुभूति कल्पना द्वारा पुनर्सृजन को प्राप्त होकर एक सर्वथा नवीन अनुभूति वन जाती है जो ब्रह्मास्वाद न होकर भी ब्रह्मास्वाद-सहोदर अवश्य है। कवि की कल्पना शक्ति के कारण ही आचार्य मम्मट ने कवि की सृष्टि को "नियतिकृत नियम-रहिताम्" कहा है। कवि जब किसी भौतिक संवेदना को ग्रहण करता है तो उसकी कल्पना- शक्ति उस संवेदना का इस प्रकार पुनर्निर्माण करती है कि वह सर्वथा एक नवीन वस्तु वन जाती है। इसलिये वाल्मीकि की 'सीता उस सीता से भिन्न है जो जनकनंदिनी थी, तुलसी के राम तुलसी के मानसपुत्र हैं वे दाशरथीराम नहीं हैं।

सामान्य व्यक्ति किसी करुणाजनक दृश्य को देखकर करुणा का अनुभव तो करता है किन्तु उसका यह अनुभव काव्य में करुण रस नहीं वन पाता। ऐसा क्यों है? क्योंकि काव्य के सृजन के लिये अनुभूति के साथ उस कल्पना-शक्ति की भी नितान्त आवश्यकता होती है जो हमारी सीमित भौतिक अनुभूति को व्यापक सामान्य के साथ जोड़ती है। जब तक उस अनुभूति को मानव मात्र की अनुभूति नहीं बनाया जायेगा तब तक वह काव्य बनेगा कैसे? इसी को

आचार्य शुक्ल ने आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण कहा है। कल्पना एक अनुभूति के साथ विभिन्न बिम्बों (Images) का सम्बन्ध जोड़ती है। सभी अनुभूतियों के पारस्परिक विरोध (Contradictions) का परिहार करके समन्वय स्थापित करती है और कभी उन्हें सर्वथा नवीन रूप एवं सौन्दर्य से मंडित करके उपस्थित करती है। इस प्रकार काव्य में सौन्दर्यतत्व का जन्म कल्पना से ही होता है। कल्पना के ही कारण खण्डित अनुभूतियाँ संश्लिष्ट चित्रों के रूप में उपस्थित होती हैं और कल्पना के ही कारण लौकिक जीवन के दुःखद भाव शोक, भय, घृणा, क्रोध आदि काव्य में रस-रूप में परिणत होकर आनन्द-रूप ही हो जाते हैं। कवि किसी वस्तु को देखने के साथ-साथ अपनी कल्पना की आँखों से उस व्यापक सत्य को भी उस वस्तु के साथ देख लेता है जो उस वस्तु में ऊपर दिखाई नहीं देता, जिसे देखने के लिये अंतर्दृष्टि चाहिये। यही अंतर्दृष्टि अपनी आत्मा के सौन्दर्य को उस पदार्थ-विशेष की अनुभूति के साथ जोड़ देती है। इस प्रकार उस पदार्थ का भौतिक रूप एक अभौतिक, अलौकिक सौन्दर्य में बदल जाता है। हमारे आचार्यों ने काव्य के हेतुओं में प्रतिभा को सर्वप्रथम और प्रमुख रूप में गिनाया है। यह प्रतिभा व्यक्ति की अद्भुत कल्पना-शक्ति ही है। कल्पना की आवश्यकता काव्य के सृजनकर्ता के लिये ही नहीं है वरन् यह भावुक या सहृदय में भी होनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना-शक्ति एक जैसी नहीं होती किन्तु हर व्यक्ति में कल्पना-शक्ति होती अवश्य है काव्य के श्रोता या पाठक में जितनी दूर तक कल्पना की क्षमता होगी वह काव्य को इतनी दूर तक हृदयंगम कर सकेगा। कालिदास के विरही यक्ष की पीड़ा की अनुभूति हमें तब तक हो ही नहीं सकती जब तक हमारे अंदर कल्पना की वह क्षमता नहीं जिससे हम यक्ष के हृदय में प्रवेश कर सकें। महाश्वेता और मातंगकन्या के सौन्दर्य की मूर्ति हमारे मन के सामने तब तक उपस्थित ही नहीं हो सकती जब तक बाणभट्ट जैसी कल्पना-शक्ति के हम धनी नहीं। काव्य के सृजन एवं आस्वाद दोनों के लिये कल्पना-शक्ति की अपेक्षित मात्रा काव्य के प्रकार पर निर्भर करती है। अभिधामूलक काव्य का सृजन एवं आस्वाद कम कल्पना-शक्ति वाले व्यक्ति के लिये संभव है

किन्तु जिस काव्य में लक्षणा एवं व्यंजना की प्रधानता है उसके सृजन एवं आस्वाद दोनों के लिये अधिक कल्पना-क्षमता की अपेक्षा है। इसीलिये यह सम्भव है कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का रसज्ञ सहृदय पंत जी के काव्य का पूर्ण आस्वाद ग्रहण न कर सके।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कल्पना-शक्ति को नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा आदि कहकर कवित्व का प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है। अलंकार-विधान का जन्म भी कल्पना से ही होता है। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि प्रधानतः रसवादी होने के कारण कल्पना को भाव का साधन स्वीकार किया गया है। इसी चिंतन-परंपरा का परिपाक हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निम्नलिखित शब्दों में पाते हैं—

"काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है...कल्पना उसकी सहयोगिनी है।"

किन्तु पाश्चात्य कवियों एवं काव्य-शास्त्रियों ने कल्पना को व्यापक महत्व के साथ स्वीकार किया है और उसके महत्व का प्रतिपादन इस सीमा तक किया है कि कल्पना को काव्य के सृजन में स्वतः समर्थ तत्व स्वीकार कर लिया है। शेली के अनुसार—

"कल्पना की अभिव्यक्ति ही कला है"। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में अभि-व्यंजना (Expression) कल्पना का ही व्यापार है। उसने कल्पना (Imagination) को 'प्रातिभज्ञान' तथा ब्लेक ने 'विशुद्ध अंतर्दृष्टि' कहकर पुकारा है। वर्ड्सवर्थ ने काव्य की निम्नलिखित प्रसिद्ध परिभाषा दी है—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings taking it's origin from emotions recollected in tranquillity." इसमें भी कल्पना को ही प्रधानता प्रदान की गयी है।

काव्य में कल्पना के विभिन्न कार्य हैं—ऐक्य विधान अर्थात् अंतर और बाह्य में ऐक्य स्थापित करना।

पुनर्सृजन करना—स्मृति द्वारा पूर्वानुभूत पदार्थों के नवीन रूप का निर्माण करना।

समाहार—कल्पना ही के भरोसे पर कवि काव्य में विभिन्न प्रसंगों की उद्भावना करता है।

अलंकार-विधान—कल्पना द्वारा ही अप्रस्तुत पक्ष को प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ मुख की कमल से तुलना, मुख में कमल की सम्भावना, सन्देह अथवा मुख पर कमल का आरोप कल्पना ही द्वारा सम्भव है।

कल्पना के विभिन्न भेद विभिन्न आधारों पर किये जा सकते हैं। यथा (क) पुनरावृत्यात्मक कल्पना (Reproductive imagination) जब कल्पना द्वारा पिछले दृश्य जैसे के तैसे दुहराये जाते हैं।

(ख) सृजनात्मक कल्पना (Creative imagination) जब पूर्वानुभवों से नवीन योग बनाये जाते हैं। जैसे हमने स्त्री और पक्षियों को अलग-अलग देखा है किन्तु दोनों के योग से कल्पना एक नवीन चित्र परी का निर्माण कर देती है।

इसी प्रकार कल्पना के साथ संकल्प के योग को आधार मानकर इसे (क) संकल्पित (Active) तथा (ख) असंकल्पित (Passive), दो भागों में बाँटा जा सकता है। जिस कल्पना के पीछे मानसिक प्रयास रहता है उसे संकल्पित या सक्रिय और जिसके पीछे कोई मानसिक प्रयास नहीं होता उसे असंकल्पित या निष्क्रिय कल्पना कहा जाता है। दिवास्वप्नों में जो कल्पना होती है वह इसी कोटि की कल्पना है। इसी को स्वच्छंद कल्पना (Fancy) भी कहा गया है।

विभिन्न इन्द्रियों से प्रदत्त संवेदनाओं या ज्ञान के ही समान कल्पना भी उतने प्रकार की मानी जा सकती है। चित्रों (दृश्यों) के निर्माण में दृष्टि-कल्पना, ध्वनियों से सम्बन्धित ध्वनि-कल्पना, घ्राण से सम्बन्ध रखने वाली गंध-कल्पना, तथा इसी प्रकार स्पर्श एवं स्वाद-कल्पना भी है।

इस प्रकार काव्य में कल्पना का प्रमुख स्थान है और कवि-कर्म एवं भावना दोनों के लिये वह समान रूप से आवश्यक है फिर भी कल्पना और यथार्थ का समन्वय ही काव्य को श्रेष्ठ बनाता है। यथातथ्य चित्रण यदि अकाव्य है तो

उन्मुक्त कल्पना (Free imagination), जो भावानुभूति की उपकारी न हो, को भी काव्य के क्षेत्र से वाहर ही समझना चाहिए ।

प्रश्न १५—काव्य में प्रकृति-चित्रण विषय पर एक लघु लेख लिखिये ।

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) के इस उद्धरण के मानवीय सृष्टि एवं शेष सृष्टि में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्थापना, विवेचना और व्याख्या में काव्य महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। ईश्वरीय सृष्टि की प्रकृति और पुरुष दूसरे शब्दों में मानव सृष्टि एवं मानवेतर सृष्टि दो अन्यतम विभूतियाँ हैं। दोनों का साहचर्य जीवन में निरन्तर रहा है। भले ही आज सभ्यता के विकास के मिथ्याभिमान में मानव प्रकृति से दूर जा पड़ा हो किन्तु सत्य यह है कि सभ्यता के प्रभाव में मानव मानवेतर सृष्टि पर ही आधारित था। और यह भी सत्य है कि मानव हृदय की रागात्मक वृत्तियों को प्रकृति का सौन्दर्य अपनी ओर वरवस आकृष्ट कर लेता है क्योंकि प्रकृति अनादि काल से मानव की सहचरी रही है। जन्म लेकर मानव ने जब नेत्रोन्मीलन किया तो उसे एक ओर ऊपर नीलगगन दिखाई पड़ा, पैरों तले उसने पृथ्वी का स्पर्श किया तो दूसरी ओर लहलहाते लतागुल्मों तथा पादप श्रेणियों से निःसृत मन्द सुगन्ध पवन का सेवन किया। प्रकृति की गोद में जन्म लेते ही पादपों ने फलदान द्वारा तथा निर्झरों ने निर्मल एवं शीतल जल द्वारा उसकी सहजवृत्तियों का समाधान किया। हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वत श्रेणियों, अगाध-जल-राशि, सूर्य की प्रखर किरणों, वर्षाकालीन मेघों के गर्जन-तर्जन, करका क्रन्दन को सुनकर मानव निश्चय ही आश्चर्यचकित विस्मित हुआ होगा। वहीं से मानव के मुख के जिज्ञासावश कस्मै देवाय हविषा विधेम जैसी स्तुतियाँ भी निकली होंगी, फिर क्रमशः भय और आश्चर्य के स्थान पर प्रकृति उसके चिन्तन-मनन का विषय बनी होगी। और यह भी निश्चय है कि प्रकृति के सौम्य रूप के दर्शन से उसके हृदय में आशा का उदय हुआ होगा। फलतः मानव ने प्रकृति के मंगलकारी अंगों—सूर्य, चन्द्र, जलद, मारुत आदि में तत्व की प्रतिष्ठा कर ली। देवत्व की स्थापना के साथ

सौन्दर्य का भी योग हो गया। इस प्रकार मानव हृदय में प्रकृति के प्रति पूज्य-भाव का आविर्भाव हुआ, प्रकृति के विविध अङ्गों को दिव्यनाम देकर उसने उनका गुणगान किया। वेदादि आर्ष ग्रन्थ इन स्तुतियों से सम्भृत हैं। वैदिक ऋषियों की नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा द्वारा कृत प्रकृति चित्रण ऋग्वेद के पृथ्वी-सूक्त, उषासूक्त आदि अनेक सूक्तों में देखा जा सकता है, जिसमें वैदिक ऋषियों की मनोरम रहस्यात्मक भावाभिव्यक्तियों का चरम निदर्शन प्रस्तुत है। इस अंश को हम रहस्यात्मक प्रकृति चित्रणके अन्तर्गत मान सकते हैं।

रामायण, महाभारत में प्रकृति के अनेक रम्य स्थल हैं। आदिकवि ने प्रकृति के एक पक्षी के दुःख से दुःखी होकर ही लिखा था— मानिषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः। वाल्मीकि के राम भी अपनी प्रियतमा सीता के विरह में प्रकृति से अपना दुःख निवेदन करते फिरते थे और प्रकृति भी उनका दुःख बँटाने के लिए रो पड़ी थी—

जलप्रपाताश्रुमुखाः शृंगैरुच्छ्रित बाहवः।

संस्कृत साहित्य का अधिकांश सृजन तपस्वी ऋषियों द्वारा ही हुआ है। वे ऋषि प्रकृति को गोद में जन्म लेते थे और प्रकृति की गोद में ही उनका लालन-पालन और वर्द्धन होता था। यही कारण है कि संस्कृत-काव्यों में हमें प्रकृति के विविध रूपों के मार्मिक शैली में हृदयहारी संश्लिष्ट वर्णन मिल जाते हैं जो कि अपने में अद्वितीय हैं।

वौद्धकाल में 'मारविजय' में भगवान बुद्ध की कामदेव पर विजय के सम्बन्ध में प्रकृति के अनेक सौम्य चित्र उपस्थित किए गए हैं।

गुप्तकाल में कालिदास ने भी प्रकृति का संश्लिष्ट आलम्बन रूप में अंकन किया है। कालिदास का 'मेघदूत' प्रकृति का मनोहारी मंजुल रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है, जहाँ आलम्बन, उद्दीपन, अलंकृत रूप में तो चित्र हैं ही किन्तु प्रधानता आलम्बन रूप की ही है। कवि का 'कुमारसम्भव' प्रकृति नटी के ललित रूप की रमणीय रङ्गशाला है। 'रघुवंश' में भी प्रकृति-चित्रण का अभाव नहीं है।

संस्कृत साहित्य में भवभूति तो प्रकति चित्रण के अनुपम कलाकार हैं।

उनकी रचनाओं में प्रकृति के संश्लिष्ट आलम्बन रूप में रम्य-कोमल एवं रूक्ष-भीषण सभी प्रकार के मंजुल चित्र मिलते हैं। परवर्ती काल में 'किराता-र्जुनीयम्', 'शिशुपालवध', 'नैषधीय चरित' आदि अन्य महाकाव्यों में प्रकृति के विभिन्न चित्र उपलब्ध होते हैं। 'कादम्बरी' में बाणभट्ट ने श्लिष्ट प्रकृति-चित्रण कर अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है।

किन्तु संस्कृत जैसे स्वतंत्र प्रकृति चित्रण से हिन्दी साहित्य शून्य रहा। इसका कारण एक तो महाकाव्यों का अभाव हो सकता है तथा दूसरा प्रवृत्ति। शृंगारपरक काव्य भी इसमें कुछ कारण हो सकते हैं। विद्यापति ने केवल उद्दीपन के लिए प्रकृति को अपनाया तथा जायसी ने 'बारहमासा' में मानव जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित कर प्रकृति-वर्णन प्रणाली को अत्यन्त ऊँचा उठा दिया। हिन्दी के मध्यवर्ती युग में प्रकृति वर्णन उद्दीपन रूप प्रयुक्त हुआ। आधुनिक काल में प्रकृति मुख्य वर्ण्य विषय बन बैठी।

कवियों ने प्रकृति का अवलोकन विभिन्न रूपों में किया है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति वर्णन को वर्ग विशेष की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

आलम्बन रूप में—हिन्दी साहित्य में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण आधुनिक काल की देन है। इससे पूर्व एकाध स्थलों पर ही इस रूप में चित्रण मिलता है। साहित्य जगत की इतिवृत्तात्मकता से अब का भावुक कवि किसी विराम-विश्राम स्थल की खोज करता है। उस समय सहचरी प्रकृति उसका ध्यान आकर्षित करती है। प्रकृति के नाना दृश्य कवि के हृदय को छूकर आत्मविभोर कर देते हैं और उनकी सम्पूर्ण सौम्यता, विशालता, गम्भीरता, शीतलता, विनम्रता, मूक रूप से निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती है। कवि की अपनी मनोभावना समस्त प्रकृति को समेट कर लेखनी के प्रभाव में स्वतंत्र रूप से प्रवाहित हो उठती है। आधुनिक काल में प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण मिलता है। प्रसाद की 'कामायनी' के आशा सर्ग की ये पंक्तियाँ देखिये—

"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं ।"

* * *

"अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर ।"

नाम परिगणनात्मक—आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण का यह दूसरा रूप है। इसे अनेक आलोचक प्रकृति चित्रण का रूप ही नहीं मानते हैं तो दूसरे इसे निकृष्ट कोटि में मानते हैं। यह प्रकृति-चित्रण की कवायद मात्र है। इसमें केशव पटु हैं। वैसे अन्यान्य हरिऔध, पन्त आदि में भी एकाध स्थलों पर मिल जाता है। इस वर्णन में पाठक के चित्त में प्रकृति के दृश्य का कोई चित्र उपस्थित नहीं होता है। इसमें प्रेषणीयता का अभाव है। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता है। प्रकृति का कोई चित्र जब तक पाठक को आकृष्ट न करे, उसे उत्कृष्ट कोटि का चित्र कैसे माना जाये। उदाहरणतः जायसी की निम्न पंक्तियाँ देखिये—

"लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आसपास घन इमली और घनतार खजूर।"

वस्तुतः यह नाम परिगणनात्मक चित्रण निकृष्ट कोटि का माना जाता है।

उद्दीपन रूप में—मानव की सहज प्रवृत्ति है बाह्य प्राकृतिक व्यापारों से आत्मीयता स्थापित करना। मनुष्य की चित्तवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती है। कभी तो सुख-सागर में वह इतना लीन होता है कि संसार के सर्वाधिक सुखी मनुष्यों में वह अपनी गणना करता है किन्तु फिर ऐसा भी समय आता है जब कि दुःख के काले बादल चारों ओर से उस पर छाकर उसे कुछ भी आगे देखने नहीं देते। सुख और दुःख, सयोग और वियोग, यही जीवन के दो मुख्य पहलू हैं। मानव की चित्तवृत्ति जब अधिक उत्तेजित होती है तब बाह्य पदार्थों को भी वह अपनी मनोदशा के अनुसार देखता है। इतना ही नहीं यह बाह्य व्यापार उसकी वृत्तियों को अधिक उत्तेजना प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं। यही प्रकृति का उद्दीपन रूप है। हिन्दी साहित्य में इसका प्राधान्य रहा है।

वर्षाकाल में मेघों की घोर गर्जना सुनकर तुलसी के राम का मन सीता की अनुपस्थिति में अत्यन्त भयभीत हो उठता है—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा ।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा ।।
* * *
नूतन किसलय मनहु कृसानू ।
काल निसा सम निसि ससि भानू ।।

अलंकार विधान रूप में—आरम्भ से ही कविगण अपनी नायिकाओं के शरीर को सुरम्य प्राकृतिक उपमानों से विभूषित करते आए हैं। श्याम कुन्तलों के मध्य सिन्दूरपूरित जायसी की पद्मावती की माँग, मेघों के मध्य विद्युत सी दमकती है। तुलसी की मृगशावक-नयनी सीता जनक के उपवन में जिधर दृष्टिपात करती है उधर सित सरोजों की वृष्टि होने लगती है। विद्यापति की राधा का मुख निर्माण तो चन्द्रमा का सार लेकर ही हुआ है। अब भी यह प्रणाली मिलती है। निराला, गुप्त, पन्त, प्रसाद, हरिऔध आदि ने नायिकाओं के सौंदर्य-चित्रण में प्रकृति के उपादानों का सहारा लिया। किन्तु इस प्रकार के वर्णन में कवि को आकार-साम्य एवं प्रभाव-साम्य की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। केशव के वर्णनों में आकार-साम्य तो मिल जाता है किन्तु प्रभावसाम्य नहीं मिलता। कवि को इस प्रकार के उपमानों से वचना चाहिए।

उपदेशात्मक रूप में—प्रकृति की गतिविधियों पर दृष्टिपात करने पर एक विशेष गति नियम पर हमारा ध्यान जाता है। ऋतुएँ क्रम से आती हैं। विशेष प्रकार की परिस्थितियों में विशिष्ट प्रकार के फूल कुसुमित होते हैं। सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से उदय एवं अस्त होते हैं। पददलित दूर्वा अपने अन्तर में छिपाई कोमलता का अर्पण दूसरों को करती है। वृक्ष श्रान्त क्लान्त पथिक को आश्रय दे विश्राम प्रदान करते हैं। भावुक कवि प्रकृति के इन व्यापारों को ध्यान से देखता है, इनसे वह एक प्रकार का उपदेश ग्रहण करता है। तुलसी का प्रकृति वर्णन अधिकांशतः उपदेशात्मक है—

बरसहिं जलद भूमि नियराए ।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए ।।

मानवीकरण—आधुनिक काल में प्रकृति पर चेतना का आरोप कर उसकी मानवीय भावनाओं का चित्रण किया गया है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली मुख्यतया आधुनिक काल की देन है तथापि प्रारम्भिक कवियों में भी इसके चित्र दृष्टिगत होते हैं। वेदों का उषःसूक्त भावनागत एवं आकारगत मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। वेदों में इन्द्र का मानवीकरण मिलता है। वियोगावस्था का चित्रण करने के लिए जायसी ने सरोवर का रूपक दिया है। सूर की गोपियाँ वियोगिनी की समस्त भावनाओं का आरोप यमुना पर करती हैं। पन्त की कल्पना चाँदनी को नारी का रूप प्रदान करती है। निराला ने सन्ध्या को परी का रूप दिया है। प्रसाद की उषा का मानवीकृत रूप देखिए—

> सिन्धु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
> प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥

हिन्दी के लगभग सभी प्रकृतिवादी कवियों ने प्रकृति के मानवीकरण रूप का चित्रण किया हैं।

भूमिका रूप में—प्रकृति का यह रूप विशेषतः महाकाव्यों में प्राप्त होता है। इसमें भूमिका रूप में पहले की घटनाओं का उल्लेख न करते हुए आगे की घटनाओं का वर्णन करते हैं। केशव की रामचन्द्रिका में यह रूप पाया जाता है 'प्रियप्रवास' के आरम्भ में सांध्यवर्णन भी भूमिका रूप में लिया जा सकता हैं क्योंकि उसके पश्चात् ही सायंकाल कृष्ण की मुरलिका बज उठने का उल्लेख है।

रहस्यात्मक रूप में—प्रकृति के संसर्ग में आते ही उसकी नियामिका सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। भावुक कलाकारों को प्रकृति के अणु अणु में वह अदृश्य ब्रह्म रमा हुआ प्रतीत होता है। यह प्रवृत्ति कबीर, जायसी, तुलसी आदि सन्त कवियों में पाई जाती है। कबीर की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल॥

आधुनिक काल के रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, निराला, प्रसाद आदि आते हैं। प्रसाद 'कामायनी' में एक स्थान पर प्राकृतिक उपादानों को देख अपने कुतूहल को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

विश्व देव सविता पूषा सोम मरुत चंचल पवमान।
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान।।

दूती रूप में—प्रकृति को दूती रूप में प्रस्तुत करने की कला प्राचीन है। 'मेघदूत' में कालिदास ने मेघ द्वारा यक्ष का सन्देश भेजा है। जायसी की पद्मावती भी पक्षियों द्वारा प्रिय तक सन्देशा पहुँचाना चाहती है—

"पिउ सों कहेउ संदेसड़ा हे भौंरा ! हे काग।"

सूर ने भ्रमर की कल्पना की है और आधुनिक काल में हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' में पवन दूत की। पन्त बादल को दूत बनाते हैं।

इन विभिन्न रूपों में प्रकृति-चित्रण हिन्दी साहित्य में मिलता है। आधुनिक काल में स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण की प्रधानता रही। भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पण्डित, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध तथा प्रसिद्ध छायावादी कवियों का प्रकृति प्रेम बड़े प्रशंसनीय रूप में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः भारतेन्दु-काल में प्रकृति के प्रति भाव स्पन्दन उत्पन्न हुआ; द्विवेदी-काल में प्रकृति तथा मानव के मध्य कुछ गहनता आई और दोनों का प्रगाढ़ सम्बन्ध छायावादी काव्य में संभव हुआ।

प्रश्न १६—यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का परिचय दीजिए।

साहित्य समाज का दर्पण है, दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब अंकित होता है। इस साहित्य रूपी दर्पण में मानव-जीवन एवं समाज का जितना यथार्थ चित्रण होता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। मानव-जीवन के दो पक्ष हैं एक वह जिसे हम अपनी आँखों से देखते हैं, दूसरा वह जो समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। यह निःसन्देह सच है कि जो कुछ हमें दृष्टिगत होता है, वह यथार्थ होते हुए भी प्रायः हमें इष्ट और प्रिय नहीं होता, कभी-कभी वह भयङ्कर रूप में विकृत, कुरूप और वीभत्स भी होता है।

"यथार्थवादी अनुभव की वेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में

बुरे चरित्रों की प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल-से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।

किन्तु हमारे समाज को कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना हमारे मन और मस्तिष्क में होती है, यही मनोरम कल्पना बीभत्स-यथार्थ को देख कर भी निराश नहीं होने देती, अपितु हमारी निराशा को दूर कर सुखद लोक में पहुँचा देती है। "अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है।...यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है; लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है। इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं।" (प्रेमचन्द : उपन्यास)

प्रेमचन्द के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्दजी यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय चाहते हैं। वे अति यथार्थ और अति आदर्श के विरोधी हैं। वे न तो कोरे यथार्थ को श्रेयस्कर मानते हैं और न कोरे आदर्श को। अतः वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के समर्थक हैं।

प्रेमचन्द के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि विचारकों के समक्ष यह प्रश्न सदा से उपस्थित रहा है कि साहित्य में लेखक यथार्थवादी चित्रण करे अथवा आदर्शवादी। क्योंकि दोनों ही पक्ष एकाङ्गी हैं, एक यथार्थ चित्रण कर गंदगी, मलीनता, अश्लीलता का चित्रण करता है, जो 'सत्यं' होते हुए भी

'शिवं' और 'सुन्दरम्' से दूर होता है। जब कि जीवन में 'शिवं' और 'सुन्दरम्' भी नितान्त अपेक्षित है, अनिवार्य है। किन्तु थोथा आदर्शवादी सत्य से दूर और पलायनवादी होता है, ऐसा साहित्य प्राणहीन होता है। इस पृष्ठभूमि में हम विद्वान् लेखकों के विचारों का उद्धरण देकर उनकी मान्यताओं को स्पष्ट करना चाहते हैं।

यथार्थवाद—यथार्थवादी साहित्य में जीवन का सहज स्वाभाविक यथार्थ निरूपण होता है, यह यथार्थवादी निरूपण पूर्ण होना चाहिए अन्यथा समाज को वह अधोगति की ओर ले जाने में सहयोगी होता है क्योंकि मानव मन अच्छाई की अपेक्षा बुराई की ओर अधिक अग्रसर होता है, इसीलिए यथार्थवादी कृतियाँ प्रायः लोक-कल्याणकारिणी सिद्ध नहीं होती हैं अपितु वे तद्वत कार्य करने की प्रेरणा ही प्रदान करती हैं। किन्तु यह स्थिति सर्वथा नहीं रहती है। अपितु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। इस प्रसङ्ग में प्रसाद जी ने लिखा है।

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।......जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है।...... उस व्यापक दुःख-संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।......वस्तुतः यथार्थवाद का मूलभाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है।......यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।"

(प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२०-१२२)

प्रसाद जी के इस कथन से यथार्थवाद के सम्बन्ध में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) यथार्थवादी साहित्य कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का चित्रण करता है, व्यक्ति के अभावों का चित्रण करता है। (२) उसमें समसामयिक युग के चित्रण के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख भी किया जा सकता है। (३) यथार्थवाद मानवता का विरोधी नहीं है, अपितु वह उसका सहयोगी है।

निःसन्देह साहित्य में यथार्थवाद का महत्व है, उसे साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है क्योंकि आदर्शवाद कल्पना पर आश्रित होता है अतः उसके द्वारा साहित्य का विशेष उपकार न होगा, जब हम यथार्थ की भूमि पर आदर्श को महत्व देंगे तभी वह लोकमंगलविधायक होगा, अन्यथा नहीं। यह तो सर्वविदित सत्य है कि साहित्य में आदर्श को इसलिए महत्व प्राप्त है कि वह यथार्थ की उग्रता का विरोध कर सन्तुलन बनाये रहता है। आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "ये दोनों साहित्य की चित्रण शैली के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" लगभग इसी भाव को रामेश्वर शुक्ल 'अंचल ने लिखा है, वे दोनों को आवश्यक मानते हुए लिखते हैं कि "यथार्थवाद मेरे लिए एक चित्रणशैली है, जीवनदर्शन नहीं और आदर्श-वाद मेरे निकट जीवन-हीन परम्पराओं का दास बनानेवाला मतवाद नहीं वरन् एक क्रान्तिमुखी मर्यादा है।" निःसन्देह यथार्थ या आदर्श एकांकी साहित्य का चिरन्तन आदर्श नहीं बन सकता है, दोनों ही अपने-अपने रूप में महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द ने यथार्थ के विषय में लिखा है कि "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयं-कर होता है और यथार्थ को ही आदर्श मान लें तो संसार नरक तुल्य हो जाय।" महादेवी वर्मा ने यथार्थ के गुण-दोषों की चर्चा करते हुए लिखा है कि "घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण सम्वेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने

नैतिकपतन के नग्नरूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं ।" (आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका) बाबू गुलाबराय ने यथार्थ का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखा है कि :

"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है । उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुःख की धूप-छाँह का मिश्रण रहता है । यह सामान्य भावभूमि के समतल रहकर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है । स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं ।...वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता । वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है । दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा होता है । वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है । वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिए उत्सुक रहता है...यदि वर्तमान दुःखमय है तो उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है । वह आशावादी होता है और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है ।"

इस प्रकार यथार्थवादी चित्रण में समाज की वास्तविकता का रूपायन होता है । इसमें सुख-दुःख और पाप-पुण्य का समान रूप से चित्रण होता है जब कि दूसरी ओर आदर्शवाद भविष्य की ओर निहारता है और वह आशावादी होता है । यदि केवल यथार्थवाद को ही अपनाया जायगा, तो प्रेमचन्द के कथनानुसार "यथार्थ हमको निराशावादी बना देता है ।" इसलिए वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को स्वीकार करते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि आदर्शवाद का स्वरूप और उसकी विशेषतायें क्या हैं ? आदर्शवाद अपने देश-विशेष की संस्कृति और संस्कारों पर आधारित होता है अतः उसकी अपनी कुछ सीमायें होती हैं । वह देश विशेष सापेक्ष होता है । महादेवी वर्मा ने यथार्थ और आदर्श को परस्पर सापेक्ष माना है, किन्तु वे यह स्वीकार करती हैं कि आदर्शवादी रचना में भाव-संयोजन की कठिनाई होते हुए भी अभिव्यक्ति में सहजता होती है किन्तु यथार्थवाद में ऐसी बात नहीं है ।

वहाँ तो भावना में स्पष्टता होते हुए भी अभिव्यक्ति की शैली में सहजता नहीं होती है।

"आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती।"

(आधुनिक कवि, प्र० भा०, भूमिका, पृ० २)

महादेवी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि यथार्थ और आदर्श की अपनी सीमाएँ हैं। महादेवी आदर्शवाद में कल्पना और अनुभूति तथा यथार्थवाद में भौतिकता और लोकमंगल का समन्वय देखती हैं।

"एक ओर हम यह भूल गए कि आदर्शवाद की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के फूलों का सहारा देना आवश्यक है।"

(साहित्य-सन्देश, ८ फरवरी १६४१, पृ० २७१)

निःसन्देह यह भी सत्य है कि सत्य के दो रूप हैं एक वस्तुस्थिति और दूसरा उसका इष्ट आदर्श आकार। रोम के काव्यशास्त्री होरेस का भी मत है कि "कवि अपने ज्ञान और आदर्शवादी चेतना के बल पर सांसारिक सत्य को उपयुक्त चिन्तन के अनन्तर भव्य रूप में प्रस्तुत करता है।"

आदर्शवाद के स्वरूप को व्यक्त करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—

"सामान्य शब्दप्रयोग के अनुसार आदर्शवादी वह है जो उच्च, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानों, आदर्शों को स्वीकार कर अपने तथा समाज के जीवन को उनके अनुसार ढालने का प्रयत्न करे। वह व्यक्ति भी आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष

की प्रस्तुत दशा से असन्तुष्ट होकर उसके लिये किसी नये आदर्श की कल्पना करता है। पृथ्वी पर स्वर्ग, ईश्वर का राज्य, सतयुग, रामराज्य, मनुष्य की तथाकथित आदिम पूर्णावस्था, शोषणरहित समाज आदि को स्थापित करना चाहता है। कोरा आदर्शवाद या आदर्शवादी के रूप में निन्दात्मक अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग उस समय किया जाता है, जब आदर्श एकदम असम्भव होता है या स्वयं प्रस्तावक के जीवन में उसका स्पर्श भी नहीं मिलता।"

इस प्रकार आदर्शवाद के इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि इसमें कल्पना की अधिकता होती है, उसमें मीठे-मीठे आकर्षण होते हैं, जो मानव को सद्गुणों की ओर आकृष्ट करता है, जिसमें केवल अच्छाई का निरूपण होता है। जब कि यथार्थवाद गुण-अवगुण दोनों का निरूपण करता है। आदर्शवाद में वर्ण्य विषय के गुणों को महत्व दिया जाता है, उसके गुणों पर रीझ कर आदर्शवादी अवगुणों को भी गुण मानता है। आदर्शवादी व्यक्ति का हृदय अनुराग से भरा होता है, वह एक प्रकार से कवि होता है, अतः वह उसका भव्य, मोहक तथा प्रभावशाली चित्रण करता है, जब कि यथार्थवादी आलोचक होता है। अतः उसकी दृष्टि एक स्थान पर रमने की अपेक्षा वह सर्वत्र दृष्टिपात करता है।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने यथार्थ और आदर्श का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि—

"आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति-प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जन-समाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है।' ये विशेषतायें जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति-विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है

और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक भाव जाग्रत-करता है। समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही विचारधाराओं के पक्षधर अपने-अपने वाद का समर्थन करते हैं। कुछ दोनों के समन्वय के हिमायती हैं, जोकि अधिक उचित मत है। इतना होने पर भी हम दोनों वादों के गुण-दोषों का राजनाथ शर्मा के शब्दों में इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं—

	यथार्थवाद	आदर्शवाद
गुण		
	(१) जीवन के प्रति यथार्थ, स्वभाविक और वास्तविक दृष्टि-कोण।	(१) भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव।
	(२) समाज की व्यवस्था की शक्ति-शाली प्रतिक्रिया।	(२) सामंजस्य, सुव्यवस्था, पूर्णता की ओर संकेत।
	(३) वर्णन में यथार्थता पर अधिक बल और स्पष्टता।	(३) मार्गदर्शक।
	(४) आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न।	(४) जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का प्रति-पादन।
		(५) दृढ़ता की देन।
दोष		
	(१) यथार्थवाद का दुरुपयोग।	(१) पुरानी परिपाटी का अनुकरण।
	(२) जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण।	(२) वर्तमान जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद।
	(३) गन्दे समाज द्वारा निषिद्ध घोषित विषयों का अनुराग-पूर्वक चित्रण।	(३) अस्वाभाविकता से परिपूर्ण।

(४) अर्थ-गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव ।

(४) धार्मिक संकीर्णता का समावेश ।

(५) स्वतन्त्रता की बद्धता ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यथार्थ एवं आदर्श दोनों में ही अपने-अपने गुण-दोष हैं । एक में जीवन के सत्य का, समाज का यथार्थ चित्रण है तो दूसरे में जीवन के लिए काम्य, प्रिय तथा मोहक आदर्शों की स्थापना का आग्रह है, दोनों परस्पर पूरक हैं । दोनों की साहित्य एवं समाज में उपयोगिता है ।

प्रश्न १७—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' विषय पर एक लघुलेख लिखिए ।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' साहित्य जगत् में लोकप्रिय वाक्य है । भारतीय साहित्य इस सूत्र के मूलभावों से सदा से ही अनुप्राणित रहा है । इस वाक्य पर भारतीयता की गहरी छाप अंकित प्रतीत होती है परिणामतः हमें इसके अभारतीय होने का स्वप्न में भी संदेह नहीं होता है । परन्तु यह वाक्य और इसके तीनों ही शब्द भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित होते हुए भी इसका मूलतः प्रचलन विदेशी है । सर्वप्रथम इसका प्रयोग प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने यूनानी भाषा में किया था, जहाँ से अंग्रेजी साहित्य में अनुवादित होकर प्रचलित हुआ—**the truth, the good, the beautiful.** तदनन्तर महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वंगाली भाषा में इसका प्रयोग किया और वहाँ से इसका आगमन हिन्दी भाषा-साहित्य में हुआ । किंतु आज यह वाक्य हमारी भाषा और साहित्य का प्रमुख अंग वन चुका है, और साहित्य की कसौटी का आधार भी वन गया है ।

यद्यपि 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' का मूल रूप भारतीय भाषा में नहीं है, परन्तु भारतीय विचारधारा से इसका प्रगाढ़ सम्वन्ध है । इस भावना से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य अनुप्राणित है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वाणी के तप का उपदेश देते हुए कहा है कि—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहतं च तत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ।।

(गीता १७।१५)

इस श्लोक के 'सत्यं प्रियं हितं' शब्द क्रमशः सत्यं, सुन्दरम्,

शिवं के भावों की पूर्ण अभिव्यंजना कर देते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य में इस भावना को चिरकाल से महत्व दिया गया है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में हित और सुन्दर के योग को अति दुर्लभ बताया गया है—"हितं मनोहारिच दुर्लभं वचः।" निःसंदेह साहित्य इस दुर्लभ को सुलभ बनाने के कार्य को पूर्ण करता है। भारतीय त्रिदेवों की त्रिमूर्ति में विष्णु सत्य के, शंकर शिव के और ब्रह्मा सौंदर्य के प्रतीक मान्य हैं। डा० गुलाबराय ने सत्यं शिवं सुन्दरम् को ज्ञान, भावना और संकल्प नामक तीन वृत्तियों तथा ज्ञान, भक्ति और कर्म का प्रतीक बतलाया है।

यह वाक्य निश्चित ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है। आज तो यह एक आकाश-दीप की भाँति साहित्य के पथ को आलोकित कर रहा है। इसका साहित्यिक महत्व अपरिमित होते हुए भी अनेक विद्वान् इसको साहित्य की कसौटी स्वीकार नहीं करते हैं। सत्य और सौंदर्य को प्रायः सभी स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु शिवत्व पर उन्हें आस्था नहीं है किंतु यह धारणा अत्यन्त भ्रामक एवं असङ्गत है। साहित्य का 'शिवं' से उसी प्रकार अभिन्न सम्बन्ध है जिस प्रकार सत्यं और सौंदर्य से। 'शिवं' का अभिप्राय है लोकहित, लोककल्याण और ऐसे किसी भी साहित्य को उत्तम नहीं कहा जा सकता, जो लोकहित की अवज्ञा करे। लोककल्याण की भावना से आपूरित साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य कहकर विभूषित किया जा सकता है। हंसवाहिनी और वीणा-पुस्तक-धारिणी देवी सरस्वती हमारे साहित्य और काव्य की अधिष्ठात्री हैं। यह देवी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की प्रतीक है। उनका हंस नीर-क्षीर-विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक, उनकी वीणा सौंदर्य की अभिव्यक्ति करने के कारण सौंदर्य की प्रतिनिधित्वकर्त्री और उनकी पुस्तक इन दोनों का सामंजस्य स्थापित करने के कारण सत्य और हित दोनों की साधिका है अतः वह शिवं की प्रतीक है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी लिखा है कि "सत्य की पूजा सौंदर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" इस प्रकार विद्या की अधिष्ठात्री भगवती वीणा-पाणि के स्वरूप में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समावेश है और सत्साहित्य वही है जोकि इन तीनों से समन्वित होता है।

वस्तुतः सत्यं शिवं सुन्दरम् अपना पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और पूरक होने पर ही श्रेष्ठ साहित्य के साधक हैं। कर्त्तव्य की भावना सत्यं को शिवं के रंग में रंग देती है और भावना के वंधन तोड़कर वही सत्य सौंदर्य का रूप धारण करता है, सत्य उसी समय से ग्राह्य होता है अतः वह सौंदर्य से आवेष्टित होता है। असुन्दर सत्य कभी ग्राह्य नहीं होता है, कविवर पन्त ने ठीक लिखा है कि—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनाता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिवं अविकार ।।

अस्तु, यह सत्य है कि सत्य ही शिव और सौंदर्य का रूप धारण कर मधुर और हृदयग्राही वन जाता है। सौंदर्य और सत्य की अभिन्नता के सम्वन्ध में प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि कीट्स ने भी लिखा है—

Beauty is truth thruth beauty, that is all. Ye know on earth, and all ye need to know.

नारद ने शुकदेव से कहा है कि—"सत्यस्य वचनं श्रेयः" इस नारद के कथन में सत्य और शिव कों एकाकार कर दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्य शिव और सौंदर्य एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी साहित्य के प्रांगण में जव एकाकार हो जाते हैं। तव उनका उचित समन्वय ही श्रेष्ठ कला का प्रादुर्भाव कराता है।

साहित्य में 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' के महत्व का सम्यक् अवलोकन करने के पश्चात् हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन तीनों तत्वों के अभिप्राय क्या हैं। सत्य किसे कहते हैं ? क्या काव्य और संसार का सत्य एक ही है ? या इनमें कुछ अन्तर भी है।

साहित्य और सत्य का घनिष्ठ सम्वन्ध है किन्तु साहित्य का 'सत्य' इतिहास और विज्ञान के सत्य से भिन्न होता है क्योंकि इतिहास में वर्णनात्मकता होती है और विज्ञान में तथ्यों का आकलन। जब कि साहित्य में इन दोनों तत्वों

का अस्तित्व होते हुए भी वह इन दोनों से भिन्न होता है। "इतिहास का सत्य घटनाओं के इतिवृत्तात्मक वर्णन में सीमित होता है, विज्ञान का सत्य वस्तुओं के विश्लेषणात्मक एवं वास्तविक वर्णन में सन्निहित है अथवा इतिहास और विज्ञान हमें यह बताते हैं कि कौन-कौन सी घटनाएँ किस प्रकार घटीं, जीवन और संसार में कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं आदि। साहित्य का सत्य इस सत्य से भिन्न होता है। साहित्यकार का लक्ष्य इतिवृत्तात्मक वर्णन करना नहीं अपितु रसोद्रेक द्वारा आनन्द की सृष्टि करना होता है। वह यह न कह कर कि जीवन कैसा है, वह यह बताता है कि जीवन कैसा होना चाहिए अथवा जीवन कैसा हो सकता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहासकार अथवा वैज्ञानिक वस्तु का प्रत्यक्ष और यथार्थ वर्णन करता है जब कि साहित्यकार हृदयस्थ भावों के प्रभाव का वर्णन करता है। भविष्य का मार्ग दर्शन करता है। निश्चय ही वैज्ञानिक या इतिहासकार केवल सत्य के शरीर की रक्षा करता है और साहित्यकार उसकी आत्मा और उसके भव्य रूप की। "काव्यगत 'सत्य' केवल वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाने वाला 'सत्य' नहीं होता, वह सम्भाव्य सत्य भी हो सकता है। बाह्य जगत् से स्वतन्त्र चित्रों की सृष्टि करने वाली हमारे मन की शक्ति का ही दूसरा नाम 'कल्पना' है इसी सहायता से प्रतिभाशाली लेखक एवं कवि अपनी अमर रचनाएँ लिखने में समर्थ होते हैं।"

काव्य के सत्य को स्पष्ट करने के लिए हम दो उदाहरण लेकर अपने विचारों को व्यक्त करेंगे। तुलसी के 'कनकभूधराकार शरीरा' वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि कुम्भकरण का शरीर वस्तुतः सोने का पहाड़ के सदृश था अपितु उनका आशय केवल यह है कि सोने के पर्वत को देखकर हमारे हृदय पर जो चित्र अंकित होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का प्रभाव भी हमारे मनःपटल पर वैसा ही होता है। आशय हमारा यह है कि कल्पना पूर्वसंचित अनुभवों के सहयोग से कवि के समक्ष एक मनोहारी चित्र प्रस्तुत करती है। और कवि शब्द-शक्तियों के सहयोग से पाठक के सामने मनोमोहक वर्णन प्रस्तुत करता है। पाठक-श्रोता उसे यथार्थ समझ कर उसका आनन्द ग्रहण करता हुआ आनन्द के सागर में निमज्जित हो

जाता है। काव्य का अनन्द आलौकिक माना गया है, उस आनन्द का संवेदन निर्विकल्प और सविकल्पक कोटि से भिन्न अलौकिक है—"तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पक विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् ।" इसी अलौकिक आनन्द की सृष्टि करना कवि या साहित्यकार का चरम लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसका 'सत्य' कल्पनाश्रित रहता है। परिस्थिति या वस्तु-विशेष के प्रभाव को अविकल प्रस्तुत करना कवि का सत्य है। यदि वह इस कार्य में सफल रहता है तो साहित्य के सत्य का वह निर्वाह करता है। "साहित्य का सत्य भावानुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति है।

एक अन्य उदाहरण—'रामचरितमानस' में लक्ष्मणशक्ति के प्रसंग में राम ने कहा है कि लक्ष्मण मेरा सहोदर भ्राता है तथा लक्ष्मण सुमित्रा के इकलौते पुत्र हैं, जबकि यह दोनों कथन असत्य हैं, क्योंकि राम अपनी माता के एकाकी पुत्र थे, सुमित्रा के दो बेटे लक्ष्मण व शत्रुघ्न थे। यही नहीं, उसी प्रसङ्ग में राम यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा, मैं जानता तो पिता के वचन का पालन ही नहीं करता, और वन में लक्ष्मण विपत्ति को क्यों पाता—

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू ।
पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू ।।
*   *   *
अस विचारि जियँ जागहु ताता
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ।।
*   *   *
निज जननी के एक कुमारा ।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ।।

किन्तु राम के इन वचनों को असत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि ये वचन करुणा-व्यथित बन्धुवियोगी के हैं, इनमें करुण-शोक का अतिरेक व्यंजित है। कवि का यही अभिप्राय है कि करुणा के प्रवाह में मर्यादा, धैर्य और

मानसिक सन्तुलन नहीं रहता है। साहित्य का सत्य इसी की व्यंजना में निहित है।

साहित्य में 'शिवं' का अस्तित्व पर विवादास्पद है। इसी प्रसङ्ग में 'कला कला के लिए' तथा 'कला जीवन के लिए' जैसे विवादों को प्रश्रय मिला है। अनेक विद्वान साहित्य में यथार्थवाद की स्थापना पर बल देते हैं और जोवन का यथार्थ चित्रण करना-कराना अपना ध्येय मानते हैं किन्तु ये समस्त मत एकपक्षीय हैं। साहित्य में इन सभी का महत्व है। नीति और सदाचार भी साहित्य में आवश्यक हैं। किन्तु उचित रूप में उनका समावेश होना चाहिए। मम्मट ने तो स्पष्ट रूप में साहित्य का एक प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' बताया है। इस वाक्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि "आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्" अर्थात् अनर्थ निवारण भी साहित्य का एक लक्ष्य है। इसलिए 'शिवं' भी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। आचार्य शुक्ल भी काव्य में लोकमंगल को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं और इसीलिए उनकी दृष्टि से तुलसी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। साहित्य में 'शिवं' के अस्तित्व के प्रसङ्ग में आचार्य श्याम सुन्दरदास ने लिखा है कि—

"साहित्य की कृति में दुहरी गंगा भी बहती है। एक पृथ्वी की प्रत्यक्ष धारा और दूसरी आकश की स्वर्ग गंगा। आँख ऊपर उठाते ही वह छिपी हुई ज्योतिर्मयी आकाश गगा भी प्रत्यक्ष हो जाती है। जब तक दृष्टि पार्थिव शरीर पर रहती है, वह प्रकाश की अमरधारा सुदूर आकाश की छायामय वस्तु रहती है, पर दृष्टि ऊपर उठते ही वह चन्द्रतारकमयी स्वर्ग-गंगा आपसे आप चमक उठती है। वाद-विवाद का प्रश्न नहीं रह जाता। आँख के सामने ही दोनों धाराएँ आ जाती हैं। दोनों ही गंगा हैं। दोनों ही सुन्दर हैं। दोनों ही सत्य हैं। दोनों से ही हमारा भला होता है। दोनों ब्रह्म-कमण्डल से निकलती हैं। दोनों ही शिव की जटा पर ठहरी हैं। दोनों ही हमें पवित्र करती हैं, सुख देती हैं, रसमय बनाती हैं, पर अन्तर केवल इतना ही है कि एक पृथ्वी पर बहती है, उसका हम स्पर्श करते हैं और दूसरी स्वर्ग में बहती है, उसका हम दर्शन

करते हैं—अनुभव करते हैं। अनुभव इन्द्रिय-प्रधान है और द्वितीय ज्ञान-प्रधान अथवा भाव-प्रधान।'

शिवं का चित्रण और उसके द्वारा समाज का काल्यण करना साहित्य का परम अभीष्ट है। जीवन के प्रति आस्था एवं कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना को उत्पन्न करना भी शिवं है, इस प्रकार लोकमंगल-विधायक साहित्य मानव जीवन का आदर्शमय भव्य चित्र प्रस्तुत कर अपने 'शिवं' रूप को ही व्यक्त करता है, इसीलिए साहित्य 'हितेन सह' कहलाता है।

काव्य सौन्दर्य को व्यक्त करता हैं, साहित्य मानव मन अथवा वह्य संसार के सौन्दर्य को शब्द रूप प्रदान कर संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है। जो कवि या साहित्यकार काव्य के इस तत्व को सफलतापूर्वक व्यक्त कर लेता है, उसे हम सफल साहित्यकार का पद प्रदान करते हैं। "मानव-मन की पवित्रतम वृत्ति का उद्‌घाटन, आचरण के श्रेष्ठतम स्वरूप का दिग्दर्शन तथा मर्यादा के भव्यतम चित्र का चित्रण करके साहित्यकार अपनी वृत्ति से आन्तरिक सौन्दर्य के सृष्टि करता है। अलंकार-योजना, सुन्दर शब्द-विधान, उपयुक्त पद-विन्यास, भाषा-सौष्ठव आदि के द्वारा वह सौन्दर्य के वाह्य पक्ष का सृजन करता है।"

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य क्या है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि "जो जाहि भावै" वैसे सौन्दर्य की परिभाषा लिखना सरल नहीं है क्योंकि वह तो 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया' अर्थात् सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करता है। अतः सौन्दर्य की परिभाषा क्या हो सकती है। वह तो द्रष्टा के मन की वस्तु है, वह विषयीगत (Subjective) है। इसीलिए बिहारी ने लिखा है—

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ॥

किन्तु अन्य विद्वान उसे विषयगत मानते हैं तो कुछ उभयगत। इस प्रसङ्ग में विहारी की यह पंक्ति उद्धृत की जा सकती है—

रूप रिझावन हार, ये नैना रिझवार॥

निष्कर्ष रूप में हमारा अपना विचार यह है कि सौन्दर्य के विषय में विभिन्न

दृष्टिकोण हैं। आचार्य शुक्ल ने सौन्दर्य के विषय में लिखा है कि—

"कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में अति ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।"

साहित्य सत्य, शिव और सौन्दर्य का चित्रण करता है। साहित्य में तीनों का अस्तित्व सुरक्षित है। तीनों के समन्वय में साहित्य की पूर्णता है। भारतीय साहित्य में इन तीनों को समान महत्व प्राप्त है। यदि हम सूत्र रूप में कहें तो कह सकते हैं कि तीनों का अस्तित्व भिन्न न होकर अभिन्न है, इसी अभिन्नता में पूर्णता है "सत्यं, शिवं, सुन्दरं तत्वतः तीन नहीं। प्रत्यक्ष के क्षेत्र में जो सौन्दर्य है वही चिन्तन के क्षेत्र में सत्य हैं और कर्म के क्षेत्र में शिवत्व है।"

—

अध्याय | २

शब्दशक्ति

प्रश्न १८—शब्दशक्तियों का सामान्य परिचय दीजिए।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। व्याकरणशास्त्र, न्यायदर्शन, मीमांसादर्शन तथा साहित्य आदि में शब्द तथा शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में अनेक निर्णय किये जा चुके हैं। शब्द की **अभिधा, लक्षणा और व्यंजना** नामक तीन शक्तियाँ (वृत्तियाँ) चिरप्रसिद्ध हैं। मीमांसकों ने **तात्पर्या नामक** वृत्ति को भी मान्यता प्रदान की है, व्यंजना वृत्ति की स्थापना अपेक्षाकृत नवीन है। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त ने इस शब्द-शक्ति का प्रतिपादन किया और आचार्य मम्मट ने मनोयोग तथा अकाट्ययुक्तियों से व्यंजनावृत्ति की प्रतिष्ठा की है। व्यंजना साहित्यशास्त्र की प्राणदायिनी वृत्ति है।

शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध में विचार करने वाले तत्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द तथा वाक्य की सार्थकता उनके अर्थ में है। अर्थवान् शब्द ही कहलाते हैं। जिस शक्ति या व्यापार द्वारा अर्थबोध होता है उसे शब्दशक्ति कहते हैं—**'शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः'**। यह शक्ति अर्थबोधक व्यापार का मूल कारण भी कहलाती है। डा० भगीरथ मिश्र शब्दशक्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—

"शब्द की शक्ति असीम है। शब्द, उच्चारण का ही हमारे मन, कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव पड़ता है। अचार या चटनी का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है। भूत या साँप शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह प्रभाव अर्थगत है। अतः जिस शक्ति के द्वारा

शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है, वही शब्दशक्ति कहलाती है। शब्द का अर्थबोध कराने वाली शक्ति ही शब्दशक्ति है। वह एक प्रकार का शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। शब्द का व्यापार अर्थगत व्यापार है।"[१]

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि ने लिखा है कि "जो सुन पड़े सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ" अर्थात् जो सुनाई पड़े वह शब्द है, तथा उसे सुनकर जो समझ में आवे, वह उसका अर्थ है।

जितने प्रकार के शब्द होंगे, उतनी ही प्रकार की शक्तियाँ होंगी। शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के होते हैं।[२] तथा इन्हीं के अनुरूप तीन प्रकार के अर्थ—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं।[३] शब्द और अर्थ के अनुरूप ही शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना होती हैं।[४] मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट तात्पर्या नामक एक चौथी शब्द-शक्ति—तात्पर्या शक्ति भी मानते हैं।[५]

प्रश्न १६—अभिधा नामक काव्य की शब्दशक्ति का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

अभिधा—साक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाली शब्द की प्रथम शक्ति को **अभिधा** कहते हैं, वह शब्द वाचक कहलाता है।[६] मुख्य या प्रथम अर्थ की बोधक होने के कारण इस अभिधा शक्ति को **मुख्या या अग्रिमा**

---

१. भगीरथ मिश्र : काव्यशास्त्र, पृ० २२७।

२. मम्मट : काव्यप्रकाश २।५ स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा

३. वही " २।६ वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

विश्वनाथ : साहित्यदर्पण २।२ अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः।

४. वही २।३ वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः। व्यङ्ग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः।

५. मम्मट : काव्यप्रकाश २।६ तात्पर्योऽर्थोऽपि केषुचित्।

६. वही " २।७ साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।

भी कहते हैं ।[१] लोक व्यवहार में विना संकेतग्रह के शब्द को अर्थ की प्रतीति न होने के कारण संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है । अतः जिस शब्द का जहाँ जिस अर्थ में अव्यवहृत संकेत का ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक है । इसी अभिधेय अर्थ की बोधिका-वृत्ति अभिधा कही जाती है ।[२] पंडितराज जगन्नाथ "शब्द एवं अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को अभिधा कहते हैं ।"[३] सभी अर्थों का मुख होने के कारण यह मुख्य है । मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है कि "जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अर्थों से पहले इसी का बोध होता है । अतः मुख की भाँति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीत अर्थों का मुख कहते हैं । साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी अर्थों का 'मुख' होता है । इसका बोध सभी प्रकार के प्रतीत अर्थों के पूर्व ही हो जाता है, अतः इसे शब्द की प्रथमा शक्ति कहते हैं ।"[४] अभिधा के महत्व को व्यक्त करते हुए भट्टलोल्लट ने लिखा है कि वह शब्द का व्यापार बाण के समान दीर्घ-दीर्घतर होता है--सोऽयमिषोरिव-दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः ।" इस कथन के द्वारा अभिधावादी अभिधाशक्ति की असीम व्यापकता सिद्ध करते हैं ।

हिन्दी के आचार्यों में भिखारीदास काव्यनिर्णय में अभिधा का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—

> अनेकार्थ हू सब्द में एक अर्थ की व्यक्ति ।
> तेहि वाच्यारथ को कहें सज्जन अभिधासक्ति ।

---

१. साहित्यदर्पण २।४ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

२. काव्यप्रकाश २।८ स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।

३. रसगङ्गाधर, द्वितीय आनन—"शक्ताख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतोवा सम्बन्धविशेषोऽभिधा ।"

४. अभिधावृत्तिमातृका—१. 'स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुखशब्देनाभिधीयते ।'

रसपीयूषकार सोमनाथ ने लिखा है—

या अच्छर को यह अरथ ठीकहिं ये ठहराय।
जानि परै जातैं सु वह अभिधावृत्ति कहाय।।

डा० भगीरथ मिश्र ने अभिधावृत्ति के महत्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"भट्टनायक आदि अभिधा को विशेष महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि से रस की अनुभूति कराने में अभिधा शक्ति ही प्रधान है। उनके द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा रसास्वादन होता है। अतः अभिधा ही मुख्य शक्ति है। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि देव का भी कथन है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छणालीन।
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन।

उनके मत से प्राचीनों के मत के अनुसार उत्तम काव्य अभिधा में रहता है। इससे ही रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि अभिधा तथा वाच्यार्थ का महत्व है।

"...वास्तव में व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के कारण चमत्कार आता है; परन्तु वह चमत्कार होता है वाच्यार्थ में ही। अतः इस वाच्यार्थ को देने वाली अभिधा शक्ति का अपना महत्व है। अभिधा के द्वारा अर्थ निश्चित रहता है; फिर भी उसमें कल्पना आदि का चमत्कार रहता है, जैसे—

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनौं नीलमणि सैल पर आतप परयौ प्रभात।।"

अभिधा शक्ति से जिन वाचक शब्दों का अर्थ-बोध होता है, वे तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि।

(१) रूढ़ि—रूढ़ि या रूढ़ शब्द वे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती है, जो समुदाय के रूप में अर्थ की प्रतीति कराते हैं। ये शब्द अखण्डनशक्ति से अर्थ का द्योतन करते हैं। [अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढ़िः—अप्पय दीक्षित वृत्तिवार्तिक] जैसे—पेड़, चन्द्र, पशु, घर, घोड़ा आदि।

उदाहरण—अजौं तर्यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतन के संग।। (बिहारी)

इस दोहे तर्‌यौना, श्रुति, नाक, वेसर आदि रूढ़ि शब्द हैं ।

(२) यौगिक—यौगिक वे शब्द होते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है । इन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से ज्ञात होता है—[अवयव-"शक्तिमात्र-सापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योग:"—वृत्तिवार्तिक] । पाचक, नरपति, भूपति, सुधांशु आदि शब्द यौगिक हैं । भूपति शब्द भू + पति से निर्मित है । 'भू' का अर्थ पृथ्वी है और पति का अर्थ 'स्वामी' । इन दोनों को मिलाने से पृथ्वी का स्वामी अर्थ होता है ।

उदाहरण

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।।

इस उदाहरण में वृषभानुजा और हलधर यौगिक शब्द है ।

(३) योगरूढ़ि—योगरूढ़ शब्द हैं वे जो यौगिक होते हैं किन्तु उनका अर्थ रूढ़ होता है । यद्यपि प्रकृति-प्रत्यय का अर्थ अलग-अलग निकलता है, किन्तु वे एक अन्य विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करते हैं । इसमें अवयव-शक्ति और समुदाय-शक्ति दोनों ही अपना कार्य करती हैं [अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थ-प्रतिपादकत्वं योगरूढ़ि:—वृत्तवार्तिक ।]

इस प्रकार के शब्दों में पशुपति, पंकज, पयोद, चन्द्रमौलि आदि आते हैं ।

उदाहरण

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवरवदन
(रामचरित मानस)

इस पंक्ति में प्रयुक्त 'गणनायक' शब्द केवल 'गणेश' का बोधक है । अन्य किसी सेनानायक का नहीं । अतः वह योगरूढ़ि शब्द है ।

प्रश्न २०—लक्षणा शब्द शक्ति की परिभाषा लिखते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए ।

शब्द का अर्थ अभिधामात्र में ही सीमित नहीं रहता है । जब मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा आती है, तब रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है । यह अर्थ वक्ता के प्रयोग के आधार पर होता है । यदि वक्ता

का आशय अभिधागम्य नहीं होता है, तो उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ, लक्ष्यार्थ लक्षणावृत्ति से ज्ञात होता है—

'मुख्यार्थभिन्न-भिन्नार्थसूचकः लक्ष्यार्थः ।'

लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा है । वे शब्द लक्षक हैं जिनसे वह अर्थ निकलता है । आचार्य मम्मट ने लक्षणा की परिभाषा और उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।

(काव्य प्रकाश २।६)

"मुख्यार्थ का बाध-अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर रूढ़ि से अथवा प्रयोजन-विशेष से जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है ।" साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार—अभिधा-शक्ति के द्वारा जिसका बोध न किया जाय वह मुख्यार्थ कहाता है, इसका बाध होने पर अर्थात् वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर, रूढ़ि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बद्ध (युक्त) अन्य अर्थ का ज्ञान, जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे लक्षणा कहते हैं । यह शक्ति 'अर्पित' अर्थात् कल्पित (या अमुख्य) है । अभिधा की भाँति ईश्वर से उद्भावित नहीं है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।

(साहित्यदर्पण २।५)

इस प्रकार लक्षणा के व्यापार के लिए तीन तत्व आवश्यक हैं—

(१) मुख्यार्थ का बाध ।
(२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग (सम्बन्ध) ।
(३) रूढ़ि या प्रयोजन ।

मुख्यार्थ का बाध—जब मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा पड़ती है अथवा

यह ज्ञात हो कि वक्ता जिस अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, वह मुख्यार्थ के द्वारा व्यक्त नहीं होता है तब उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं ।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग या सम्बन्ध—मुख्यार्थ के बाधित होने पर, जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसका मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है । यही मुख्यार्थ का योग है ।

रूढ़ि या प्रयोजन—रूढ़ का अर्थ है प्रसिद्धि, अर्थात् किसी विशेष प्रकार से कहने का ढंग या किसी अभिप्राय विशेष के कारण वक्ता का किसी विशेष (लाक्षणिक) अर्थ को व्यक्त करना ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष यह है कि लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का परस्पर योग आवश्यक है, रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से किसी एक का होना भी आवश्यक है ।

हिन्दी के आचार्य सोमनाथ ने 'रसपीयूष' में लक्षणा का निम्न लक्षण लिखा है—

मुख्यारथ को छोड़ि कै पुनि तिहिं के ढिंग और ।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और ।।

भिखारीदास काव्यनिर्णय में लक्षणा का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—

मुख्य अर्थ के बाध तें, सब्द लाच्छनिक होत ।
रूढ़ि औ' प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत ।।

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण

उदाहरण—"कार्य में कुशल है—कर्मणिकुशलः ।" इस वाक्य में कुशल शब्द का अर्थ किसी कार्य में दक्ष है । किन्तु 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—"कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः" कुशो (घास) का लाने वाला । किन्तु इस वाक्य में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है । अतः यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हुआ है । लोक में कुशल शब्द 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) है । इस प्रकार 'कर्मणि कुशलः या कार्य में कुशल' शब्द की दक्ष अर्थ में लक्षणा है ।

• इसी प्रकार गंगा में गाँव है (गङ्गायां घोषः') किन्तु गंगा के जल के प्रवाह

में गावँ नहीं हो सकता; अतः यहाँ पर मुख्यार्थ बाधित है। इसलिए इससे सम्बद्ध 'गङ्गा किनारे घोष' है तट का सामीप्य सम्बन्ध—मुख्यार्थ का योग है। तथा अर्थ लक्षणा से ज्ञात होता है कि गङ्गा की पवित्रता और मनोरम वातावरण की अभिव्यक्ति इसका प्रयोजन है।

अन्य उदाहरण—

लाज को अचैं के, कुल धरम पचै के।
बिथा वृन्दन संचैं के भई मगन गुपाल में॥

इस उदाहरण में 'लाज को अँचै जाना' "कुलधर्म को पचाना" 'व्यथा-समूह को संचित करना' तथा 'गुपाल में डूबना' इन वाक्यों में मुख्यार्थ का बाघ है। किन्तु इस प्रकार की उक्तियाँ रूढ़ि के रूप में प्रचलित हैं। अतः यहाँ रूढ़ि के कारण लक्षणा हुई इसका अर्थ हुआ—"लाज को छोड़कर एवं कुल-धर्म की परवाह न कर तथा पीड़ा को सहते हुए मैं कृष्ण से अनुरक्त हुई।"

लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति रचतीं॥
(कामायनी)

इस उदाहरण के 'व्योम चूमती' शब्द में लक्षणा। लहरों का व्योम चूमना संभव नहीं है किन्तु इसका अर्थ है 'स्पर्श करना'। कवि इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से करता है और वह है—'प्रलय को भयंकरता बताना'। यहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रलय के समय समुद्र की लहरें आकाश को छू रही थीं।

लक्षणा के भेद—लक्षणा के अनेक भेद-उपभेदों की चर्चा काव्यशास्त्र में हुई है। आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद माने हैं—'तेन लक्षणा षड् विधा' किन्तु विश्वनाथ ने लक्षणा के सोलह मुख्य भेद माने हैं। काव्यशास्त्र में लक्षणा के अस्सी भेदों तक की चर्चा रही है। मम्मट-निर्दिष्ट लक्षणा के छः भेद निम्न हैं—

(१) गौणी लक्षणा—"जहाँ सादृश्य सम्बन्ध अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा होती है।" जैसे—मुख-कमल' इस वाक्य में मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है क्योंकि मुख कमल नहीं हो

सकता है। किन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा मुख एवं कमल के गुणों के साम्य (सुन्दरता-कोमलता) के कारण मुख को कमल कहा गया है। इस उदाहरण में लाक्षणिक अर्थ का ज्ञान सादृश्य-सम्बन्ध से हुआ है, अतः यहाँ गौणी लक्षणा है। एक अन्य उदाहरण—

"मुरलिका कर-पंकज में लसी,
जब अचानक थी बजती कभी।
तब अनूप पीयूष-प्रवाह में,
जन-समागम था अवगाहता।"

(प्रिय प्रवास)

इस उदाहरण के प्रथम चरण के 'कर-पंकज' में गौणी लक्षणा है। सादृश्य सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध हो रहा है कि हाथ कमल के समान कोमल हैं। अतः गौणी लक्षणा है।

(२) शुद्धा लक्षणा—"जहाँ सादृश्य-संबंध के अतिरिक्त किसी अन्य संबन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीत होती है। वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।" इस लक्षणा में गुण का सहारा नहीं लिया जाता है, अन्य सम्बन्धों द्वारा यह निर्मित होती है अतः इसे शुद्धा कहते हैं। वे अन्य सम्बन्ध है—आधाराधेय भाव सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध, सामीप्य सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध, अंगाङ्गि सम्बन्ध आदि।

सामीप्य संबन्ध का एक उदाहरण—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

(गुप्तजी)

इस पद में क्योंकि आँचल में दूध नहीं होता है, अतः मुख्यार्थ का बाध है। आँचल के सामीप्य के कारण स्तन में दूध का होना अर्थ ग्रहण किया जाता है। 'मातृत्व का बोध' कराना लक्षणा का प्रयोजन है। सादृश्य संबन्ध के अतिरिक्त दूसरे सामीप्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद होते हैं—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा।

(३) उपादान लक्षणा—इसका दूसरा नाम अजहत्स्वार्था भी है। "जहाँ प्रयोजनप्राप्त अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ के ग्रहण किये जाने पर भी मुख्यार्थ बना रहे (अपना अर्थ न छूटे) वहाँ उपादान लक्षणा होती है।"[१] आचार्य विश्वनाथ ने उपादान लक्षणा का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"वाक्यार्थ में अंग रूप से अपने अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ मुख्य अर्थ अन्य अर्थ का आक्षेप कराता है वहाँ आत्मा अर्थात् मुख्यार्थ के बने रहने से, उस लक्षणा को उपादान लक्षणा कहते हैं।"* उपादान लक्षणा में मुख्य अर्थ का पूर्णतः परित्याग नहीं किया जाता है अपितु उसे ग्रहण कर लिया जाता है। उपादान का शाब्दिक अर्थ है—ग्रहण करना या लेना। इन लक्षणा को अजहत्-स्वार्था भी कहते हैं क्योंकि मुख्यार्थ अपने अर्थ न छोड़ते हुए—(अजहत्) दूसरे अर्थ को भी ग्रहण (उपादान) करता है। स्वार्था (स्व+अर्थ) अपने मुख्यार्थ का त्याग न करने के कारण ही इसके ये दोनों नाम हैं। जैसे—कुन्ताः प्रविशन्ति—'भाले प्रवेश कर रहे हैं'। 'भाला' अचेतन पदार्थ है, उसका आना असम्भव है, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। किन्तु भाले को हाथ में लिए हुए व्यक्ति का प्रवेश यहाँ इष्ट है। अतः मुख्यार्थ का योग है। इस प्रकार 'भाला' अपने अर्थ को न छोड़कर भाला धारण करने वाले व्यक्ति का सूचक भी है अतः यहाँ उपादान लक्षणा है।

उदाहरण—

> खेलत ब्रज होरी सजे, बाजे बजे रसाल।
> पिचकारी चालति घनीं, जहँ तहँ उड़त गुलाल॥
>
> (काव्य निर्णय)

इस उदाहरण में पिचकारी के चलने का वर्णन है किन्तु वह अचेतन होने के कारण चल नहीं सकती है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो गया। पुनः इससे सम्बन्धित अन्य अर्थ किया गया—पिचकारी चलाने वाला।

---

१. का० प्र० २।१०. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्व समर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

* साहित्य दर्पण २।६.

इस प्रकार दूसरा अर्थ ग्रहण करने पर भी मुख्यार्थ—पिचकारी को छोड़ा नहीं है। अतः इस उदाहरण में उपादान लक्षणा है।

(४) **लक्षण-लक्षणा**—इसका दूसरा नाम जहत्स्वार्था भी है। जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ को त्याग कर, लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। लक्षणलक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्णतः त्याग किया जाता है तथा मुख्यतः लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण किया जाता है। स्व+अर्थ—अपने अर्थ को, जहत्=छोड़कर, दूसरे अर्थ को ग्रहण करने के कारण इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं; जैसे—"कलिंग साहसिक" "कलिङ्गवासी साहसी हैं' यह अर्थ होता है। इस उदाहरण में मुख्य अर्थ 'कलिङ्ग' को छोड़कर लक्ष्य अर्थ 'वासी' के लिए अपने को समर्पित कर दिया गया है। जैसा कि विश्वनाथ ने लक्षणलक्षणा का लक्षण लिखते हुए स्पष्ट किया है—"वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के अन्वय-वोध के लिए जहाँ कोई शब्द अपने स्वरूप का समर्पण कर दे अर्थात् मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ का उपलक्षणमात्र वन जाय, उस लक्षणा को लक्षणलक्षणा कहते हैं, क्योंकि यह उपलक्षण का ही हेतु होती है, इसमें मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय नहीं होता।"[१]

उदाहरण—कर समेटि कच, भुज उलटि खएँ सीस-पट-टारि।
काकौ मन बाँधै न यह जूरा बाँधनि हारि॥
(विहारी, ६८७)

इस उदाहरण में 'मन बाँधै' मन को बाँधना लक्षणलक्षणा है। किन्तु 'मन' ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बाँधा जाय। इसलिए मुख्यार्थ बाधित है। मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया—'मन को आसक्त करना' अर्थात् जूड़ा बाँधने वाली नायिका किसके मन को आसक्त नहीं करती है। इस प्रकार इस अर्थ को ग्रहण करने पर मुख्यार्थ को पूर्णतः छोड़ दिया गया है। उपादान-लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा का अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि "लक्षणा शक्ति अर्पित शक्ति है। वक्ता की इच्छा शब्द

---

१. सा० द० २१७. अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥

को यह शक्ति अर्पित करती है। अतः लक्षणा का स्वरूप कुछ विवक्षाधीन रहता है। इस पर किसी का यह हठ करना कि यहाँ यही लक्षणा हो सकती है, नितान्त भ्रान्ति-मूलक है। उपादान-लक्षणा में इतना ही कहा गया है कि मुख्यार्थ का भी उपादान होना चाहिए। इसलिए उसका नामान्तर 'अजहत्स्वार्था' भी है। अतः यह कहने वाले की इच्छा पर निर्भर है कि मुख्यार्थ का अन्वय करे या न करे। जब वाक्यार्थ में मुख्यार्थ अन्वित होगा तब उपादान-लक्षणा होगी और जब अन्वय न होगा तब लक्षण-लक्षणा।"[1]

(५) सारोपा-लक्षणा—एक वस्तु में दूसरी वस्तु की अभेद-प्रतीति को आरोप कहते हैं। जिस वस्तु का आरोप किया जाय वह आरोप्यमाण या विषयी कही जाती है और जिस वस्तु पर आरोप किया जाता है उसे आरोप का विषय कहते हैं। जिस लक्षणा में विषयी (आरोप्यमाण) और आरोप के विषय दोनों का शब्दशः उल्लेख हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। "सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।" इस प्रकार सारोपा लक्षणा में विषयी (उपमान) और विषय (उपमेय) दोनों का उल्लेख किया जाता है। इन दोनों के विषय को छिपाया नहीं जाता है, अपितु समानरूप से निर्देश किया जाता है। जैसे—

मोहन मो दृग पूतरी, वौ छवि सिगरी प्रान।
सुधा-चितौंन सुहावनी, मींच बाँसुरी तान॥

इस दोहे में दृग पर पूतरी का, छवि पर प्राण का, चितवन पर सुधा का तथा बाँसुरी पर मृत्यु का आरोप है। मोहन, छवि, चितवन और बाँसुरी की तान आरोप के विषय हैं। इस तरह दृगपुतरी, प्राण, सुधा एवं मृत्यु आरोप्यमाण हैं। इनका शब्दतः कथन भी है। "मोहन को आँख की पुतली, छवि को प्राण, चितवन को अमृत एवं वंशी-ध्वनि को मृत्यु ठहराने में मुख्यार्थ का बाध है। किन्तु लक्षणा के द्वारा अत्यन्त प्रिय, आनन्ददायक, पीड़ा देने वाला अर्थ किया गया।"

(६) साध्यवसाना लक्षणा—आरोप के विषय का विषयी के द्वारा

---

१. काव्य-दर्पण, पृ० ३३।

तिरोभूत होना अध्यवसान है। साध्यवसाना में विषयी (उपमान) द्वारा विषय (उपमेय) को निगरण (आत्मसात) कर लिया जाता है। आचार्य मम्मट ने साध्यवसाना का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'आरोप्यमाण के द्वारा आरोप के विषय के निगीर्ण किये जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है —

"विषयन्तसा कृतेऽन्यास्मिन्ः स्सात्याध्यवसानिका।"

उदाहरण

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल।। (कामायनी)

इस उद्धृत पद में 'अंचल' तथा 'मणिराजी' से क्रमशः आकाश और ताराओं के समूह का अर्थ व्यक्त हो रहा है। इसमें विषयी के द्वारा विषय का ज्ञान होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

उपर्युक्त लक्षणा के भेद मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधारित हैं। वैसे अनेक आचार्यों ने लक्षणा के भेदों का निरूपण अनेक प्रकार से किया है। "मम्मट ने मुकुलभट्ट का अनुसरण करते हुए इसके छः भेदों का वर्णन किया है—लक्षणा तेन षड् विधा। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के चालीस भेदों का उल्लेख किया है। उनका विभाजन इस प्रकार है। लक्षणा के दो भेद—रूढ़ लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा इन दोनों के भी दो-दो भेद—उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा। इस प्रकार चार भेद हुए। पुनः इन चारों के सारोपा एवं साध्यवसाना के नाम से दो-दो भेद हुए। इस प्रकार आठ भेद हुए। फिर इनके भी दो-दो भेद शुद्धा एवं गौणी के नाम से करने पर सोलह लक्षणाएँ हुई। मम्मट एवं मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छः लक्षणाओं का ही निरूपण किया है। मम्मट एवं मुकुलभट्ट से उपादान एवं लक्षण-लक्षणा नामक भेद केवल शुद्धा में ही दिखाये हैं, गौणी में नहीं, जब कि विश्वनाथ ने गौणी के भी दो भेद किये हैं। यहाँ आठ भेद रूढ़ लक्षणा के एवं आठ भेद प्रयोजनवती के हैं। प्रयोजनवती के गूढ़व्यंग्या एवं अगूढ़ व्यंग्या के नाम से सोलह भेद हुए और इनके भी दो भेद धर्मगत एवं धर्मिगत लक्षणा के नाम से बत्तीस भेद हुए। रूढ़िलक्षणा के आठ भेद एवं प्रयोजनवती के बत्तीस

मिलकर कुल चालीस प्रकार हुए। पद एवं वाक्यगत होने से इनके कुल अस्सी भेद हुए "पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।"[१]

आचार्य विश्वनाथ ने गूढ़व्यंग्या एवं अगूढ़व्यंग्या नामक दो अन्य लक्षणाओं का भी उल्लेख किया है। ये दोनों प्रयोजनवती लक्षणा के भेद हैं-- "अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतएव प्रयोजनवती लक्षणा को सर्वत्र सव्यंग्य माना जाता है। जहाँ व्यंग्य अर्थ इतना गूढ़ होता है कि उसके अर्थ का आनन्द मार्मिक सहृदय ही ले सकें तो वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा और जहाँ व्यंग्य अगूढ़ या अगम्भीर या स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगे और जिसे सभी समझने लगें तो वहाँ अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा होती है।"[२]

गूढ़व्यंग्या लक्षणा का उदाहरण—

> चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
> गोये हू लोयन हँसत विहँसत जात कपोल॥ (विहारी)

इस दोहे में सखियों के मध्य बैठी नायिका के गौने (चाले) की बात चलने पर नायिका आँखें छिपाने पर भी हँसने लगी और कपोल भी मुस्कुरा उठे। "यहाँ आँखों के हँसने एवं कपोलों के मुस्कुराने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि मनुष्य हँसता है, आँख या कपोल नहीं। अतः यहाँ विहँसने का लक्ष्यार्थ उल्लसित होना ग्रहण किया गया। यहाँ संचारी भाव हर्ष एवं नायिका मध्या होना व्यंजित है। यह व्यंग्य सर्वजनसुलभ न होकर सहृदय-संवेद्य है। अतः गूढ़व्यंग्या हुई।"

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० ९६-९७

२. का० प्र० २।२०—सहृदयसंवेद्य एवं सर्वजनवेद्य।

> व्यंग्येनरहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने। तच्च गूढ़मगूढं वा॥
> व्यंग्यस्य गूढ़ागूढ़त्वाद् द्विधास्युः फललक्षणा॥
> साहित्यदर्पण २।१०

अगूढ़व्यंग्या लक्षणा का उदाहरण—

पल न चलै जकि-सी रही, थकि सी रही उसास।
अब ही तन रितयो, कहो मनु पठयौ किहिं पास ॥
(बिहारी, ५३४)

इस दोहे में सखी नायिका से कह रही है कि—तुम्हारी पलकें स्तम्भित हैं, तुम भी स्तम्भित-सी हो रही हो। तुम्हारी साँस थकी हुई सी प्रतीत हो रही हैं। अभी तुमने अपने शरीर को बेचैन कर दिया है, पता नहीं मन किसके पास भेज दिया है। इस दोहे के चतुर्थ चरण 'मन पठयौ केहि पास' में अगूढ़-व्यंग्य लक्षणा है। क्योंकि मन ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी के पास भेज दिया जाय। साँस का थकना, शरीर का रिक्त होना, पलकों का न चलना, आदि मुहावरे भी अपना अर्थ सहज ही व्यक्त कर देते हैं। इन दोहे में नायिका का पूर्वानुराग वर्णव से स्पष्ट है अतः इस दोहे में अगूढ़व्यंग्या लक्षणा है।

विपरीतलक्षणा—लक्षणा का एक अन्य भेद विपरीतलक्षणा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कथन का अर्थ मुख्यार्थ से विपरीत ग्रहण किया जाता है अतः इसे विपरीत लक्षणा कहते हैं। जैसे 'तुम सूख-सूखकर हाथी हुए जा रहे हो।' कोई व्यक्ति सूख-सूखकर हाथी नहीं हो सकता है। अतः यहाँ विपरीत लक्षण है और इसका आशय है कि 'तुम बहुत दुर्बल हो गये हो।'

प्रश्न ११—व्यंजना शब्दशक्ति का सामान्य परिचय देते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विस्तार से विवेचन कीजिए।

सामान्य परिचय—शब्दशक्तियों में तीसरी शब्दशक्ति व्यंजना है। व्यंजना शब्द की निष्पत्ति वि × अंजना दो शब्दों से हुई है व्यंजना का अर्थ है 'विशेष प्रकार का अंजन। "अंजनी के लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है किन्तु जब विशेष प्रकार अंजन लगाया जाया है तो परोक्ष वस्तु भी दृष्टि-गोचर होने लगती है।" व्यंजना के द्वारा इसी प्रकार के अकटित अर्थ स्पष्ट होते हैं। जब अभिधा एवं लक्षणा अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती हैं तब व्यंजना शक्ति काव्य के छिपे हुए गूढ़ सौन्दर्य को प्रकट करती है।

व्यंजना का साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य शास्त्र इसे महत्व

नहीं देते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों के कथनानुसार साहित्यशास्त्र की आधार-शिला व्यंजना वृत्ति पर ही निर्भर है क्योंकि इस शास्त्र में नीरस उक्ति रसिक साहित्यिक को इष्ट नहीं है। नैयायिक, वैयाकरण, मीमांसक और वेदान्ती अभिधा के महत्व से सन्तुष्ट हो जायें, पर साहित्यशास्त्र तो रसप्रधान है, रसास्वाद के विना सहृदय की तृप्ति नहीं होती और उस रसाभिव्यक्ति के लिए व्यंजनावृत्ति की सत्ता नितान्त आवश्यक है, अतः किसी सहृदय ने कहा है—व्यङ्ग्यप्रधानाभिनैवभङ्गीमुख्यार्थवाधः परमप्रकर्षः। वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्यासरिणिः कवीनाम्। व्यंजना व्यङ्ग्यप्रधान एक नवीन वृत्ति है, जिसमें वक्रोक्तियों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है।

व्यंजना का लक्षण—जब अभिधाशक्ति अर्थ वतलाने में असमर्थ हो जाती है, तो लक्षण के द्वारा अर्थ वतलाने की चेष्टा की जाती है किन्तु कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनकी प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती है। इस स्थिति में एक तीसरी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। आशय यह है कि अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के अपना-अपना कार्य कर शान्त हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, उसे व्यंजना शब्द-शक्त करते हैं। आचार्य विश्वनाथ के लक्षणा का भाव यही है—

विरतास्वामिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

विश्वनाथ की इस कारिका से एक स्पष्ट ध्वनि यह निकलती है कि वे व्यंजना का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ दोनों से मानते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार संकेत न होने के कारण जब अभिधा नामक शब्द-व्यापार समर्थ नहीं रहता है और प्रयोजन की प्रतीति में हेतु (मुख्यार्थ-योग, रूढ़ि तथा प्रयोजन) न रहने के कारण लक्षणा भी समर्थ नहीं रहती है तब व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द व्यापार नहीं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥ (का० प्र० २।२४)

व्यंजना के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्रचलित

उदाहरण—'गंगा में गाँव है' इस उदाहरण को लिया जा सकता है। गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा से यह आशय निकला कि गंगा के तट पर गाँव है। कोई शक्ति अर्थ से अधिक अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती है। अतः वक्ता के अभिप्राय—गाँव की पवित्रता एवं शीतलता को व्यक्त करने के लिए तीसरी शक्ति की कल्पना नितान्त अपरिहार्य है, और तीसरा अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार 'गङ्गा में गावँ है' इस उदाहरण में शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यंजना शक्ति से ही सम्भव है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी व्यंजना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उनकी परिभाषाएँ की हैं, उनमें से कुछ निम्न हैं—

भिखारीदास : व्यंजक व्यंजक जुत्त पद, व्यंग तासु जो अर्थ।
ताहि बुझैवे की सकति, है व्यंजना समर्थ।
सूधौ अर्थ जु वचन को, तेहि तजि औरे वैन।।
समुझि परै तेहि कहत हैं सरित व्यंजना ऐन।।
(काव्य-निर्णय)

सोमनाथ : अधिक कहै कहि अर्थ को व्यंजक सु जानि।
समुझ लीजिए अर्थ पुनि और चीज हू होंय।।
रसिकन कौ सुखदानि अति व्यंग कहावत सोय।
कहै व्यंग सो व्यंजना वृत्ति बढ़ावै फूल।।
(रस-पीयूष-निधि)

प्रतापसाहि : व्यंग्य जीव है कवित में शब्द अर्थ गति अङ्ग।
सोई उत्तम काव्य है वरणै व्यङ्ग प्रसङ्ग।।

कुलपति : व्यङ्ग जीव ताको कहें शब्द अर्थ है देह।
गुण में भूषण भूषणै दूषण दूषण।।

उपर्युक्त हिन्दी के आचार्यों के लक्षण काव्य में व्यङ्ग अर्थ एवं व्यंजना शक्ति के महत्व के घोषित करते हैं।

प्रश्न २२—व्यंजना के भेदों का निरूपण कीजिए।

व्यंजना दो प्रकार की होती है शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना।

शाब्दी व्यंजना के दो उपभेद होते हैं—अभिधामूला एवं लक्षणामूला ।

शाब्दी व्यंजना—शाब्दी व्यंजना में शब्दों का प्राधान्य एवं महत्व होता है । शब्द के परिवर्तन के साथ ही अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है । अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निश्चित होने पर ही शाब्दी व्यंजना अपना कार्य करती है । "जब अभिधा शक्ति द्वारा संयोगादि अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ का निर्णय हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं"—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्याप्तिरञ्जनम् ॥

(मम्मट का० प्र० २।१६)

आचार्य विश्वनाथ का लक्षण भी इसी से मिलता-जुलता है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया ॥

(सा० द० २।१४)

"जिन शब्दों से एक से अधिक अर्थ निकलें उन्हें अनेकार्थक शब्द कहते हैं । अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में संयोग आदि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्दों का एक विशेष अर्थ निश्चित किया जाता है । इस प्रकार विशेष अर्थ के नियन्त्रित कर देने से अनेकार्थक शब्दों के अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं । अर्थात् वे अर्थ अभिधा शक्ति से प्रकट नहीं होने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते । इस प्रकार अनेकार्थवाची शब्दों के वाच्यार्थ से भिन्न जो अन्य अर्थ का बोध होता है उसका बोध कराने वाली व्यंजना को अभिधामूला व्यंजना कहते हैं । अभिधा पर आश्रित होने के कारण इसे अभिधामूला व्यंजना कहा जाता है । अभिधाशक्ति के संयोगादि के द्वारा एक अर्थ का बोध कराकर रुक जाने के बाद एक विशेष अर्थ का बोध होता है ।"*

अनेकार्थवाची शब्दों का नियन्त्रण निम्न चौदह आधारों पर होता है—

*भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त पृ० १०४.

संयोग, असंयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिङ्ग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि ये सब शब्द के अर्थ का अनिर्णय अथवा संदेह होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं अर्थात् इन साधनों से विशेष अर्थ का ज्ञान होता है।[1]

उदाहरणार्थ—

संयोग—अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध संबंध को संयोग कहते हैं। हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु 'सशङ्खचक्रोहरिः' कहने पर हरि शब्द से शंख, चक्र को धारण करने वाले विष्णु का बोध होता है :

'शङ्ख चक्र युत हरि लसैं'

शंख विप्रयोग—असंयोग या वियोग—'असंख्यचक्रोहरिः' कहने पर भी हरि शब्द वियोग के कारण विष्णु का ही सूचक है क्योंकि वियोग या असंयोग की बात वहीं हो सकती है, जहाँ पहले उसका अस्तित्व हो। एक अन्य उदाहरण—"सोहत नाग न मद बिना।" मद हाथी का ही प्रसिद्ध है। मद के बिना कहने से भी नाग का अर्थ हाथी ही होता है।

साहचर्य—साथ रहने का नाम साहचर्य है। यद्यपि भीम पद का अर्थ 'भयानक' है और अर्जुन का अर्थ 'जङ्गली वृक्ष है'। परन्तु 'भीमार्जुनौ' कहने से दोनों सहचारी पाण्डवों का ही बोध होता है। इसी प्रकार 'राम-कृष्ण व्रजभूषण जानौ' राम और कृष्ण में राम शब्द अनेकार्थक है—उससे दशरथ-पुत्र राम, बलराम, परशुराम के अर्थ निकलते हैं। किन्तु कृष्ण के साहचर्य के कारण यहाँ राम का अर्थ बलराम है।

विरोध—जहाँ किसी प्रसिद्ध विरोध के कारण अर्थ का नियन्त्रण हो,

---

१. भर्तृहरि : वाक्यपदीय २।३१७-३१८.

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

वहाँ विरोध कहलाता है, जैसे—'कर्णार्जुन' प्रसिद्ध विरोध के कारण कर्ण शब्द का अर्थ सूतपुत्र कर्ण का ग्रहण होता है न कि कान का। इसी प्रकार 'रामार्जुन का विरोध' इस वाक्य में राम और अर्जुन दोनों शब्द अनेकार्थक हैं। राम के परशुराम, राम एवं वलराम आदि अर्थ हैं; इसी प्रकार अर्जुन के सहस्रवाहु, पाण्डव अर्जुन तथा अर्जुन वृक्ष आदि तीन अर्थ हैं, किन्तु विरोध के कारण राम शब्द का अर्थ परशुराम तथा अर्जुन का अर्थ सहस्रवाहु है।

अर्थ—अर्थ से आशय यह है कि जो अर्थ दूसरी प्रकार सम्भव न हो अथवा शब्द के अर्थ के कारण अनेकार्थक शब्द एक ही अर्थ का संकेत हो; जैसे—'संसार के दुःख-नाश के लिए स्थाणु का भजन करो।' 'स्थाणु' शब्द के दो अर्थ—शिव तथा ठूंठ या खम्भा है। संसार के दुःख-नाश के लिए 'स्थाणु का अर्थ शिव है ठूँठ नहीं क्योंकि ठूँठ में यह शक्ति नहीं है।

प्रकरण—जहाँ प्रसङ्ग के अनुसार अनेकार्थक शब्द का एक ही अर्थ निकले, वहाँ 'प्रकरण' होता है, जैसे—भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' यदि यह वाक्य कोई कहता है तो 'सैन्धव' शब्द का अर्थ 'नमक' होगा, न कि घोड़ा। वैसे सैन्धव शब्द के दो अर्थ—नमक और घोड़ा होते हैं किन्तु प्रसङ्गानुकूल नमक अर्थ ही नियन्त्रित होता है।

लिङ्ग—'जब कोई विशेष चिह्न देखकर अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो, जैसे—मकरध्वज कुपित हुआ' मकरध्वज शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र एवं कामदेव। किन्तु कुपित चिह्न कामदेव का ही है। समुद्र अचेतन है, वह कुपित नहीं हो सकता है।

अन्य सन्निधि—जब किसी अन्य अर्थ के सामीप्य के कारण विशेष अर्थ का बोध हो; जैसे—''देवस्य-पुरारातेः'' इस उदाहरण में देव शब्द अनेकार्थक है जिसके राजा, देवता एवं मेघ अर्थ हैं किन्तु त्रिपुर का शत्रु इस शब्द के सान्निध्य के कारण देव शब्द 'शिव' का वाचक है।

सामर्थ्य—'मधुना मत्तः पिकाः (कोयल बसन्त के कारण मतवाली है) इस वाक्य में 'मधु' शब्द अनेकार्थक है—उसके दैत्य, वसन्त, मद्य आदि अनेक

अर्थ होते हैं किन्तु कोयल के मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में है। अतः सामर्थ्य के कारण भी अनेकार्थक शब्दों का नियन्त्रण होता है।

औचित्य—जहाँ औचित्य के कारण अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो; जैसे—'तरु पै द्विज बैठ्यो कहे', इस वाक्य में 'प्रयुक्त द्विज शब्द अनेकार्थ—पक्षी, ब्राह्मण, तथा चन्द्रमा का वाचक है किन्तु औचित्य और सामर्थ्य के कारण द्विज शब्द का अर्थ यहाँ पक्षी है।

देश—जहाँ अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय देश-स्थान के आधार पर किया जाता है; जैसे—"मरु में जीवन दूरि है।" जीवन' शब्द अनेकार्थक है, इसके प्राण एवं जल अर्थ हैं। किन्तु रेगिस्तान में 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा।

काल—जहाँ काल (समय) के आधार पर अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्धारण होता है; जैसे—"चित्रभानुर्विभाति" इस उदाहरण में 'चित्रभानु' शब्द अनेकार्थक (सूर्य एवं अग्नि आदि) है। यदि हम इस उदाहरण का प्रयोग दिन में करते हैं तो इसका अर्थ सूर्य होगा और यदि 'रात' में प्रयोग होता है तो 'अग्नि।'

व्यक्ति—यहाँ व्यक्ति का आशय स्त्रीलिंग एवं पुल्लिग आदि से है। व्यक्ति (लिंग) के द्वारा भी एक अर्थ का निर्णय होता है; जैसे—"मित्रं भाति" मित्र सुशोभित हो रहे हैं। यहाँ मित्रं शब्द का अर्थ सुहृद है। और यही उदाहरण 'मित्रो भाति' हो तो सूर्य चमक रहा है क्योंकि 'नपुंसक लिंग में मित्र शब्द का अर्थ सुहृद एवं पुल्लिग में सूत्र होता है।

'स्वत' उदाहरण काव्य में नहीं मिलते हैं जैसा कि कविराज विश्वनाथ ने लिखा है—'स्वर' उदात्तादिक रेद में ही विशेष अर्थ के निर्णायक होते है—

"स्वरस्तु वेद एव विशेष प्रतीति कृत्,
न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।"

(साहित्य दर्पण २/१४ वृत्ति)

उपर्युक्त आधार शब्द का अर्थ निश्चय कर देते हैं। यह कार्य व्यंजना का नहीं है, अपितु इस कार्य को अभिधा ही सम्पन्न करती है। अभिधा द्वारा

एक अर्थ निश्चित हो जाने पर व्यंजना अन्य अर्थ का संकेत करती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषाभानुजा, वे हलधर के बीर॥

(विहारी)

इस दोहे में 'राधाकृष्ण की यह जोड़ी चिरजीवी हो। इनका गहरा प्रेम क्यों न जुड़े ? दोनों में कौन किससे घटकर है ? ये वृषभानुजा हैं और वे हलधर के भाई।' यह वाच्यार्थ है। किन्तु 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर' शब्द अनेकार्थक हैं, अतः उनसे दूसरा और तीसरा अर्थ भी ध्वनित होता है कि ये (वृष-भानुजा) बैल की बहिन हैं और वे (हलधर) बैल हैं। तीसरे अर्थ में वे वृष-राशि में उत्पन्न हैं और वे शेषनाग के अवतार।

इस उदाहरण में शाब्दी व्यंजना है, अनः 'वृषाभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर यदि "वृषभानुसुता" और 'वलराम' शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय तो यह व्यंग्यार्थ नष्ट हो जायगा।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—जहाँ पर मुख्यार्थ की वाधा होने पर लक्षणाशक्ति से दूसरा अर्थ निकलता है, किन्तु जव उसके वाद भी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना होती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है--"जिसके लिए लक्षणा का आश्रयण किया जाता है वह प्रयोजना, जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, वह व्यंजना लक्षणाश्रया (लक्षणामूला) कहलाती है।"* विश्वनाथ ने 'गङ्गायां घोषः' का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि "अभिधा के द्वारा 'गङ्गा' पद से जलमय प्रवाह रूप मुख्यार्थ को वोधित करके अभिधा के शान्त होने पर तटादिरूप लक्ष्यार्थ का वोध करके लक्षणा के विरत होने पर शीतलता और पवित्रता का आधिक्य जिस शब्दशक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।"

---

* सा० द० २।१५

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याययते सा स्याद्व्यंजना लक्षणाश्रया॥

उदाहरण—फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगणित चैन।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन।।

इस उदाहरण में लक्षणा के 'फली' का अर्थ है पूर्ण हुई, लूट्यौ का अर्थ है प्राप्त किया और अंचै का अर्थ है देखा, किन्तु व्यंजना से सम्पूर्ण पद का व्यंग्यार्थ है—'प्रियतम के दर्शन से अत्यधिक आनन्द प्राप्त किया।'

दूसरा उदाहरण—

आनन में मुसकानि सुहावनि बंकता नैनन्ह माँझ हुई है।

'मुस्कान' शब्द से संकोच का अभाव तथा सम्पूर्ण पंक्ति का व्यंग्यार्थ सौन्दर्यातिरेक की सूचना है।

प्रश्न २२—आर्थी व्यंजना का निरूपण कीजिए।

आर्थी व्यंजना में अर्थ की सहायता से व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है "जहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो, वरन् उस शब्द के अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है।" आर्थी व्यंजना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर व्यंजना सुरक्षित रहती है। "अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना वाचक शब्द पर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्द पर अवलम्बित रहती है। किन्तु आर्थी व्यंजना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण सम्भव हुआ करती है।"

काव्य के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ। इसलिए आर्थी व्यंजना वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर निर्भर रहती है। वाच्यार्थ पर आश्रित आर्थी व्यंजना को 'वाच्यसम्भवा', लक्ष्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'लक्ष्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'व्यंग्यासम्भवा' कहते हैं।

आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने अर्थवैशिष्ट्य के निम्न प्रकारों का निर्देश किया है—जब वक्ता, वोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा, आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का वोध होता है, तब वह आर्थी व्यंजना कहलाती है।*

---

* का० प्र० २।२१-२२—

वक्तृवैशिष्ट्य—वक्ता के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा सेस॥

(रामचरितमानस)

इस उदाहरण में राम को पतिरूप में वरण कर सीता पार्वती से प्रार्थना कर रही हैं। वाच्यार्थ द्वारा यहाँ यह व्यंजित है कि जब पार्वती इतनी महान् हैं तो सीता जी की मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगी। इस उदाहरण में वाच्यार्थ द्वारा व्यंजना हो रही है अतः इसे वाच्यसम्भवा कह सकते हैं। [आर्थी व्यंजना के लक्ष्यसम्भवा, व्यंग्यसम्भवा आदि भेद भी होते हैं किन्तु विस्तार भय से उनके उदाहरण यहाँ देना सम्भव नहीं है।][1]

बोद्धव्य वैशिष्ट्य—जहाँ श्रोता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे बोद्धव्यवैशिष्ट्यसम्भवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे—

घर न कन्त हेमन्त रितु, राति जागती जात।
दबकि द्यौस सोवन लगी, भली नहीं यह बात॥

(बिहारी)

इस दोहे में सखी नायिका से कह रही है कि तुम्हारा पति आजकल घर पर नहीं है और एक तुम हो कि रात्रि जागरण करती हो और दिन में छिपकर सोती हो। यह बात अच्छी नहीं है। यह इस दोहे का वाच्यार्थ है किंतु इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि तुम उपपति के साथ रात्रि में रमण करती

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

सा० द० २।१६-१७—

वक्तृबोधव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं वा बोधयेत्सार्थसंभवा॥

हो। यह व्यंग्यार्थ श्रोताजन्य है, वही इसके मर्म को समझ सकती है।

काकुवैशिष्ट्य—जहाँ काकु अथवा कंठध्वनि की विशेषता के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

> दृग लखि हैं मधुचन्द्रिका, सुनि हैं कल धुँनि काँन।
> रहि हैं मेरे प्रान तन, पीतम करौ पयाँन॥
>
> (भिखारीदास : काव्यनिर्णय)

इस उदाहरण में नायिका जाने को तो कह रही है किन्तु कंठध्वनि से यह भी व्यंजित है कि आपके परदेश जाने से मेरे शरीर में प्राण नहीं रहेंगे। व्यंग्य यह है कि आप विदेश न जाइये अन्यथा आपके विना जीवित नहीं रहूँगी।

वाक्य वैशिष्ट्य—जहाँ वाक्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ वाक्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

> आपु दियौ मन फेरि लै, पलटै दीन्ही पीठि।
> कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत दीठि॥
>
> (बिहारी : २६०)

इस दोहे में नायिका नायक से कह रही है, कि आपने पहले जो मन दिया था, उसके वदले में आजकल पीठ दे रहे हैं। यह कौन सी रीति है। व्यङ्ग्यार्थ यह है कि अब आप किसी अन्य स्त्री पर आसक्त हैं, आपका मेरे प्रति जो स्नेह-अनुराग था, वह समाप्त हो गया।

अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य—जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के संसर्ग के कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, वहाँ अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ होता है। जैसे—

> मधुकर समुझि कही किन बात।
> पर मद पिये मत्त न हूजियत, काहे कौं इतरात।
> बीच जो परै सत्य सो भाखे, बोले सत्य सरूप।
> मुख देखे को न्याउ न कीजै, कहाँ रंक कहँ भूप॥
>
> (सूरदास)

सूरदास का भ्रमरगीत प्रसङ्ग अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ का सुन्दर उदाहरण है। इस पद में भ्रमर से कही हुई बातें एक ओर भ्रमर पर घटती हैं तो दूसरी ओर उद्धव पर अच्छी चोट भी करती हैं।

वाच्यवैशिष्ट्य--जहाँ वाच्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ वाच्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे--

सन सूक्यो, वीत्यौ, बन्यौ ऊखो लई उखारि।
हरी-हरी अरहर अजौं, धरि धर हरि जियनारि।।

(बिहारी १३५)

इस दोहे में नायिका के दुःख का वर्णन है क्योंकि उसके रमण स्थान धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं किन्तु नायिका की सखी उसको आश्वासन देते हुए कहती है कि अभी हरी-हरी अरहर खड़ी हुई है जहाँ रतिक्रीड़ा निर्विघ्न चल सकती है। हरी अरहर में शीघ्र ही कोई देख भी नहीं सकेगा। यही इस दोहे का व्यंग्यार्थ है।

प्रस्ताव वैशिष्ट्य--जहाँ विशेष प्रकरण या प्रसंग के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ प्रस्ताव वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे--

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा, को कहि सकइ को जान निहारा।
अनुचित उचित काजु कछु होऊ, समुझि करिय भल कह सब कोऊ।
सहसा करि पीछे पछिताहीं, कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।

यहाँ राम लक्ष्मण से कह रहे हैं, तथा राम का आशय यह है कि भरत के प्रति तुम्हारी शंका व्यर्थ है। यही इसका व्यंग्यार्थ है।

देशवैशिष्ट्य--देश अथवा स्थान की विशेषता के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ देश वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे--

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती कुंज।।

(बिहारी १२७)

इस दोहे में स्थान की शीतलता, निर्जनता और मिलन के उपयुक्त स्थान

आदि की व्यंजनाएँ हैं जो कि स्थानजन्य हैं अतः देशवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना है।

कालवैशिष्ट्य—जहाँ काल या समय की विशेषता के कारण व्यंग्य का बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्य-जन्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध॥
(बिहारी ४६६)

इस दोहे में यह व्यंग्यार्थ है कि मानिनी नायिका का मान मधुर वसन्त ऋतु में नहीं रह सकता है। यह ऋतु (काल) प्रिय से आनन्द लेने की ऋतु है।

चेष्टावैशिष्ट्य—यहाँ चेष्टा या हाव-भाव के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति, होती है, वहाँ चेष्टा-वैशिष्ट्यजन्य आर्थीव्यंजना होती है। जैसे—

डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस के, खरे लजाने लाल॥
(बिहारी ६०१)

इस दोहे में श्रीकृष्ण के कम्प और लज्जा के कारण राधा के प्रति उनका प्रेम व्यंजित हो रहा है।

आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग सदैव रहता है। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि "आर्थी व्यंजना में व्यंग्य रूप अन्य अर्थ का बोध किसी विशेष शब्द के द्वारा होता है। शब्द प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही (जाना हुआ) व्यंजना के द्वारा अर्थान्तर का बोध कराता है। अतः अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता भी रहती है।"* आचार्य विश्वनाथ भी व्यंजना में शब्द और अर्थ की सहकारिता स्वीकार करते हैं।‡

*काव्य प्रकाश ३।२३. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥

‡साहित्य दर्पण २।१८. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥

प्रश्न २३—मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित तात्पर्या नामक शब्दशक्ति (वृत्ति) का विवेचन कीजिए।

तात्पर्यावृत्ति—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्दों के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीन अर्थ होते हैं। मीमांसकों के वर्ग ने अभिधा, लक्षणा, एवं व्यंजना के अतिरिक्त 'तात्पर्या' नामक वृत्ति भी स्वीकार की है। मम्मट ने लिखा है—'तात्पर्योऽर्थोऽपि केषुचित' उस वर्ग का कहना है कि ये शब्द-शक्तियाँ शब्द के अर्थ का द्योतन करती हैं, अतः समस्त वाक्य के अर्थ की प्रतीति इन अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों से सम्भव नहीं है, अतः सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ के ज्ञान के लिए एक अन्य शक्ति की कल्पना नितान्त आवश्यक है क्योंकि पृथक्-पृथक् शब्दों के स्वतन्त्र अर्थ के अतिरिक्त आकांक्षा, योग्यता, और आसत्ति के सहयोग सूत्र में बँधे हुए अन्वित शब्दों से निर्मित सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ जिसे वाक्यार्थ कहते हैं—

"आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणा पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभि-हितान्यवादिनां मतम्। वाच्य एवं वाक्यार्थ इत्यन्वितताभिधान वादिनः।"*

इस वाक्यार्थ का बोध अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों से सम्भव नहीं है। इस अर्थ का बोध मीमांसकों के अनुसार तात्पर्या शक्ति से होता है; यह तात्पर्यार्थ अभिधावृत्ति गम्य नहीं हैं अपितु अभिधावृत्ति के द्वारा प्रकट किये गये अर्थ को अन्वित कर एक विशेष प्रकार के अर्थ को व्यक्त करती है। इस अर्थ में वाच्यार्थ का योग न होकर विलक्षण प्रकार का वाक्यार्थ होता है। प्रत्येक वाक्य आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के सहयोग से अपना अर्थ व्यक्त करता है। अतः वाक्य के स्वरूप को समझना आवश्यक है। विश्वनाथ के अनुसार योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त पद-समूह का नाम वाक्य है—

'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्त : पदोच्चयः।'†

योग्यता—"एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने

*. काव्य प्रकाश, २।६ की वृत्ति।

†. साहित्यदर्पण, २।१।

में बाधा का न होना ही योग्यता है; जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—"योग्यता-पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः ।"* उदाहरण के लिए वह पानी से सिंचन करता है। इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है क्योंकि पानी का धर्म सींचना है किन्तु यदि हम कहें—'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता का अभाव है; क्योंकि आग की योग्यता सींचने में न होकर जलाने में है।

आकांक्षा—आकांक्षा का शाब्दिक अर्थ है जिज्ञासा। वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए किसी दूसरे पद की चाह का होना आकांक्षा है; जैसे—'जल से' इस शब्द के सुनने के बाद आकांक्षा होती है क्या...। इसी प्रकार 'सींचता है' यह सुनने के बाद आकांक्षा होती है कौन, किसे। और यदि यही शब्द इस रूप में हो— 'जल से सींचता है' 'जल से मुख धोता है'। तो कहा जायगा कि यह वाक्य पूर्ण है, अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है। अतः कह सकते हैं कि—"किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है—आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासा रूपः।"†

आसत्ति—"प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अविच्छेद अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं—'आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः।"‡ यह व्यवधान दो प्रकार का होता है—एक काल कृत, दूसरा अनुपयुक्त शब्द के प्रयोग से; जैसे एक शब्द के कहने के बाद दूसरे शब्द के मध्य अधिक समय का होना तथा असङ्गत शब्दों का एक स्थान पर आ जाना 'राम जाता घण्टा पर्वत' इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि शब्दों में आसत्ति का अभाव है। एक सार्थक वाक्य के शब्द-समूह में पारस्परिक सम्बन्ध आवश्यक है, अतः आकांक्षा योग्यता और आसत्तियुक्त पदसमूह ही वाक्य है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने तात्पर्यावृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' में योग्यता, आकांक्षा, और सन्निधि (आसत्ति) का होना आवश्यक

---

*सा० द० २।१ की वृत्ति।

†वही २।१ की वृत्ति।

‡वही २।१ की वृत्ति।

है। वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है। वाक्य में जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराना, अर्थात् सम्बन्ध-रहित पदों का अर्थ बतलाना, अभिधा का कार्य है। उनके बिखरे हुए पदों के अर्थों का परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोड़कर जो वाक्य बनता है, उस वाक्य के अर्थ का जो शक्ति बोध कराती है उसे तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। इस वृत्ति का बोधक वाक्य होता है।"

***

अध्याय | ३

अलंकार

प्रश्न २४—काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिए, और यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या वे काव्य के अनिवार्य तत्व हैं ?

अलंकारों की पृष्ठभूमि—मानवसमाज सौंदर्योपासक है, उसकी इस प्रवृत्ति ने ही अलंकारों को जन्म दिया है। शरीर की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए जिस प्रकार मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया, उसी प्रकार उसने भाषा को सुन्दर बनाने के लिए अलंकारों की योजना की। अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है, उसी प्रकार के काव्य को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है, यही रमणीयता अथवा चमत्कार काव्य में 'अलंकार' कहलाता है।

अलंकार हमारी आत्मप्रदर्शन तथा आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति के परिणाम हैं, हमारी यह प्रवृत्ति पुरातन है। वास्तव में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस प्रवृत्ति का उदय मानव जन्म के साथ ही हुआ है। क्योंकि मानव-हृदय में भाव तथा मनोवेग उत्पन्न होते हैं, और उनको अभिव्यक्त करने के लिए वाणी निरन्तर सचेष्ट रहती है। भावाभिव्यंजन के लिए, अपने कथ्य को अधिक आकर्षक और चमत्कारी बनाने के लिए हम वाणी को अलंकार धारण कराते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अलंकार मनुष्य के मनोवेगों को चमत्कारी रूप में प्रकट करने का एक साधन है—the more emotions grow upon a man, the more his speech abounds a figure. Feelings swamp ideas and language is used to express not reality of things but the state of one's emotions.

इस प्रकार सिद्ध यह होता है कि "अलंकार वाणी के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौंदर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।" वाणी को अलंकृत करना ही अलंकारों का ध्येय है। ये काव्य के सौन्दर्य के वर्द्धक तथा चमत्कृति को आकर्षक बनाते हैं। काव्य में अलंकारों का वही स्थान है जो शरीर के लिए लौकिक आभूषणों का। जिस प्रकार आभूषण साक्षात् सम्बन्ध से शरीर की शोभा वृद्धि करते हैं और साथ ही साथ आत्मा को भी प्रफुल्लित करते हैं, वैसे ही काव्य के अलंकार भी साक्षात् सम्बन्ध से काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं तथा परम्परा सम्बन्ध से काव्य की आत्मा को पुष्ट करते हैं।

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति एवं लक्षण—अलंकार शब्द की रचना 'अलं' तथा 'कृ' धातु से हुई है, इस अलंकार शब्द का अर्थ है—'सजावट'। अलंकार शब्द में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। अलं का अर्थ है भूषण अर्थात् जो अलंकृत करे वह अलंकार है—**'अलंकरोतीति अलंकारः'**। अथवा **'अलंक्रियते अनेनेत्यलंकारः'** जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार कर्त्ता या विधायक हैं। द्वितीय के अनुसार वे साधन मात्र हैं। अलंकार के सर्वसम्मत अर्थ की दृष्टि से द्वितीय व्युत्पत्ति अधिक संगत है, जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।

काव्यशोभाकरान धर्मानलंकारान प्रचक्षते।

(अ० प्र० ३४२।१७

अथवा

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः॥

दण्डी ने काव्य शोभा के विधायक रूप में अलङ्कारों को महत्व दिया है—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' यहाँ अलंकार (१) काव्य के समग्र सौन्दर्य के रूप में तथा (२) इसी सौन्दर्य के उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है।

उनका कथन है—काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । "सौन्दर्यमलंकारः ।" उनका स्पष्ट आशय यह है कि अलंकार गुणों का उत्कर्ष करते हैं, सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। स्वयं काव्य के साध्य न होकर वे साधन हैं। आचार्य भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है'—वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः* अर्थात् लोकोत्तर† चमत्कार के उत्पादक शब्द और अर्थ के वक्रत्व‡ अथवा वैचित्र्य को विशिष्ट अलंकार कहते हैं।

काव्य में अलंकारों का स्थान---आचार्यों की अलंकार-विषयक मान्यतायें भिन्न-भिन्न हैं, परिणामस्वरूप परवर्ती काल में काव्यशास्त्रियों का एक पक्ष काव्य के लिए अलङ्कारों को अनिवार्य मानता है और दूसरा पक्ष गौण।

(१) ध्वनिवादी आनन्द ने अलंकारवादियों के अलंकार के अंगित्व पर प्रहार करते हुए कहा है कि 'अलंकारों का विधान रसादि के अंग रूप से होना चाहिए न कि अङ्गि रूप से---

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।"

(ध्व० २।१)

आचार्य कुन्तक ने 'सालङ्कारस्य काव्यता' का प्रतिपादन कर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। (व० जी० १।६)

आचार्य मम्मट रसवादी आचार्य हैं, वे अलंकारों का उद्देश्य रस को पुष्ट करना मानते हैं। तदनुसार उनका अलंकार का लक्षण इस प्रकार है---

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

(का० प्र० ८।६७)

अलंकार हार आदि आभूषणों के समान है और वे रस के उपकारक हैं। यही नहीं, मम्मट ने अपने काव्य के लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिख-

---

*भामह १।३६ तथा---५।६६---वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते ।
†शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ।
‡वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः ।

कर काव्य में अलङ्कारों की अनिवार्य उपयोगिता के आग्रह को समाप्त कर दिया था।

किन्तु अलंकारवादी आचार्य पीयूषवर्षी जयदेव ने मम्मट की इस मान्यता का उपहासात्मक विरोध करते हुए लिखा है कि 'जो काव्य को अलंकार रहित मानता है, तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता'—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।

(चन्द्रालोक १।८)

भामह भी अलंकारवादी हैं, उनका मत यह है कि आभूषण से रहित सुन्दरी का मुख अपने प्रिय को अच्छा नहीं लगता है—

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्"

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए परवर्ती रीतिकालीन आचार्य केशवदास ने लिखा है—

जदपि सुजाति सुलच्छणी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई कविता वनिता मित्त ॥

किन्तु ध्वनि सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर काव्य में अलङ्कारों की सत्ता नितान्त आवश्यक अथवा अपरिहार्य नहीं रहीं। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट और आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—'अलङ्कार शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म है; वे अलङ्कारों को केयूर की भाँति शोभावर्द्धक तथा रस रूप आत्मा का उपकारक मानते हैं'—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारस्तेऽङ्गदादिवत् ॥

(सा० द० १०।१)

आचार्य विश्वनाथ के इस मन्तव्य का संक्षिप्त आशय यह है कि (१) अलङ्कार काव्य के अनिवार्य गुण नहीं हैं। वे अस्थायी धर्म हैं। (२) काव्य-शोभा अलङ्कार पर निभर नहीं है, वह शोभा का कर्त्ता न होकर शोभा की

वृद्धि ही करता है। (३) काव्य का सौन्दर्य है रस। अलङ्कार का गौरव उसी का उपकार करने में है। इन मान्यताओं की स्थापना ध्वनिवादी आचार्यों ने की। इन आचार्यों ने आत्मस्थानीय ध्वनि को केन्द्रविन्दु मानकर गुण, रीति और अलंकार आदि पर भी विचार किया था। तदनुसार "वाह्य प्रसाधन कटक-कुण्डल आदि की तरह शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के शोभातिशायी रूप में अलङ्कारों को मान्यता दी। पूर्व-ध्वनि-काल में अलंकार शोभाकारक था, अब वह शोभावर्द्धक माना गया। पूर्व में गुण भी अलंकार के सामान्य रूप में परिगृहीत था, पर अब वह अङ्गी रसादि का आश्रित होकर स्वतन्त्र तथा अलंकार से प्रधान हो गया और अलंकार अंगाश्रित होने से अप्रधान माना गया। अलंकार का महत्व, जो पूर्व में अपने आप में था, अस्वीकृत हो गया और ध्वनिकाल में रसादि के उत्कर्षक होने में ही उसका महत्व माना गया।[१] परवर्ती-काल में राजशेखर, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, रुद्रभट्ट, द्वितीय वाग्भट्ट, विश्वनाथ, भानुदत्त मिश्र, केशव मिश्र, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ विश्वेश्वर, अच्युतराय आदि आचार्यों ने आनन्दवर्धन और मम्मट की मान्यता का पूर्णतः अनुकरण किया है।

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने इस विषय में संस्कृत के आचार्यों का पूर्णतः अनुकरण किया है। आचार्य केशव अलंकारहीन कविता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यही नहीं, वे न तो वामन के समान काव्य की प्रतिष्ठा अलंकार पर मानते हैं और न अलंकारहीन कविता को निष्प्राण ही मानते हैं। उन्हें तो कभी-कभी वाह्य शृंगार सौन्दर्य का अपकर्षक प्रतीत होता है--

काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली।
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं॥
(कविप्रिया ११।१२)

---

१. ध्वन्यालोक २।१७—
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

देव अलंकृत काव्य को उत्कृष्ट मानते हुए कहते हैं—

कविता कामिनी सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भूत रूप लखाति।।
(काव्य रसायन)

अर्थ के अभाव में काव्य मृतक के समान है 'मृतक काव्य बिनु अर्थ का।' दूलह के मत में 'बिन भूषन नहिं भूषइ कविता' तथा अलंकृत काव्य का कर्ता कवि लोकप्रियता प्राप्त करता है। भिखारीदास के अनुसार 'भूषन है भूषन सकल' अर्थात् अलंकार काव्य सौन्दर्य का एक मात्र भूषण है। श्रीपति के मतानुसार—

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, वनिता कविता रूप।

आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार को कथन की रोचक, सुष्ठु और प्रभावपूर्ण प्रणाली माना है 'मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र समझता हूँ, जिसके अन्तर्गत चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, अन्यत्र एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि—अलंकार हैं क्या ? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे हैं और लक्षण बनाये। ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं।...भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।

सुमित्रानन्दन पंत पल्लव की भूमिका में अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों

के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।" पंत जी ने आगे भी लिखा है कि अलंकारों की आयोजना भावाभिव्यक्ति के लिए ही होनी चाहिए एवं प्रत्येक अलंकार को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास न करना चाहिए। अलंकार साधन ही हैं, साध्य नहीं। यदि वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान अभीप्सित विषय जाते हैं तो "काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता साम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती है और उपमा अनुप्रास, यमक, रूपक आ द उसके अमात्य, सचिव, शरीरिरक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संगृहीत कर स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते हैं और साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"

अलंकार शब्दान्तर से उक्ति-चमत्कार का नाम है। यहीं यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है? क्या काव्य में उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है?

"अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य प्रथम प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं और रसवादी आचार्य 'नहीं' में। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है और प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। किन्तु रसवादी आचार्यों की मान्यता इससे भिन्न है। उनका कहना है कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है और न प्रत्येक काव्योक्ति में ही चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है। आधुनिक युग के रसवादी आचार्यों में आचार्य शुक्ल ने उक्ति-चमत्कार अथवा सूक्ति को काव्य का पद तो दिया ही नहीं है अपितु उसकी निन्दा भी की है, उनका स्पष्ट मत है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया को अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।" शुक्ल जी का 'कभी-कभी' कहना अलंकार को काव्य में वैकल्पिक सिद्ध करता है। लगभग यही स्वर मम्मट के 'अनलंकृती: पुनः क्वापि' का था। आशय स्पष्ट है कि रसवादी आचार्य न तो रसानुभूति

से शून्य कोरे अलंकार को काव्य मानते हैं और न उनकी स्थिति ही काव्य में अनिवार्य मानते हैं।

आधुनिक युग के समर्थ आलोचक डा० नगेन्द्र का भी लगभग यही मत है। वे भी कोरे उक्ति-चमत्कार को काव्य नहीं मानते हैं"...वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों के सुलझाने से संबंध रखता है या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्यपद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमें भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से वहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन में हल्की-से-हल्की भी भावतरंग उत्पन्न नहीं करता, वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति संभव नहीं है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता, जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही होगा, इसमें ऐन्द्रियता का रस नहीं होगा।"*

किन्तु हमारा विनम्र निवेदन यह है कि अलंकार काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं, कभी-कभी उक्ति-चमत्कार भी हृदय को काव्य का आनन्द प्रदान करती है। रसवादी आचार्यों के मत से भी अलंकार शब्द अर्थ का, रस भाव का और वर्ण्य विषय का उपकार करते हैं। "वास्तव में भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा बिना किसी प्रकार की वक्रता के व्यक्त की जा सके यह सम्भव नहीं। अतः काव्य में उक्ति-चमत्कार का महत्व भी स्वीकार्य है।" अतः यदि हम यह कहें कि अलंकार काव्य न

*रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८६.

केवल बाह्य तत्व है और न ही पूर्ण अस्तित्वसम्पन्न अंतरंग तत्व। अपितु वह बाह्य एवं अन्तर का एक ऐसा संश्लिष्ट तत्व है, जिसका काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है, तो अधिक समीचीन होगा। सम्भवतः इसीलिए भोजराज ने अलंकारों की शारीरिक आभूषणों से तुलना करते हुए उन्हें तीन प्रकार का माना है—बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर "अलंकाराश्च त्रिधा—बाह्याः, आभ्यन्तराः बाह्याभ्यन्तराश्च। तेषु बाह्याः वस्त्रमाल्य-विभूषणादयः। आभ्यन्तराः दन्तपरिकर्म नखच्छेद अलककल्पनादयः। बाह्याभ्यन्तराः—स्नान, धूप (विलेपनादयः)।

अलंकारों के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि—रसानुभूति में अलङ्कार किस प्रकार योग देते हैं? इस प्रश्न पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। अतएव रसानुभूति में अलंकार का योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होता है। वैसे तो सभी अलंकारों का मूलाधार अतिशय है, जो हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता हुआ बाद में उन्हें पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है।...सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी-न-किसी प्रकार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करके उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियाँ जब अन्वित होती हैं तब स्वभावतः ही इनकी अन्विति में अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है। इसी रूप में अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं।*' इस प्रकार हमारा विचार यह है कि काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है, अलङ्कार काव्य की शोभा-वृद्धि करते हैं किन्तु वे काव्य की आत्मा का पद नहीं ले सकते हैं, वे काव्य के आत्म-तत्व के सहायक हैं, वे अभिव्यक्ति-पक्ष के प्रतिनिधि हैं अतः उनका काव्य में निर्विवाद महत्व है। किन्तु उनका यह महत्व रस-ध्वनि, गुण, रीति और औचित्य के अनन्तर है। वे काव्य के साध्य न होकर साधन मात्र हैं, इसी रूप में उनका महत्व है।

---

*रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५९ तथा ६२।

प्रश्न २५—अलंकारों का एक तर्कसम्मत वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

अलंकारों के वर्गीकरण के इतिहास में रुद्रट का महत्वपूर्ण स्थान है। वे अलंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त करते हैं। किन्तु उनका यह वर्गीकरण तर्कमूलक न था, इसमें अनेक असंगतियाँ भी थीं, अतः मान्य न हो सका रुद्रट की अपेक्षा रुय्यक के वर्गीकरण का अधिक सम्मान हुआ है, जिसका आगे हम निर्देश करेंगे।

अलंकारों के भेद—शब्द और अर्थ को चमत्कृत करने वाले अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, और उभयालंकार।

१.शब्दालंकार—यह अलंकार अपना सौन्दर्य शब्दविशेष के चमत्कार के द्वारा दिखलाते हैं, शब्दविशेष के परिवर्तन से शब्दालंकार प्रभावित होते हैं। जैसे अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि।

२. अर्थालंकार—जो अलंकार काव्य में अर्थ के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के अलंकारों में शब्दविशेष का पर्याय भी कभी-कभी ग्राह्य होता है जो कि अर्थ में किसी प्रकार का आघात उपस्थित न करे। जैसे उपमा आदि।

३. उभयालंकार—जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रह कर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहलाते हैं। इन अलंकारों को शब्दार्थालंकार अथवा मिश्रितालंकार भी कहते हैं।

वर्गीकरण—आचार्यों ने प्रत्येक अलंकार में उक्ति वैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों के मूलभूत तथ्यों में साम्य देखा है। और उसी के आधार पर अलंकारों का वर्गों में विभाजन किया है। इस विभाजन की रूप-रेखा भामह, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर और विद्यानाथ आदि आचार्यों ने प्रस्तुत की है। उस विभाजन की संक्षिप्त रूपरेखा यह है :—

काव्यशास्त्री उद्भट ने विषयानुसार अलंकारों के छः वर्ग माने हैं।

प्रथम वर्ग—आठ अलंकार—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (चार शब्दालंकार एवं चार अर्थालंकार)

द्वितीय वर्ग—नौ अलंकार—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना,

समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति।

तृतीय वर्ग—तीन अलंकार—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—सात अलंकार—प्रेयस्वत्, रसवत् उर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पंचम वर्ग—ग्यारह अलंकार—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्य-योगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्यजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—छः अलंकार—संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग।

आचार्य मल्लिनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का अध्ययन कर एक तर्कसंगत एवं समन्वित वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) सादृश्यमूलक अलंकार

(क) भेदाभेद प्रधान--उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

(ख) अभेद प्रधान—

(अ) आरोपमूलक—रूपक, परिमाण, संदेह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति।

(व) अध्यवसायमूलक—उत्प्रेक्षा, और अतिशयोक्ति।

(२) औपम्यमूलक अलंकार

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता तथा दीपक।

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना।

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति तथा विनोक्ति।

(घ) विशेषण विच्छित्ति—परिकर, समासोक्ति।

(च) विशेषविच्छित्ति—परिकरांकुर।

(छ) विशेषण-विशेष्य विच्छित्ति—श्लेष।

(ज) अप्रस्तुत प्रशंसा—अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति आक्षेप।

(३) विरोध गर्भ मूलक अलंकार

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, चित्र, असंगति और विषम।

(४) शृङ्खलामूलक अलंकार

कारणमाला, एकावली, काव्यलिंग तथा सार।

(५) न्यायमूलक अलंकार

(च) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान।

(छ) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, विकल्प, अर्थापत्ति, समुच्चय।

(ज) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, समाधि, सम,उदात्त।

(६) गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति गूढ़ोक्ति, युक्ति, भाविक, तथा विवृतोक्ति।

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का अध्ययन करते हुए अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। उन्हीं के सूक्ष्म रूप में नौ वर्ग स्वीकार किये गये हैं—प्रमुख वर्ग (१) प्रतीयवस्तुगत, (२) प्रतीयमानौपम्य, (३) प्रतीयमानरसभावादि, (४) अस्फुट प्रतीयमान।

अवान्तर विभाग—(१) साधर्म्यमूलक (भेद प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेद प्रधान), (२) अध्यवसायमूलक, (३) विरोधमूलक, (४) वाक्यान्यायमूलक (५) लोकव्यवहारमूलक, (६) तर्कन्यायमूलक, (७) शृङ्खलावैचित्र्यमूलक (८) अपह्नवमूलक, (९) विशेषणवैचित्र्यमूलक।

उपर्युक्त वर्गीकरण आत्यन्तिक रूप में तर्कपूर्ण होते हुए भी एकान्ततः स्वीकार नहीं हैं फिर भी अलंकारों के अध्ययन के लिये विक्षेष उपयोगी हैं और इनके विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा भी है।

प्रश्न २६—अलंकारों के क्रमिक विकास का परिचय दीजिए।

विशृङ्खलित सूत्रों के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अनेक ऐसे काव्यशास्त्री मिलते हैं, जिनके ग्रन्थरत्न आज उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्त ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। भरत के नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का नाम नामोल्लेख हुआ है, वे हैं—अनुप्रास, उपमा, रूपक, दीपक। इनमें अनुप्रास शब्दालंकार है, शेष अर्थालंकार हैं। इन्हीं अलंकारों के क्रमशः विकसित होते हुए अलंकारों की संख्या लगभग दो सौ हो गई है।

अलंकारों के विकास के युग को तीन भागों में विभक्त किया जाता है,

उनके नाम हैं—पूर्वकाल, मध्यकाल और उत्तरकाल। प्रथम शतक से लेकर अष्टम शतक का समय पूर्वकाल के अन्तर्गत आता है। अष्टम शतक के अन्त से लेकर द्वादश शतक का समय मध्यकाल के अन्तर्गत आता है। त्रयोदश शतक से लेकर सप्तदश शतक का समय उत्तरकाल में आता है।

पूर्वकाल—नाट्य शास्त्र में चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है। यहीं से काव्य शास्त्र की परम्परा का प्रवर्त्तन होता है। परवर्ती काव्य शास्त्र के ग्रन्थों में अलंकारों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही है। अग्निपुराण काव्यशास्त्र के तत्वों का विवेचन करने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों की संख्या सोलह मिलती है। भामह का 'काव्यालंकार' अड़तीस अलंकारों का विवेचन करता है। अग्निपुराण एवं भामह के मध्य का समय लगभग ३५०० वर्षों का है। इस अन्तराल में अनेक आलंकारिक हुए हैं, जिनका उल्लेख हमें 'काव्यालंकार' में 'परे' 'अन्ये' 'केचित्' 'वेपुचित्' आदि के रूप में मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस युग में अनेक आलंकारिक हुए हैं, इन सभी के सामूहिक प्रयासों के कारण अलंकारों की संख्या सोलह से बढ़कर अड़तीस हो गई है। 'रावणवध' नामक काव्य के प्रणेता भट्टी के काव्य में भी अलंकारों की संख्या अड़तीस ही है। भामह एवं भट्टी का समय षष्ठशतक है। भामह के अनुसार काव्य का प्रधान तत्व अलंकार है। वे रस और भाव को स्वतन्त्र न मानकर रसवत्, ऊर्जस्वित आदि अलंकारों में समाविष्ट करते हैं। भामह के अलंकार पूर्वपरम्परा से प्राप्त हैं। ये अलंकारों का मूल 'वक्रोक्ति' में मानते है, जिसका आधार अतिशयोक्ति है। भामह द्वारा स्वीकृत अलंकार निम्न हैं—

(१) अतिशयोक्ति, (२) अनन्वय, (३) अनुप्रास, (४) अपह्नुति, (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) अर्थान्तरन्यास, (७) आक्षेप, (८) आशी, (९) उत्प्रेक्षा, (१०) उत्प्रेक्षावयव, (११) उदात्त, (१२) उपमा, (१३) उपमारूपक, (१४) उपमेयोपमा, (१५) ऊर्जस्वी, (१६) तुल्ययोगिता, (१७) दीपक, (१८) निदर्शना, (१९) पर्यायोक्त, (२०) परिवृत्ति, (२१) प्रेयः, (२२) भाविक, (२३) यथासंख्य, (२४) यमक, (२५) रसवत्, (२६) रूपक, (२७) विभावना, (२८) विरोध, (२९) विशेषोक्ति, (३०) व्यतिरेक, (३१) व्याजस्तुति, (३२) श्लेष

(३३) सन्देह, (३४) समासोक्ति, (३५) समाहित, (३६) संसृष्टि, (३७) सहोक्ति, (३८) स्वभावोक्ति। दण्डी ने इन अलङ्कारों में थोड़ा परिवर्तन कर पैंतीस अलङ्कार स्वीकार किये हैं, उनके नाम निम्न हैं–(१) स्वभावोक्ति, (२) उपमा, (३) रूपक, (४) दीपक, (५) आक्षेप, (६) आवृत्तिदीपक, (७) अर्थान्तिरन्यास, (८) व्यतिरेक, (९) विभावना, (१०) समासोक्ति, (११) अतिशयोक्ति, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) हेतु, (१४) सूक्ष्म, (१५) लेश, (१६) यथासंख्य, (१७) प्रेयः, (१८) रसवत्, (१९) ऊर्जस्वी, (२०) पर्यायोक्त, (२१) समाधि, (२२) उदात्त, (२३) अपह्नुति, (२४) श्लेष, (२५) विशेष, (२३) तुल्ययोगिता, (२७) विरोध, (२८) अप्रस्तुतप्रशंसा, (२९) व्याजस्तुति, (३०) निदर्शना, (३१) सहोक्ति, (३२) परिवृत्ति, (३३) आशीः, (३४) संसृष्टि, (३५) भाविक।

दण्डी के अनुसार प्राचीन आचार्यों ने इन अलङ्कारों को स्वीकार किया है। "ये अलंकार यद्यपि अर्थगत हैं, तथापि इन्हें वाणी का, शब्द का अलंकार इसीलिए कहा जाता है कि शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध माना जाता है।" (काव्यादर्श २।४-७)

आचार्य वामन ने केवल इकतीस अलंकारों का निरूपण किया है। उन्होंने दण्डी के आशीः, उत्प्रेक्षावयव, उदात्त, ऊर्जस्वी आदि छोड़ दिये हैं। उद्भट ने इकतालीस अलंकार माने हैं।

मध्यकाल—अष्टम शतक से लेकर द्वादश शतक तक के चार सौ वर्षों का समय अलंकारों के विकास का काल है। इस काल में रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अलंकारों के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस युग में अलंकारों का पर्याप्त विकास हुआ है।

रुद्रट ने लगभग ५५ अलंकारों का विवेचन किया है। उनका महत्वपूर्ण कार्य जहाँ अलंकारों का संवर्द्धन है, वहीं उनका वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के रूप में वर्गीकरण भी है।

इस युग के आचार्यों में भोजराज ने अलंकारों की संख्या ७२ मानी है, वे २४ शब्दालङ्कार, २४ अर्थालङ्कार तथा २४ उभयालङ्कार मानते हैं। भोज रसवादी आचार्य थे, किन्तु अलङ्कारों के महत्व को स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट रसवादी आचार्य थे, किन्तु उनकी दृष्टि समन्वयात्मक थी। उन्होंने आठ शब्दालङ्कार तथा ६१ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। मम्मट ने विनोक्ति तथा सम आदि नये अलङ्कारों की उद्भावना भी की है। मम्मट ने निम्न अलङ्कारों का विवेचन किया है—

शब्दालंकार---वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्रालङ्कार, पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास।

अर्थालंकार---उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, अर्थश्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक. काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, सङ्कर।

मम्मट ने अलङ्कारों के स्वरूप का यथार्थ वर्णन किया है। उनके मत में अलङ्कार काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक तत्व हैं।

रुय्यक ने 'अलङ्कार सर्वस्व' में १० शब्दालङ्कारों तथा ७५ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। रुय्यक अलङ्कारवादी आचार्य हैं।

उत्तरकाल---तेरहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी का काल उत्तरकाल में स्वीकार किया जा सकता है। इस काल में अलङ्कारों का संख्या की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है। जयदेव ने आठ शब्दालङ्कार तथा ८१ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। जयदेव ने मम्मट द्वारा स्वीकृत संकर, संसृष्टि और सूक्ष्म नामक अलङ्कार स्वीकार नहीं किये हैं। शेष अलङ्कारों को मान लिया है। जयदेव ने कुछ नवीन अलङ्कारों की उद्भावना भी की है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) ने बारह शब्दालङ्कार, ७० अर्थालङ्कार और ७ रसवदादि अलङ्कारों का विवेचन किया है। विश्वनाथ

के ८९ अलंकारों में ८४ अलङ्कार पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत हैं तथा ५ अलङ्कार नवीन हैं।

द्वितीय वाग्भट्ट ने अपने काव्यानुशासन में अन्य और अपर नामक दो नवीन अलंकारों की उद्भावना की है।

सत्रहवीं सदी में अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ में अलंकार का व्यापक और परिष्कृत विवेचन किया है। इस समय तक अलंकारों की संख्या लगभग सवा सौ हो गई थी। जयदेव की अपेक्षा अप्पय दीक्षित ने सत्रह नवीन अलंकारों की उद्भावना की है।

पण्डितराज जगन्नाथ इस परम्परा के अन्तिम आचार्य हैं। इनके अपूर्ण-ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर' में लगभग एक सौ अस्सी अलंकारों का विवेचन हुआ है।

उपर्युक्त आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन तीन वर्गों—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार में किया है।

यह सम्पूर्ण विकास का इतिहास तीन कालों—पूर्व, मध्य और उत्तर काल के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है।

प्रश्न २७—अलंकार सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दीजिए।

अलंकार सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास चिर प्राचीन है। अलंकारों का अस्तित्व वेदों तक में विद्यमान है। वेद, उपनिषद् और ब्राह्मणग्रन्थ में 'अरं-कृत', तथा अलङ्कार शब्द मिलते हैं। निरुक्त में महर्षि यास्क ने 'अरंकृत' शब्द का पर्याय 'अलंकृत' बतलाया है—'सोमा अरंकृता अलंकृताः······' (निरुक्त १०।१-२)। रामायण-महाभारत आदि ग्रन्थों में भी अलङ्कार का स्पष्ट प्रयोग मिलता है। अनेक अलङ्कारों के उदाहरण वहाँ भरे पड़े हैं।

यास्क, पाणिनीय व्याकरण, वार्तिककार कात्यायन, आदि के ग्रन्थों में अलङ्कार-विषयक विवेचन भी मिलते हैं।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित आचार्यों के ग्रन्थ न मिलने के कारण "उप-मादि अलङ्कारों का विकास वेद, वेदांग, रामायण, महाभारत आदि से ही मानना समुचित है।"

काव्यशास्त्र-विषयक उपलब्ध ग्रन्थों में भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र

प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलङ्कारों का विवेचन हुआ है—उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।" इस प्रकार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र ही वह प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें अलङ्कारों का उल्लेख हुआ है। किन्तु भरत का यह ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र के तत्वों का ही व्यापक विवेचन करता है, अतः वह नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है।

अलङ्कार सम्प्रदाय का प्राचीनतम ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है और इसके लेखक भामह हैं। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमवद्ध विवेचन मिलता है। भामह ने काव्य में अलङ्कारों के महत्व तथा अनिवार्य उपयोगिता की घोषणा करते हुए लिखा है कि "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"। इस प्रकार भामह ने कमनीय होने पर भी वनिता के अनलंकृत मुख को असुन्दर घोषित कर गुण से अधिक महत्व अलकार को प्रदान किया है। भामह के युग में अलङ्कार लोकातिक्रान्तगोचर अतिशयोक्ति का रूप था। भामह के मत में काव्य का प्राण अलङ्कार है और अलङ्कार का सर्वस्व वक्रोक्ति। यही कारण है कि भरत ने रस और भाव के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया है अपितु उनका समावेश रसवत्, ऊर्जस्वित् अलङ्कारों में किया है। अतः हम कह सकते हैं कि अलङ्कार सम्प्रदाय को स्थापना भामह से हुई है, उन्हें अलङ्कार काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार्य थे।

अलङ्कार सम्प्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य दण्डी हैं। दण्डी ने अलङ्कार को काव्य-शोभा का कर्त्ता धर्म माना है—"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।" इस अलङ्कार को वे काव्य का शाश्वत धर्म मानते हैं, वे भामह की वक्रोक्ति की अपेक्षा अतिशय को अलङ्कार की आत्मा मानते हैं। और अलङ्कार के साथ गुण और रीति की भी प्रतिष्ठा करते हैं। दण्डी के युग में अलङ्कार ने काव्य के शोभा विधायक तत्व के रूप में सन्धि-सन्ध्यंग, वृत्ति-वृत्यंग, लक्षण, गुण, रस आदि अनेक तत्वों को आत्मसात् कर लिया था। फलस्वरूप अलङ्कारों के अंगित्व को पूर्ण प्रतिष्ठा मिल गई थी—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः (काव्यादर्श २।३६७)

तीसरे अलङ्कार शास्त्री के रूप में 'उद्भट' आते हैं। उद्भट ने भामह के काव्यालङ्कार की टीका के रूप में 'भामह विवरण' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इनका विवेचन सूक्ष्म एवं समृद्ध है।

अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। वामन काव्य में अलङ्कारों का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं। उनकी मान्यता है कि अलकार काव्य-सौन्दर्य के प्रतिष्ठाता हैं, अङ्ककारों के द्वारा ही काव्य को ग्राह्य मानते हैं, तथा सौन्दर्य ही अङ्ककार है—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।
सौन्दर्यमलङ्कारः ॥

वामन ने एक नवीन मान्यता का भी उल्लेख किया है, "यद्यपि उन्होंने गुण-विशिष्ट-पदरचना रूप काव्य की आत्मा में गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा के उत्कर्षक को भी अलङ्कार मानकर ध्वनिकालीन अलङ्कार-विषयक मान्यता का भी उल्लेख किया है। दण्डी का अलङ्कार काव्य-शोभा का विधायक था, तो वामन का अलङ्कार काव्य-शोभातिशय का साधक। वामन की एक विशेषता यह भी है कि वे गुण को काव्य का नित्यधर्म मानते हैं तथा अलङ्कारों को सहायक तत्व। गुण और अलङ्कारों का स्पष्ट विवेचन भी वामन ने किया है। वामन अलङ्कारवादी आचार्य तो थे किन्तु वे काव्य की आत्मा का पद रीति को देते थे। इसीलिए अलङ्कार-विषयक उनकी मान्यता काफी सन्तुलित है, तथा किसी भी पूर्वाग्रह से रहित भी।

भामह एवं दण्डी आदि आचार्यों ने अलङ्कार के अन्तर्गत रस को आत्मसात् कर लिया था, इस मान्यता का खण्डन करने वाले आचार्यों में रुद्रट महत्वपूर्ण हैं। रुद्रट ने रसवत् आदि अलङ्कारों को पूर्णतः अस्वीकार किया है। रुद्रट ने एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह किया है कि उन्होंने अलङ्कारों का वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर वर्गीकरण किया है। यही नहीं, रस के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "तस्मात् कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्"। अलङ्कारवादी रुय्यक की यह मान्यता भी दर्शनीय है कि प्राचीन अलङ्कारिकों के अनुसार काव्य में अलङ्कार ही प्रधान हैं—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्

परवर्त्ती आचार्यों में दण्डी की मान्यता का समर्थन केवल भोजराज ने किया है, अन्यथा सभी आचार्यों ने वामन की मान्यता के आधार पर विकसित ध्वनिकालीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत 'अलङ्कार का शोभातिशय हेतु' वाला स्वरूप ही मान्य किया है।

संस्कृत के अलङ्कारशास्त्रियों में 'अलङ्कार-सर्वस्व' के लेखक रुय्यक भी प्रसिद्ध हैं। वाग्भट का वाग्भटालङ्कार, जयदेवकृत चन्द्रालोक और अप्पय दीक्षित का कुवलयानन्द अलङ्कार-विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

जयदेव की यह घोषणा 'जो विद्वान् अलङ्कार से रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी शीतल क्यों नहीं मानते'—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती॥

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए हिन्दी के अलङ्कारवादी आचार्य केशव भी कहते हैं कि—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन विन न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

हिन्दी के अन्य कवि भी अलङ्कारवादी थे किन्तु रीतिकालीन काव्य में रस और ध्वनि के समक्ष उन्हें सफलता नहीं मिली।

अलङ्कार सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों में रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि महत्वपूर्ण हैं। इन सभी ने अलङ्कार सम्प्रदाय के साहित्य का विकास किया, किन्तु इनकी प्रतिभा भामह, दण्डी, वामन आदि से अधिक विकसित न हो सकी। यही नहीं, ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अधिकांश आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि अलङ्कारों का व्यापक विवेचन करने के बाद भी समन्वयवादी थे। अलङ्कार और रस के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या करने वाले थे। निकर्ष्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भामह, दण्डी आदि से प्राचीन और अर्वाचीन अलङ्कार शब्द का प्रयोग उसके अंग रूप का ही प्रतिपादक है, अंगी रूप का नहीं। यदि किसी आचार्य ने अंगी रूप में प्रतिपादन किया भी है, तो यह सिद्धान्त अन्य आचार्यों को मान्य नहीं हुआ है। अतः स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार आपाततः सौन्दर्य का वर्द्धक है, काव्य सौन्दर्य को उत्पन्न करने का साधन है, स्वयं साध्य नहीं। वह शोभाकारक या 'सौन्दर्यमलङ्कारः' नहीं है।

अध्याय | ४

रीति

प्रश्न २८ (अ) रीति की व्युत्पत्ति करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

(ब) रीति सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दीजिए।

(स) काव्य की रीतियों का सोदाहरण परिचय दीजिए।

लक्षणग्रन्थों में प्रयुक्त 'रीति' शब्द 'रीङ् गतौ' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'रीति' शब्द का अर्थ—ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली है। भोजराज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में रीति शब्द को 'मार्ग' का पर्यायवाची माना है—'वैदर्भीकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग' इति स्मृतः।' रीति शब्द की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—"रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यऽनयेति करणसाधनोऽयं रीति शब्दः मार्गपर्यायः।" इस व्युत्पत्ति के आधार पर भी रीति शब्द मार्ग का पर्याय सिद्ध होता है। दूसरे आचार्य रीति शब्द से गुणाभिव्यंजक वर्णों की योजना का अर्थ ग्रहण करते हैं—"रीयते माधुर्यादि गुणानां विशेषो ज्ञायतेऽनयेति रीतिः रितिः व्युत्पत्तेः"।

'रीति' तत्व काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार ईश्वर की निर्माणशक्ति से निर्मित लावण्यवती नारी अनिर्वचनीय सौन्दर्य को प्राप्त कर सहृदय मानस के विलास एवं आकर्षण की वस्तु होती है, उसी प्रकार लोकोत्तर काव्य-निर्माण-कुशल कवि द्वारा निर्मित कविता सहृदय के हृदय में रस-निष्पत्ति कर उसे आनन्द के सागर में निमग्न कर देती है। यह आनन्द कवि की रीति या शैली पर विशेष निर्भर रहता है, क्योंकि कविता कामिनी का यह भव्य-भवन रीति पर ही खड़ा होता है।

आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है; उनके अनुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है—"विशिष्टापदरचना रीतिः।" वामन के अनुसार पद-रचना की विशेषता अथवा उत्कर्ष गुणों पर निर्भर है—'विशेषो गुणात्मा"। उनके मत में गुण काव्य की शोभा के आधायक तत्व हैं तथा ये काव्य के नित्य धर्म हैं। वामन के मत में रीति काव्य की आत्मा है—

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

वामन रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं अपितु काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर ही आश्रित मानते हैं। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री आचार्य दण्डी ने भी इस मत को स्वीकार किया था, उन्होंने रीति एवं गुणों को परस्पर सम्बद्ध कर एक मानने की चेष्टा भी की थी। उनका कहना है कि—

"वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।"

अर्थात् वैदर्भी आदि रीतियों के प्राण दश गुण हैं। यद्यपि दण्डी ने इस रीति सिद्धान्त की चर्चा की थी, किन्तु इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय वामन को है। आनन्दवर्धन भी रीति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि—"वाक्य वाचक चारुत्व हेतुः" अर्थात् रीति शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का विधान करती है। आनन्द ने रस के साथ भी रीति का महत्वपूर्ण सम्बन्ध माना है, उनके अनुसार—'पदरचना माधुर्य गुणों के आधार पर ही आश्रित रहता है और इसकी अभिव्यक्ति में सहायक होता है—"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ति माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्"। आचार्य विश्वनाथ भी रीति को रस का उपकारक मानते हैं।* उनके अनुसार रीति पदों के मेल या संगठन को कहते हैं। वह अङ्ग संस्थान की तरह मान्य है। जैसे पुरुषों के शरीर का संगठन होता है। उसी प्रकार काव्य के देह रूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। इसी संगठन का नाम रीति है। यह काव्य के आत्मभूत तत्व रस, भाव आदि की उपकारक होती है। "जिस प्रकार पुरुष

१. सा० द० ६।१ पदसंघटना रीतिरङ्ग संस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां।

या स्त्री की शरीर रचना देखने में सुकुमारता, मधुरता अथवा क्रूरता, कठिनता आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है और उससे उस देहधारी की विशेषता का बोध होता है। इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्य आदि गुणों के व्यंजन के द्वारा रसों का उपकार (उत्कर्ष) होता है।"* वक्रोक्तिजीवित के लेखक कुन्तक ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करने की अपेक्षा इसका विरोध किया था। इसका प्रभाव सम्भवतः मम्मट पर भी पड़ा और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में रीतियों को स्वीकार न कर वृत्तियों के रूप में इन्हें स्वीकार किया है उनके (मम्मट) अनुसार वृत्ति-नियत वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार है—

'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।'

(का० प्र० ६।७६)

वे क्रमशः उपनागरिका, परुषा तथा कोमला नामक वृत्तियाँ वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों के स्थान पर स्वीकार करते हैं। राजशेखर ने रीतियों को काव्य का वाह्य तत्व स्वीकार किया है, उनका कथन इस प्रकार है— 'वचन विन्यासक्रमो रीतिः' शारदातनय भी 'वचन विन्यासक्रम' को रीति कहते हैं। किन्तु आचार्य विद्याधर रसानुकूल शब्द और अर्थ की योजना को रीति मानते हैं--'रसोचित शब्दार्थ निबन्धनम् रीतिः"। आचार्य शिङ्गभूपाल 'पदविन्यास की भङ्गी' रीति मानते हैं। रसगङ्गाधर के लेखक परिडतराज जगन्नाथ ने भी रीतियों का उल्लेख किया है।

जिस प्रकार अवयवों का उचित सन्निवेश शरीर का सौन्दर्य बढ़ाता है, शरीर का उपकारक होता है, उसी प्रकार गुणाभिव्यंजक वर्णों (रीति) का यथास्थान पर प्रयोग शब्दार्थ शरीर तथा काव्य की आत्मा का विशेष उपकार करता है। अतः काव्य में रीति का विशेष महत्व है। क्योंकि वह काव्यशरीर की एक मात्र आधार है।

रीति भेद निरूपण—आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली नामक तीन रीतियाँ मानी हैं।† प्रायः ये तीनों ही अधिकांश आचार्यों को

*साहित्य दर्पण हिन्दी टीका: आचार्य शालिग्राम, पृ० २७०।

†सात्रिधा वैदर्भी गौडीया पांचाली च। (काव्यालङ्कार सूत्र १. २. ९.)

वैदर्भी—विदर्भ देश के कवियों के द्वारा अधिक प्रयोग में आने के कारण इसका नाम वैदर्भी है। आचार्य विश्वनाथ ने इसकी विशेषताओं के आधार पर इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥
(सा० द० ६।२-३)

माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा की हुई समासरहित अथवा छोटे समासों से युक्त मनोहर रचना को वैदर्भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम ललिता भी है। वामन तथा मम्मट इसे उपनागरिका भी कहते हैं।[१] आचार्य आनन्दवर्धन इन गुणों से सम्पन्न वृत्ति को पूर्णतः समास रहित स्वीकार करते हैं तथा उसे 'असमासा' कहते हैं। रुद्रट के अनुसार यह कोमल और सुकुमार गुणों से युक्त होने के कारण श्रृंगार, करुण और प्रेयस आदि रसों के लिए अधिक उपयुक्त है। रुद्रट के अनुसार वैदर्भी का स्वरूप इस प्रकार है—"समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त, श्लेषादि दस गुणों से युक्त एवं चवर्ग से अधिकतया युक्त, अल्पप्राण अक्षरों से व्याप्त सुन्दर वृत्ति वैदर्भी कहलाती है।"[२]

वैदर्भी रीति काव्य में विशेष प्रशंसित रीति है। कालिदास को वैदर्भी रीति की रचना में विशेष सफलता मिली है। किसी-किसी आचार्य के अनुसार वैदर्भी रीति में निर्मित काव्य ही वास्तविक काव्य है, वैदर्भी के अभाव में काव्य की कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि वाणी रूपी मधु का परिस्रवण वैदर्भी रीति में ही प्रवाहित होता है।[३] इस प्रकार वैदर्भी रीति काव्य में सर्वश्रेष्ठ मान्य है। वामन वैदर्भी को 'समग्रगुणा वैदर्भी' कहते हैं। दण्डी वैदर्भी के प्राणभूत दसगुण मानते हैं।[४] राजशेखर के अनुसार वैदर्भी रीति से कर्णप्रिय माधुर्य गुण का

---

१. का० प्र० ९/८० माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनारिकोच्यते।

२. सा० द० हिन्दी टीका ९/३ की वृत्ति और हिन्दी पृ० २७१।

३. सतिवक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ् मधुः ॥

४. काव्यादर्श १/४२ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणा स्मृताः।

प्रवाह प्रवाहित होता है।* साहित्य में वैदर्भी रीति अन्य रीतियों की अपेक्षा अधिक समादृत हुई है।

परिभाषा—माधुर्यव्यंजक वर्णों से युक्त, दीर्घसमासों से रहित अथवा छोटे समासों वाली ललितपद रचना का नाम वैदर्भी है, यह रीति शृंगार आदि ललित एवं मधुर रसों के लिए अधिक अनुकूल होती है।

उदाहरण

मधुशाला वह नहीं, जहाँ पर मदिरा वेची जाती है।
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती मेरी तो वह मधुशाला ॥

इस पद में कोमल और मधुरवर्णों का प्रयोग हुआ है, समासों का अभाव है। पदावली ललित है, श्रुतिमधुर है, अतः वैदर्भी रीति है।

गौडी—यह ओजपूर्ण शैली है। दण्डी इसमें दसगुणों का समावेश नहीं मानते हैं; वामन गौडी रीति के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि इसमें ओज और कान्ति गुणों का प्राधान्य तथा समास की वहुलता रहती है। मधुरता तथा सुकुमारता का इसमें अभाव रहता है—

"समस्तात्युद्‌भटपदामोजः कान्तिगुणान्वितम्
गौडीमिति गायन्ति रीति विचक्षणाः।"

रुद्रट ने इसे दीर्घ समासवाली रचना माना है, जो कि रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्ररसों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होती है। दण्डी वैदर्भी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं, कि इसके विपरीत गुण गौडी रीति में होते हैं—

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।"

राजशेखर के मतानुसार दीर्घसमासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्ति सम्पन्न गौडी रीति है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने गौडी रीति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"ओजगुण प्रकाशक वर्णों से सम्पन्न, शब्दाडम्बर तथा समासवहुल रचना गौडी रीति कहलाती है—

*काव्यमीमांसा : वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम् ॥

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्धः आडम्बर पुनः ।
समास बहुला गौडी (सा० द० ६/३-४)

इस रीति की रचना में उद्दीपक वर्णों का प्रयोग होता है, जिससे शौर्य-भावना का आविर्भाव होता है ।

इसी गौडी रीति का दूसरा नाम 'परुषा' है । मम्मट के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—"ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा" (का० प्र० ६/८०) । आचार्य आनन्दवर्धन इसे 'दीर्घसमासवृत्ति' कहते हैं क्योंकि इसमें समासात्मक रचना की अधिकता रहती है । आचार्य पुरुषोत्तम के मतानुसार गौडी रीति का लक्षण इस प्रकार है—

बहुतर समासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडी या ।
रीतिरनु प्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोक वाक्या च ।।

अर्थात् अलंकारों से अलंकृत, समास युक्त, महाप्राण वर्णों से युक्त लम्बे वाक्यों वाली रचना गौडी रीति में होती है ।

परिभाषा—ओज प्रकाशक वर्णों से सम्पन्न, दीर्घ समास वाली, शब्दाडम्बरवती रीति गौडी होती है ।

उदाहरण

अच्छहि निरच्छ रुच्छहि उजारौं इमि ।
तो से तिच्छतुच्छन को कछवै न गंत हौं ।
जारि डारों लङ्कहि उजारि डारौं उपवन ।
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमन्त हौं ।।

इस उदाहरण में संयुक्ताक्षरों का प्रचुर प्रयोग है, और गुण की अभिव्यक्ति हो रही है । वर्ण कर्णकटु तथा महाप्राण—ट, ठ, ड, ण, ह आदि का प्रयोग हुआ है; अतः इस पद में गौडी रीति है ।

पांचाली—पांचाली रीति का उल्लेख भामह तथा दण्डी ने नहीं किया है । इस रीति का सबसे पहले उल्लेख वामन ने किया था । उनके अनुसार—यह

माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल छायायुक्त

(कान्ति रहित), मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती।* सूत्र रूप में यह 'माधुर्य और सौकुमार्योपपन्ना पांचाली' रीति होती है। राजशेखर के मत में यह शब्द और अर्थ के समान गुम्फन से युक्त होती है।† विश्वनाथ के अनुसार पांचाली रीति का लक्षण इस प्रकार है:—

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषठ् पदो वन्धः पाञ्चालिका मता॥
(सा० द० ६।४)

अर्थात् यह पाँच-छः समासयुक्त पदों के वन्ध वाली रचना होती है। काव्यप्रकाशकार इसे 'कोमलावृत्ति' कहते हैं—'कोमला परैरिति"। उद्भट इसे ग्राम्यावृत्ति कहते हैं। आनन्दवर्धन इसे 'मध्यम समास से युक्त पाञ्चाली वृत्ति' कहते हैं। 'समासेन च मध्यमेन भूषिता'। भोज ओज एवं कान्ति समन्वित पदों की मधुर सुकुमार रचना को पाञ्चाली कहते हैं।

उदाहरण—

मधु राका मुस्काती थी,
पहले जब देखा तुमको।
परिचित से जाने कबके,
तुम लगे उसी क्षण हमको।

इस उदाहरण से प्रसाद गुण की अधिकता है। समास का अभाव है। शब्दावली कोमल है, अतः पांचाली रीति है।

राजशेखर 'मागधी' नामक एक अन्य रीति भी स्वीकार करते हैं। जो मगध देश में व्यवहृत होती है। भोज 'अवन्तिका' नामक रीति का उल्लेख करते हैं। एक 'लाटी' नामक रीति भी है, इसका प्रयोग लाटदेश में होता है। रुद्रट के अनुसार लाटी मध्यम समास वाली होती है। इसका उपप्रयोग उग्ररसों

---

*का० सू० वृ० १/२/१३ वृत्ति
आश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पांचाली कवयो विदुः॥

†काव्यमीमांसा : शब्दार्थयोः समोगुम्फः पांचाली रीतिरिष्यते॥

में होता है। विश्वनाथ लाटी को वैदर्भी पांचाली के बीच की रीति मानते हैं—

"लाटी तु रीति वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।"

(सा० द० ६।५)

रुद्रट इसी प्रसङ्ग में पाँच अन्य वृत्तियों का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—मधुरा, परुषा, प्रौढ़ा, ललिता, भद्रा। किन्तु मम्मट ने इन वृत्तियाँ को स्वीकार नहीं किया है। मम्मट ने उपनागरिका, परुषा, और कोमला वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, जो कि दूसरे विद्वानों की सम्मत वैदर्भी आदि रीतियाँ ही हैं—

केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।"

प्रश्न २६—रीति का वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली वक्रोक्ति से अन्तर स्पष्ट कीजिए।

रीति एवं वृत्ति—काव्यशास्त्र में रीति एवं वृत्ति का समान प्रयोग मिलता है; अतः वृत्तियों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान परम आवश्यक है।

काव्यशास्त्र में वृत्तियाँ दो प्रकार की प्रसिद्ध हैं। एक तो अर्थवृत्तियाँ या नाटचवृत्तियाँ। इनके अन्तर्गत भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी का निरूपण किया गया है—इन्हें नाटच की माता का पद दिया गया है—"वृत्तयो नाट्यमातरः"।* दूसरी काव्यवृत्तियाँ या शब्दवृत्तियाँ हैं। इनके अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों की चर्चा की जाती है। रीतियों और शब्द-वृत्तियों में पर्याप्त साम्य है। इसीलिए मम्मट, आनन्दवर्धन आदि इनमें अन्तर नहीं मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्य इन्हें भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार रीति में संघटना और वर्णयोजना रहती है, जबकि वृत्ति में केवल वर्णयोजना। अतः दोनों समान नही हैं। "वृत्तियों का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियों का वर्गीकरण देश या प्रान्त पर है। तथा गुण सम्बद्ध होने पर भी वाह्यरूप की प्रधानता है। वृत्तियों का सम्बन्ध मानसिक पक्ष की ओर है।"†

रीति एवं प्रवृत्ति—काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रवृत्ति शब्द भी बहुत प्रच-

*सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृता।

†ध्वन्यालोक—व्यवहारोहि वृत्तिरुच्यते

लित है, किन्तु यह रीति से भिन्न है। नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि जो विशेषता नाना देशों के वेष, भाषा तथा आचार-विचार की व्यंजना करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं—"प्रवृत्तिरिति कस्मात्। पृथिव्याँ नानादेशवेश भाषा चारवार्त्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।" राजशेखर के अनुसार वेषविन्यास के क्रम का नाम प्रवृत्ति है—"वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः"। दशरूपककार धनंजय के मतानुसार—"देश तथा काल के अनुरूप नायक की विभिन्न वेश, क्रिया आदि प्रवृत्ति शब्द से अभिहित की जाती है।" इनका ज्ञान लोकवृत्त से ही होता है—

देश भाषा क्रिया वेष लक्षणाः स्यु प्रवृत्तयः।
लोकादेवावम्योताँ यथौचित्यं प्रयोजयेत्॥

संक्षेप में रीति एवं प्रवृत्ति का अन्तर यह है कि रीति का सम्बन्ध काव्य रचना के सौन्दर्य से है, जबकि प्रवृत्ति व्यक्ति की वेशभूषा आचार-विचार की सूचक है। रीति का नियामक रस है, जबकि प्रवृत्ति का वस्त्रालंकार आदि।

रीति एवं शैली—अंग्रेजी के Style शब्द का रूपान्तर शैली है। यह भी रचना की एक रीति या प्रकार ही है। रीति शब्द संकुचित अर्थ में विशिष्ट पद रचना है और व्यापक अर्थ में वह आज की शैली के अर्थ को भी व्यक्त करती है। शैली शब्द 'शील' से बना है। इस शब्द से कर्त्ता के स्वभाव, रुचि प्रवृत्ति, चरित्र और मनोवृत्ति का पता चलता है। 'साहित्य शास्त्र में शैली का अर्थ है विशेष काव्य रचना या अभिव्यंजना पद्धति।"

रीति और वक्रोक्ति—रीति काव्य के बाह्य रूप से विशेष सम्बन्ध रखती है, जबकि वक्रोक्ति अन्तरंग पक्ष से विशेष सम्बद्ध है। रीति सिद्धान्त में अप्रत्यक्ष रूप से (गुणों के अन्तर्गत) रस की स्वीकृति है जबकि वक्रोक्ति का रस ध्वनि से विशेष सम्बन्ध है।

प्रश्न ३०—काव्य-गुणों का परिचय देते हुए यह बताइये कि वामन निरूपित दस गुणों का भामह द्वारा निरूपित तीन गुणों में अन्तर्भाव कहाँ तक उचित है और क्यों ?

काव्य-शरीर की चर्चा करते हुए विद्वानों ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर,

रस को काव्य की आत्मा; गुण को आत्मा के धर्म, काव्य के दोषों को काणत्व-अन्धत्व तथा अलंकार को कटक-कुण्डलादि के समान माना है। काव्य के इस रूपक की चर्चा प्राचीन साहित्य में चिरकाल से मिलती है।

अलकार शास्त्र के उद्भव के साथ ही 'रीति' सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वामन 'गुण' को 'रीति' का आवश्यक तत्व मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट पदरचना रीति है और गुण उसके विशिष्ट आत्मरुप धर्म है।[१] दण्डी गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण मानते हैं।[२]

'गुण' का शब्दार्थ है—दोषाभाव, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म। काव्यशास्त्र में भी यह शब्द दोषाभाव, तथा काव्य के शोभाकारी धर्म के रुप में मान्यता प्राप्त है। भरत दोष के विपर्यय को गुण कहते हैं :—
"एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।[३] दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभा विधायक धर्म हैं। वामन भी 'काव्य के शोभाविधायक धर्म को गुण कहते हैं—"काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः [४] आनन्द वर्धन ने 'अंगी-रूप रस के आश्रित धर्म को गुण' कहा है —"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।[५] मम्मट भी गुणों को रसाश्रित मानते हुए कहते हैं कि आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी स्थिर धर्म गुण हैं—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥[६]

आचार्य विश्वनाथ भी रस के अंगीभूत धर्मों को गुण मानते हैं—रसस्यांगित्व माप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः।[७] उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।२।८
२. काव्यादर्श १।४२,
३. नाट्य शास्त्र १७।६५
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।१।१
५. ध्वन्यालोक २।३
६, काव्यप्रकाश ८।१
७. साहित्यदर्पण ८।१

पर गुण विषयक मान्यता को दो वर्गों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है; प्रथम वर्ग उन आचार्यों का है जो गुण को शब्दार्थ का गुण मानते हैं, इनमें वामन और दण्डी हैं। द्वितीय वर्ग में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ हैं; ये 'गुण' को रसाश्रित मानते हैं, तथा गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ का मत उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न है। वे "गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं' और रस को काव्य की आत्मा मानते हैं किन्तु उसे रस शून्य बतलाते हैं।"

आचार्य मम्मट ने शौर्यादि के समान गुणों को रस का धर्म माना है। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के उत्कर्षक होते हैं उसी प्रकार गुण रस के उत्कर्षक होते हैं। इनकी स्थिति अचल है। इस प्रकार रस एवं गुण परस्पर सम्बद्ध हैं। मम्मट ने गुणों को शब्दार्थ का धर्म नहीं माना है और इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मा के धर्म हैं न कि वर्णादि (वर्ण, रचना, वृत्ति) रूप शरीर के—"आत्मन एवं हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् ।* पुनश्च वे लिखते हैं कि माधुर्य आदि गुण इसके धर्म हैं, ये वर्णों पर आश्रित नहीं हैं—अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते, न तु वर्ण-मात्राश्रयाः ।* किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब गुण रस के धर्म हैं ये मधुर शब्द हैं अथवा यह मधुर अर्थ 'यह व्यवहार में क्यों आता है। इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने लिखा है कि 'यह व्यवहार गौण रूप से किया जाता है, मुख्यतः गुण तो रस के धर्म हैं—

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।† अतः निष्कर्ष यह है कि गुण शब्दार्थनिष्ठ न होकर रसनिष्ठ हैं और ये रसाश्रित हैं। गुणों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि 'गुण' काव्य के उत्कर्षाधायक वे तत्व

---

*काव्यप्रकाश वृत्ति—८।६६

†वही ८।

हैं जो मुख्यतः रसाश्रित हैं तथा गौण रूप में उन्हें शब्दार्थनिष्ठ कहा जा सकता है।

गुण-संख्या--गुणों को संख्या के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतवैषम्य है, प्राचीन आचार्यों के यहाँ गुणों की संख्या निरन्तर घटती और वढ़ती रही है किन्तु आचार्य मम्मट ने भामह तथा आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण कर तीन गुणों को मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने वामन निर्दिष्ट दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों में समावेश किया है। मम्मट परवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ तथा हिन्दी के आचार्यों ने मम्मट की मान्यता को प्रायः स्वीकार कर लिया है।

भरत के नाट्यशास्त्र में दस गुणों को स्वीकार किया गया है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता एवं कान्ति नामक दस गुण होते हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्यगुणा दशैते॥
(ना० शा० १७।९६)

परवर्ती अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के—शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत गुण माने हैं। इन तीनों प्रकार के गुणों की संख्या उन्नीस है। शब्दगतश्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य तथा यौगिकी नामक सात गुण हैं—

श्लेषो लालित्य गाम्भीर्य सौकुमार्यमुदारता।
सत्येव यौगिकी चे तिगुणाः शब्दस्य सप्तधा॥

अर्थगत छः गुण निम्न हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा सामयिकता—

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढ़िः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति॥

शब्दार्थोभयगत छः गुण निम्न हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक तथा राग—

तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चाः प्रपञ्चिताः ।।

आचार्य दण्डी ने भरतमुनि के समान ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है किन्तु नामों में अन्तर है।

वामनाचार्य का गुणों के प्रसंग में योगदान विशेष उल्लेखनीय है। वामन शब्दगत दस तथा अर्थगत दस गुण मानते हैं, इस प्रकार वामन के मत में गुण बीस हैं। वामन के अनुसार गुण शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं। शब्दगत तथा अर्थगत गुणों के नाम समान हैं—

श्लेषः प्रसादः समतामाधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि नामक गुण हैं। किन्तु वामन के गुणों के नाम समान होने पर भी इनके लक्षण भिन्न हैं।

भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण तक गुणों की संख्या चौबीस हो जाती है। वामन के दस गुणों के अतिरिक्त निम्न चौदह गुण और भी हैं—उदात्त, ऊर्जित, प्रेयान्, सुशब्द, सूक्ष्म, गम्भीर, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, तथा प्रौढ़ि। "भोज ने बाह्य (शब्दगुण), आभ्यन्तरिक (अर्थगुण) और वैशेषिक (प्रसंग गुण) के आधार पर चौबीस के उपभेद करके गुणों की संख्या बहत्तर तक पहुँचा दी है।

आचार्य कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य नामक दो 'साधारण' गुण तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक विशेष गुणों का उल्लेख किया है। कुन्तक के कवि स्वभाव पर आधृत तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम हैं। औचित्य और सौभाग्य तीनों ही मार्गों में एक ही रूप में प्राप्त होते हैं शेष चार गुण प्रत्येक मार्ग में अलग-अलग रूप में मिलते हैं।* आनन्दवर्धन ने द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुण माने हैं। आनन्द का प्रभाव मम्मट पर विशेष है। मम्मट ने वामन

---

*वक्रोक्तिजीवित १।२०-५१।

के गुणों का इन्हीं तीन गुणों में समाहार कर लिया है। पीयूषवर्षी जयदेव ने गुणों की संख्या आठ मानी है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य तथा उदारता।[१] जयदेव ने वामनाचार्य के 'कान्ति,' तथा 'अर्थव्यक्ति' का शृंगार रस तथा प्रसाद गुण में क्रमशः अन्तर्भाव कर लिया है।[२] यही नहीं, भोज आदि के द्वारा प्रतिपादित न्यास, निर्वाह, औचिती, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह नामक गुणों को गुण नहीं माना है। जयदेव के मत में ये केवल वैचित्र्य के बोधक हैं।[३]

प्राचीन आचार्यों में भामह ने तीन गुणों के विषय में विचार किया था, किन्तु इस मान्यता को महत्व प्राप्त नहीं हुआ था। आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने तीन गुणों के महत्व का प्रतिपादन किया। यही नहीं उन्होंने वामन आदि के गुणों का सयुक्ति खण्डन कर माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों की स्थापना समारम्भ के साथ की है। उनका कथन है कि—

माधुर्योजप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।[४]

प्राचीन आचार्यों में वामन ने गुणों पर पर्याप्त विचार किया है। वामन ने भरत तथा दण्डी के निरूपित गुणों के आधार पर वीस गुणों की स्थापना की है, अतः इन आचार्यों के गुणों का समाहार वामन के वीस में हो जाता है। वैसे तो यह नाम एवं संख्या का ही अन्तर है, भोजनिरूपित गुणों का अन्तर्भाव भी इन्हीं वीस में हो जाता है। मम्मट ने वामन के वीस गुणों में से कतिपय का समावेश माधुर्यादि तीन गुणों में किया है, कुछ को दोषाभाव मात्र कहा है और कुछ केवल दोषमात्र है, अतः गुण दस या वीस न होकर केवल तीन हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः।
अन्ये भजान्ति दोषत्वं कुत्राचिन्न ततोदश॥[५]

मम्मट के अनुसार वामन के 'प्रसाद,' 'श्लेष' 'समाधि', और 'उदारता' नामक गुणों का अन्तर्भाव ओज गुण में हो जाता है—

---

१. चन्द्रालोक ४।२-६,
२. वही ४।१०
३. वही ४।१२
४. काव्यप्रकाश ८।६८,
५. काव्य प्रकाश

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ॥

तथा 'अर्थव्यक्ति' 'प्रसाद' का ही दूसरा नाम है—

'प्रसादेनार्थव्यक्तिगृहीता' ।

(का० प्र० ८।७२ पर वृत्ति)

कान्ति और सुकुमारता क्रमशः ग्राम्यत्व और 'दुःश्रवत्व' नामक दोषों का परिहार रूप हैं। मार्गाभेदस्वरूपिणी 'समता' कहीं-कहीं दोष रूप है। वामन के प्रसाद गुण का अन्तर्भाव ओज में होता है तथा उनका अर्थव्यक्ति ही मम्मटादि का प्रसाद गुण है।

आचार्य मम्मट का गुणविषयक मत आज विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। आचार्य विश्वनाथ भी मम्मट के मतानुयायी हैं। हिन्दी साहित्य के आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की मान्यता का अनुसरण करते हुए केवल तीन गुणों को मान्यता प्रदान करते हैं। चिन्तामणि एवं कुलपति मिश्र तीन गुणों को, देव दस गुणों को स्वीकार करते हैं किन्तु वाद में देव का अनुकरण प्रायः नहीं हुआ है।

प्रश्न ३१—माधुर्यादि तीन गुणों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

भरत के अनुसार काव्य का माधुर्य श्रुतिमधुरता है। दण्डी के अनुसार रसमयता ही माधुर्य है। वामन के मत में माधुर्य से अभिप्राय समास-राहित्य तथा उक्तिवैचित्र्य है। 'ध्वनिवादी आचार्यों के मत में सहृदय को द्रवित करने वाला गुण माधुर्य है।' "मम्मट के अनुसार हृदय को भावविभोर करने की विशेषता माधुर्य गुण में है। इस प्रकार माधुर्य का अर्थ हुआ श्रुतिसुखदता, समासरहितता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता चित्त को द्रवित करने की विशेषता, भावमयता, आह्लादकता।"* वास्तव में जिस गुण के कारण अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाता है। उसे माधुर्य गुण कहते हैं।† यह गुण संभोग-शृंगार

*हिन्दी साहित्यकोष, पृ० २९८, †काव्यप्रकाश ८।६८

आह्लादकत्वं माधुर्यंशृंगारे द्रुतिकारणम्

की अपेक्षा करुणरस में, करुण रस से वियोग शृंगार में, वियोग-शृंगार की अपेक्षा शान्त रस में क्रमशः अधिकाधिक होता है।*

माधुर्य गुण में निम्न विशेषतायें मिलती हैं, अथवा माधुर्य गुण में निम्न वर्णों का प्रयोग होता है—

क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, त, थ, द, ध, न, प, फ, व, भ, म और ह्रस्व र, तथा ण वर्ण माधुर्य गुण के व्यंजक होते हैं।

२. माधुर्य गुण में छोटे-छोटे समास होते हैं। समासहीन पदों का प्रयोग अधिक उत्तम होता है।

३. ट, ठ, ड, तथा ढ वर्णं का माधुर्य गुण में प्रयोग वर्जित है।

४. यह रचना समास रहित अथवा अल्पसमास युक्त होने पर ही माधुर्य गुण पूर्ण कही जा सकती है।

उदाहरण—अलि-पुञ्जन की मद-गुञ्जन सों,
वन-कुञ्जन मञ्जु बनाय रह्यो।
लगि अङ्ग अनङ्ग-तरङ्गन सों,
रति-रङ्ग उमङ्ग बटाय रह्यो।
बिकसे सर कंजन कम्पित कै,
रजरंजन लै छिरकाय रह्यो।
मलयानिल मन्द दसों दिसिये,
मकरन्द अमन्द फैलाय रह्यो॥

इस उदाहरण में 'ट' वर्ग का अभाव है। ञ, ङ, न, भ आदि वर्णों का बाहुल्य है तथा छोटे-छोटे समास हैं अतः माधुर्य गुण है।

द्वितीय उदाहरण—

निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मनभाये।

---

*काव्यप्रकाश ८।६८-६९......
शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥

इस उदाहरण में भी उपर्युक्त माधुर्य गुण की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं।

ओज गुण—काव्य में जो गुण श्रोता के मानसपटल पर उत्साह, वीरता तथा आवेश आदि के विम्ब उत्पन्न करता है, वह ओज गुण कहलाता है। ओज गुण वीर रस के काव्य में रहता है। वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में क्रमशः अधिकाधिक रहता है।* (क) ओज गुण के काव्य में क वर्ग आदि के प्रथम वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ संयोग रहता है तथा द्वितीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण के साथ। जैसे—कच्छ, पुच्छ, दग्ध वग्ग आदि। (ख) 'र' वर्ण से युक्त वर्णों की अधिकता रहती है। जैसे—वक्र नक्र आदि। (ग) ट, ठ, ड, तथा ढ आदि वर्णों का प्राधान्य रहता है। (घ) लम्बे समास, संयुक्त वर्ण एवं पद तथा कठोर वर्णों की रचना का ओज गुण में वाहुल्य रहता है।

उदाहरण—

इन्द्र जिमि जम्भ पर,
वाडव सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर,
रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर,
सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर,
राम द्विजराज है।

(शि० भू०)

इस उदाहरण में संयुक्ताक्षरों का आधिक्य है। अतः पढ़कर भुजायें फड़कने लगती हैं।

---

*काव्यप्रकाश ८।६९-७०

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

द्वितीय उदाहरण—

मारहिं चपेटन्हि डाटि दांतन्ह काटि लातन्ह मींजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजहीं।
(रा० च० मा० ६।८१)

इस पद में ट वर्ग के वर्णों तथा संयुक्ताक्षरों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसमें वीर रस तथा ओज गुण की सत्ता विद्यमान है।

प्रसाद गुण—प्रसाद का शाब्दिक अर्थ है प्रसन्नता या खिल जाना। अतः जिस काव्य को पढ़कर मन प्रसन्न हो जाय, हृदय की कली खिल उठे, वहाँ प्रसाद गुण होता है, इस गुण की विशेषता है सहजग्राह्यता।

जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि, स्वच्छ वस्त्र में जल तुरन्त ही व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो गुण चित्त में तत्काल व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण कहलाता है। इस गुण की सभी रसों तथा सभी रचनाओं में स्थिति रहती है।* विशेष रूप से प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ सरल, सहज भावव्यंजक शब्दावली का प्रयोग होता है, अर्थ की स्पष्टता एवं सहज-ग्राह्यता इस गुण की विशेषता है।

उदाहरण— नाम अजामिल से खलतारन,
तारन वारन वारवधू को।
नाम हरे प्रह्लाद-विषाद,
पिता भव सांसति सागर सूको।
नाम सों प्रीति प्रतीति विहीन,
गल्यो कलिकाल करालन चूको।
राखि हैं राम जु जाके हिये,
'तुलसी' हुलसै बल आखर दूको॥

*काव्य प्रकाश ८।७०-७१—

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

इस पद को पढ़ते ही इसका भाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है अतः यहाँ प्रसाद गुण है, रचना भी सरल एवं सुबोध शैली में है।

द्वितीय उदाहरण—

सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू,
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं लुभाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानन्द गाते॥

अथवा

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता। (निराला : भिखारी)

इन दोनों ही पदों की शैली सरल, स्वतः भावगम्य एवं सुबोध है अतः यहाँ प्रसाद गुण है।

प्रश्न ३२—गुण एवं अलङ्कारों के पारस्परिक अन्तर को सप्रमाण स्पष्ट कीजिए।

भारतीय साहित्यशास्त्र में गुण तथा अलङ्कार का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य के लिए ये दोनों तत्व किस रूप में उपयोगी हैं, इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में काव्य शरीर के रूपक की चर्चा चली है तदनुसार—"शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्व है, माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्व से अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और उपमादि अलङ्कार कटक-कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं।"* उपर्युक्त रूपक में गुणों को काव्य का आवश्यक तत्व तथा

१. साहित्यदर्पण १/२ की वृत्ति—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव संस्थानविशेषवत्, अलङ्कारा कटककुण्डलादिवत् इति।

अलङ्कारों को शोभावर्द्धक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि अलङ्कार न भी हों तो काव्य शरीर की कुछ हानि नहीं, किन्तु यदि गुण न हो तो काव्य शरीर व्यर्थ ही हो जाता है। गुण एवं अलङ्कारों के अन्तर को सर्वप्रथम 'काव्यालङ्कार सूत्र' के भाष्यकार भट्टोद्भट्ट ने व्यर्थ मान कर लिखा है कि "जिस प्रकार शरीर पर हारादि अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से स्थित हैं, उसी प्रकार काव्य में शब्दार्थ-शरीर के समान उपमा, अनुप्रासादि संयोगवृत्ति से, माधुर्यादिगुण रस में समवायवृत्ति रहते हैं। इनमें भेद की कल्पना असङ्गत है।*

गुण एवं अलङ्कार के विषय में द्वितीय मत आचार्य वामन का है, वे गुण एवं अलङ्कार में अन्तर मानते हुए लिखते हैं कि काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं तथा काव्यशोभा की वृद्धि करने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, उनके विना काव्य में शोभा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। का० सू० वृ० ३।१।१
तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः। का० सू० वृ० ३।१।२
पूर्वे नित्याः गुणाः तैर्विनाकाव्यशोभानुपत्तेः ३।१।३

इस प्रकार वामन गुणों को काव्य का आवश्यक तत्व मानते हैं तथा अलङ्कारों का शोभावर्द्धक मात्र। अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी भाव का समर्थन करती है—"अलंक्रियतेऽनेनेतिकरण व्युत्पत्त्याऽलंकार शब्दः।" वामन अपने आशय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि "जैसे लावण्यादि गुणों से विशिष्ट रमणी का सौन्दर्य कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से द्विगुणित हो जाता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से और भी मनोहारी

*समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृाय तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः ओजप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्यास्थितिरिति गड्डलिका प्रवाहेणैवेषां भेदः।

(काव्य प्रकाश से उद्धृत)

बन जाता है। कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के सौन्दर्य आदि गुणों की भाँति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार वैसे सौन्दर्यहीन प्रतीत होते हैं जैसे कि लावण्य आदि के अभाव में युवती के कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार हीनप्रभ लगते हैं।*

तृतीय मत आनन्दवर्धन का है जो गुण एवं अलङ्कार में भेद मानते हुए गुणों को काव्य की आत्मा रस का धर्म मानते हैं तथा अलङ्कारों को काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ का धर्म। मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन किया है, वामन के मत को भी सदोष बतलाकर आनन्दवर्धन के मत का समर्थन किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के अङ्गीभूत रसादि के आश्रय में रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं तथा अलङ्कार काव्य के अंगभूत शब्दार्थ के धर्म हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्॥†

आनन्दवर्धन के अनुसार यह स्पष्ट है कि गुण आन्तरिक तत्व हैं जबकि अलङ्कार बाह्य।

भोजराज ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि अलंकृत काव्य होने पर भी गुणाभाव में वह श्रव्य नहीं है, गुणालङ्कार में गुण मुख्य हैं।‡

समन्वयवादी मम्मट गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि शरीर स्थित आत्मा के शौर्य आदि धर्म जिस प्रकार आत्मा के साथ एकाकार होकर

---

*काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३।१।२—

युवतेरिवरूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

†ध्वन्यालोक २।६

‡अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः।

शाश्वत रहते हैं तथा आत्मा के शोभावर्द्धक होते हैं। उसी प्रकार काव्य के माधुर्य, ओज तथा प्रसादादि गुण रस के साथ नित्य सम्बद्ध होकर काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं।* मम्मट के अनुसार रसोत्कर्ष तथा रसनिष्ठत्व गुणों का धर्म है। रस काव्य आत्मतत्व है, आत्मतत्व गौरव प्रदान करने के कारण इनका महत्व स्वयं सिद्ध है, जबकि अलङ्कार वाह्य तत्व है। अलङ्कार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मम्मट लिखते हैं कि जिस प्रकार कभी-कभी हार-केयूर आदि आभूषण मानव-शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं उसी प्रकार कभी-कभी अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर की सौन्दर्यवृद्धि करते हैं किन्तु शाश्वत श्री वृद्धि नहीं।† क्योंकि कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये गए अलङ्कार भारमात्र होते हैं तथा सुन्दरी के सौन्दर्यवर्द्धक भी। इसी प्रकार अलङ्कारों की भी स्थिति है।

निष्कर्ष यह है आचार्य मम्मट, भट्टोद्भट, तथा वामन के मत को अनुचित मानते हैं। वामन का मत उन्हें इसलिए मान्य नहीं है क्योंकि गुणों की स्थिति रस के विना सम्भव नहीं है तथा अलङ्कारों की स्थिति रस के अभाव में भी सम्भव है। गुण रस के नित्य धर्म हैं, उनके बिना काव्य-शोभा उत्पन्न नहीं हो सकती है। अलङ्कार काव्य के लिए अपरिहार्य नहीं है क्योंकि अलङ्कार के विना भी सुन्दर तथा मनोहारी काव्य का सृजन हो सकता है।

प्रश्न ३२—शैली लेखक की वैयक्तिकता है ?

शैली की परिभाषा विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। प्रत्येक विद्वान का अपना दृष्टिकोण दूसरे से भिन्न है। यदि एक का मत है कि—"शैली विचारों का परिधान है" तो दूसरा कहता है कि "शैली विचारों का अंगन्यास है।" तो

*काव्यप्रकाश ८।६६

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

†काव्यप्रकाश ८।६७

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

किसी के मत में "शैली लेखक की आत्मा है" तो किसी अन्य के अनुसार "शैली लेखक की वैयक्तिकता है।" बफन का मत है—Style is the man him-Self. इसी प्रकार गेटे ने अपने एक पत्र में लिखा था कि साहित्यकार की अन्तरात्मा की छाप ही उसकी शैली है। दूसरी ओर संस्कृत साहित्य में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' आदि कथन भी शैली को प्रधानता देते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

उपर्युक्त मन्तव्यों के अध्ययन के पश्चात् हमारा विचार यह है कि शैली अभिव्यक्ति का एक प्रकार है। बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेशभूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हों तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्यांकन को बहुत कुछ प्रभावित करते हैं।" निश्चय ही किसी लेखक की शैली के द्वारा उस कृति के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार स्थिर कर सकते हैं। इसी प्रकार साहित्यिक शैली के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान भी लगाया जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि "भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही कला है।" कला ही शैली है। अतः शैली जितनी अच्छी और परिष्कृत होगी विचार भी उतने ही परिष्कृत होंगे। शैली की इसी विशेषता को लक्ष्य कर लार्ड चैस्टरटन ने अपने पुत्र के नाम पत्र में लिखा था—"शैली विचारों का परिधान है।" अर्थात् हमारे विचार ही शैली के माध्यम से प्रकट होते हैं। निश्चय ही जैसे विचार होंगे, वैसी ही हमारी शैली और वैसा ही हमारा व्यक्तित्व तथा विचार भी होगा। जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति की वेशभूषा से उसकी रुचि का परिज्ञान कर लेते हैं, उसी प्रकार शैली द्वारा लेखक के विचारों का ज्ञान हो जाता है। शान्त और सात्विक विचारों वाले व्यक्ति की वेशभूषा अत्यन्त सामान्य होती है जब कि रंगीन हृदय वाले व्यक्ति की वेशभूषा चमक-दमक वाली। इसी प्रकार शान्त, गम्भीर और सात्विक विचारों वाले साहित्यकार की शैली में सर्वत्र गम्भीरता के दर्शन होते हैं जब कि दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की शैली में

अश्लीलता और प्रदर्शन। भावों की गम्भीरता के अभाव में उस कमी को शब्दा-डम्बर के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

शैली के सम्बन्ध में ऊपर व्यक्त सिद्धान्त-वाक्यों के सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट मत यह है कि वे आंशिक रूप में ही सत्य हैं। उदाहरण के लिए 'शैली विचारों का परिधान है।' परिधान वस्त्र को कहते हैं, वस्त्र का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र का शरीर से सम्बन्ध तो है किन्तु उस परिधान को शरीर से अलग भी किया जा सकता है। इसी प्रकार शैली लेखक की आत्मा का पद भी नहीं ले सकती है क्योंकि वह तो अभिव्यक्ति की साधन मात्र है। शैली के सम्बन्ध में बफन का यह विचार—शैली ही मनुष्य है—**Style is the man himself.** पर्याप्त अंश में सत्य है। क्योंकि शैली पर उस साहित्य-कार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। डा० रामदत्त भारद्वाज ने इस विषय में विचार करते हुए लिखा है कि "कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ी होती है। जब उनकी कोई पंक्ति हमारे सामने आती है तो नाम जाने बिना ही हमको यह आभास मिलने लगता है कि उक्त कवियों में से वह अमुक की है। रामचन्द्र शुक्ल की गद्यशैली गम्भीर, सशक्त और प्रभावपूर्ण है; किन्तु श्यामसुन्दरदास की अपेक्षा-कृत सरल है। जयशंकर प्रसाद का काव्य विशाल, गम्भीर एवं भावपूर्ण है; पर सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में कोमलता, करुणा और बालसुलभ जिज्ञासा उपलब्ध है। सूर्यकान्त 'निराला' ने झुकना नहीं सीखा न साहित्य में, न जीवन में। अतएव उनकी शैली में शक्ति और गम्भीरता विद्यमान है। करुणा-कलित महादेवी वर्मा के काव्य में करुणा व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कवि के स्वभाव और शैली में परस्पर साम्य है, उसी प्रकार विषय और शैली का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। लौञ्जाइनस ने ठीक ही कहा है कि महान् आत्मा ही महान् काव्य की रचना करती है। विषय प्रति-पादन के अनुसार एक ही लेखक की शैली कभी गम्भीर और कभी सरल होती है, यथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की। बफन का कथन शत-प्रतिशत ठीक नहीं, अधिकांश में सत्य है; क्योंकि कभी-कभी व्यक्तित्व के पहचानने में भ्रम भी हो जाता है, यथा :—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार ।।

इस दोहे को कुछ लोग विहारी का समझते थे, किन्तु है यह रसलीन कवि का, जैसा कि शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में स्पष्ट किया है ।

(काव्य–शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १५४)

साहित्य और साहित्यकार के व्यक्तित्व में प्रायः एकरूपता रहती है । सूर और तुलसी का व्यक्तित्व भिन्न था, इस भिन्न व्यक्तित्व का प्रभाव उनके साहित्य में लक्षित होता है । तुलसी भक्त थे, तथा सामाजिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे, किन्तु उनका व्यक्तित्व क्रान्तिकारी होते हुए भी समन्वयवादी था, परिणामतः उनका साहित्य व्यापक एवं महान् है । लोकमंगल की भावना उनके असन्तोष की अभिव्यक्ति थी । विनय पत्रिका उनके भक्त हृदय की अभिव्यक्ति है । अतः कह सकते हैं कि शैली लेखक की आत्मा एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है ।

रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व गम्भीर था, उनका साहित्य उनके व्यक्तित्व से प्रभावित है । डा० द्विवेदी ने लिखा है कि "वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था । आपको या तो हाँ कहना पड़ेगा या 'न' वीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं । उनका अपना मत सोलह आने अपना है । तनकर वे कहते हैं, मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं ।" इस कथन से स्पष्ट हैं कि उनका व्यक्तित्व कैसा था, जैसा उनका व्यक्तित्व था वैसा उनका साहित्य भी ।

निष्कर्ष रूप में हम यही कहना चाहते है कि शैली विचारों का परिधान है अङ्गन्यास है, शैली लेखक की वैयक्तिकता है, अथवा आत्मा है, उपर्युक्त समस्त कथन आंशिक रूप में ही सत्य हैं । साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि शैली लेखक की वैयक्तिकता होने पर भी वह उसकी आत्माभिव्यक्ति की साधिका है । निश्चय ही शैली, व्यक्तित्व तथा विचार परस्पर-सापेक्ष हैं ।

वक्रोक्ति

प्रश्न ३३—वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकासात्मक परिचय देते हुए उसके शब्दार्थ तथा भेदों का विवेचन कीजिए।

अथवा

"वाणी के विलक्षण व्यापार का नाम वक्रोक्ति है।"

वक्रोक्ति का शब्दार्थ है—वक्र + उक्ति = टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति। सामान्य रूप से यह शब्द काव्य शास्त्र में भामह के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। भामह ने काव्यालंकार में 'लोक-व्यवहार से भिन्न अतिशयोक्ति (लोकातिक्रांत-गोचर) को वक्रोक्ति माना है, यही नहीं वे समस्त अलंकारों का मूल भी वक्रोक्ति को मानते हैं।' वक्रोक्ति के अभाव में वे अलंकारों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं।* वामन ने 'वक्रोक्ति' को उपमा प्रपंच के अन्तर्गत अर्थालंकार माना है।† दण्डी ने वक्रोक्ति को 'सर्वालंकार मूला कहा है। रुद्रट उक्ति–प्रत्युक्ति में वक्रोक्ति अलंकार की सत्ता स्वीकारते हैं। चन्द्रालोक-कार जयदेव ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार ही माना भी है। मम्मट और विश्व-नाथ भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में मानते हैं। हिन्दी के आचार्यों में केशव, जसवन्त सिंह, मतिराम और भूषण आदि ने इसे अर्थालंकार माना है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने बाणभट्ट के—वाक् छल, क्रीड़ालाप, परिहास-जल्पित, चमत्कारपूर्ण शैली, वचन विदग्धता‡ आदि

---

* सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

†काव्य० सू० वृ० ४।३।८ "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

‡कादम्बरी पूर्व भाग : वक्रोक्ति निपुणेन विलासिजनेन, वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यान — परिचय-चतुरेण) पृ० ८७

वक्रोक्ति शब्द के अर्थों की पृष्ठभूमि में वक्रोक्ति को वैदग्ध्य-भंगी-भणिति[1] कहा है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है: निपुण कवि के काव्य-निर्माण करने का कौशल 'भंगी' का अर्थ है: विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता, शोभा आदि और 'भणिति का अर्थ है वर्णन शैली। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार "काव्य निर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कारप्राण विचित्र कथन वक्रोक्ति है।"[2] कुन्तक ने वक्रोक्ति को विचित्र कथन—"विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते"[3] भी कहा है। 'विचित्र' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(क) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध (प्रयुक्त) शब्द-अर्थ के साधारण प्रयोग से भिन्न प्रयोग विचित्र कथन है।[4] (ख) शब्दार्थ-प्रयोग के प्रसिद्ध-मार्ग से भिन्न[5] कथन। (ग) सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के प्रयोग से भिन्न[6] कथन।

इन तीनों ही अर्थो का सारांश यह है कि कुन्तक का 'विचित्र' से अभिप्राय "शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द-अर्थ की रचना से विलक्षण शब्दार्थ की उक्ति—विचित्रोक्ति अर्थात् वक्रोक्ति है।" यह वक्रोक्ति प्रतिभा-सम्पन्न कवि के कर्म-कौशल से निर्मित होने पर ही वैचित्र्यपूर्ण होती है।

कुन्तक की वक्रोक्ति का आशय केवल इतना ही नहीं है, वे 'सहृदय-हृदयाह्लादकारिणी' वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं। वक्रोक्ति के इसी गुण पर वे विशेष रूप से रीझे हैं। इसी वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा मानते हैं।[7]

---

१. वक्रोक्तिजीवित, १।१० "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगी-भणितिरुच्यते।"

२. वही १।१० की वृत्ति: वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलम् तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः।

३. व० जी० १।१० की वृत्ति।

४. वही १।७ की वृत्ति: "शास्त्रादि-प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्ध-व्यतिरेकी"

५. वही १।१८ की वृत्ति प्रसिद्ध-प्रस्थान व्यतिरेकी-वैचित्र्यम्।

प्रसिद्ध-प्रस्थानातिरेकेण-वैचित्र्येण।

६. वही १।१९ अतिक्रान्त-प्रसिद्ध व्यवहार-सरणिः।

७: वही वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।

कुन्तक के मतानुसार 'अलंकृत होने पर ही काव्य की काव्यता है'—'सालंकारस्य काव्यता'। कुन्तक ने अपने काव्य के लक्षण में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है—"काव्य-मर्मज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुन्दर वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।"* महिमभट्ट "शास्त्र आदि के प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर चमत्कार की सिद्धि के लिए दूसरे ढंग से जो अर्थ का प्रतिपादन होता है उसे वक्रोक्ति कहते हैं।" (व्य० वि० १।६६)

कुन्तक के सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि उनकी वक्रोक्ति चमत्कार-प्राण है, वह चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्र-उक्ति है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति से ही अर्थ का विभावन होता हैं। "अतः कवियों को इसके लिए विशेष सचेष्ट रहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना न तो अलंकार का अस्तित्व रह सकता है और न उसका महत्व ही।" कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है किन्तु उनके इस मत को परवर्त्ती काल में स्वीकार नहीं किया गया है। वे अकेले ही इस मत के प्रवर्त्तक तथा अनुयायी हैं, पीछे के काव्यशास्त्रियों ने तो वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार माना है।

कुन्तक की वक्रोक्ति 'कवि प्रतिभाजन्य उक्ति-चारुत्व' होते हुए भी महत्व-पूर्ण है। इससे भी महत्वपूर्ण है कुन्तक की प्रतिभा। अपनी प्रतिभा से कुन्तक ने वक्रोक्ति का बड़े समारम्भ से प्रतिपादन किया है। उनकी वक्रोक्ति में वैचित्र्य अनिवार्य है, कुन्तक की वक्रोक्ति अपने में सभी प्रकार के काव्यों को समाहित करती है, अतः व्यापक रूप में कुन्तक ने ध्वनि, रीति आदि को अपनी वक्रोक्ति में समेटने का प्रयास किया है।

डा० नगेन्द्र ने वक्रोक्ति के विषय में कुछ प्रश्नों का समाधान किया है।

प्रथम प्रश्न यह है कि 'क्या सभी वक्रोक्ति काव्य हैं?' इसका उत्तर नकारात्मक ही दिया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो "ऐसी उक्तियों को भी, जिनमें साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता विद्यमान रहती है, काव्य मानना पड़ेगा।" निश्चय ही बौद्धिक चमत्कार से

---

*वही १।७ "शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापार-शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

काव्य और उसमें वक्रता तो उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सरस हो, उसमें रागात्मकता भी हो और वह वास्तव में काव्य पद का अधिकारी हो।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'क्या सभी काव्य वक्रतापूर्ण हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि समस्त काव्य वक्रतापूर्ण हो सकते हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति तो विशेष रूप से व्यापक है। वैसे भी 'कुन्तक की वक्रता का विरोध इतिवृत्तात्मकता से है, तीव्रता से नहीं; और कुन्तक ने निश्चयपूर्वक रस को वक्रोक्ति के उपादान तत्वों में माना है।' डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है, अतः तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।" किन्तु इसी बात को कुन्तक कुछ दूसरे रूप में कहते हैं। उनका मत यह है कि 'वक्रता से आह्लाद उत्पन्न होता है'; जबकि नगेन्द्र का मत है कि 'आह्लाद से वक्रता उत्पन्न होती है, अतएव यद्यपि वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है, तथापि वह काव्य की आत्मा नहीं।"

प्रश्न ३४—वक्रोक्ति के कुन्तक निर्दिष्ट भेदों का वर्णन कीजिए।

वक्रोक्ति के भेद—कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक अध्ययन किया है, उस अध्ययन के परिणामस्वरूप कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद माने हैं। यद्यपि इन भेदों के वैचित्र्य के आधार पर अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रधान भेद केवल निम्न हैं—

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता
(२) पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता
(३) पद-परार्द्ध-वक्रता
(४) वाक्य-वक्रता
(५) प्रकरण-वक्रता
(६) प्रबन्ध-वक्रता

वर्ण-विन्यास-वक्रता—रचना में वर्णों का विशेष प्रकार के प्रयोग का अध्ययन वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आता है। उसकी वक्रता, वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, जो कि पाठक को हृदयाह्लाद प्रदान कर सके, वर्ण-विन्यास-वक्रता

कहलाता है । संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वर्ण सम्बन्धी समस्त चमत्कार वर्ण-विन्यास-वक्रता में समाविष्ट होता है । इसके अन्तर्गत शब्दालंकार-अनुप्रास, यमक, उपनागरिका आदि वृत्तियाँ, माधुर्य आदि गुणों का समावेश होता है ।

पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता—इसके अन्तर्गत शब्द विशेप के प्रयोग का वैचित्र्य समाविष्ट होता है । पद के पूर्वार्द्ध के विन्यास का वैचित्र्य ही पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता है । इसे प्रकृति-वक्रता भी कहते हैं । इसके अनेक भेद हैं—

(१) रुढ़िवैचित्र्यवक्रता, (२)र्यायवक्रता, (३) उपचारवक्रता, । (४) विशेषणवक्रता, । (५) संवृतिविक्रता, (६) वृत्तिवक्रता, (७) लिंगवैचित्र्यवक्रता, (८) भाववैचित्र्यवक्रता, (९) क्रियावैचित्र्यवक्रता, (१०) प्रत्ययवक्रता ।

पदापरार्धवक्रता:—वक्रोक्ति के इस भेद के अन्तर्गत पद के परार्ध में प्रकट विशेषताओं या वैचित्र्य का संकेत होता है । दूसरे शब्दों में सुप्-तिङ् आदि प्रत्ययों का वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग हा प्रत्यय-वक्रता है । इसके अनेक भेद हैं, जैसे—काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पदवक्रता, आदि ।

वाक्यवक्रता—पद समुदाय की वक्रता को वाक्यवक्रता कहते हैं । इसके अन्तर्गत सुन्दर और उदार वर्ण्य विषय का सुन्दर और रमणीय वर्णन होता है । इसमें मुख्य रूप से दो प्रकार-सहजा और आहार्या (शिक्षाभ्यास से प्राप्त) प्रतिभा द्वारा चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है ।

प्रकरण-वक्रता—प्रसंगविशेष के वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न करना प्रकरण वक्रता कहलाता है । प्रकरणवक्रता किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने में होती है । इसके अनेक रूप हो सकते हैं । पहला रूप तो वह है कि 'जहाँ पर कवि असीम उत्साह के साथ किसी प्रसंग को प्रकट करता है । यह उत्साह नायक की चारित्रिक दीप्ति या विशेपताओं के कारण होता है । जैसे रामचरित मानस का धनुर्भङ्ग प्रसंग ।

दूसरा भेद वह है 'कवि अपनी रचना को ऊपर उठाने के उद्देश्य से अलौकिक रीति से नवीन कल्पना द्वारा प्रकरण की उद्भावना करता है ।' जैसे साकेत में वशिष्ठ द्वारा दिव्यदृष्टि-दान ।

तीसरा भेद वहाँ होता है जहाँ इतिहास के कथाप्रसंग में नवीन कल्पना

की जाती है, जैसे पद्मावत में रतनसेन की मृत्यु-देवपाल के हाथों कराना।

चतुर्थ भेद वह है जहाँ किसी सामान्य प्रसंग को रसमय बनाने के लिए कवि उसका विस्तार से वर्णन करता है; जैसे सूरसागर का भ्रमर गीत प्रसंग।

पाँचवाँ भेद वहाँ होता है, जहाँ प्रकरण के भीतर विशेष प्रसंग की कल्पना की जाती है।

छठा भेद वहाँ होता है 'जहाँ पर प्रबन्ध के अनेक प्रकरण इस सौन्दर्य और कल्पना के साथ रखे जाते हैं कि वे एक दूसरे के उपकारक-उपकार्य रूप में आते हैं। इस प्रकार की विशेषता नाटक में विशेष आवश्यक होती है।' प्रकरणविषयक अनेक प्रकार की वक्रतायें हो सकती हैं।

प्रबन्धवक्रता—इस वक्रता का सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रबन्ध से होता है। नाटक और प्रबन्धकाव्यों में ही यह वक्रता होती है। यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है। इसके अनेक भेद हैं, जिनमें छः प्रमुख हैं—

१. मूलरस-परिवर्तन-वक्रता—वेणीसंहार, मेघनादवध, साकेत आदि में।

२. समापन वक्रता।

३. कथा-विच्छेदवक्रता।

४. आनुषंगिक फल-वक्रता।

५. नामकरण-वक्रता—मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, जयद्रथ वध आदि में।

६. तुल्यकथावक्रता।

कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता के इन भेदों के अतिरिक्त अनेक भेद स्वीकार किये हैं। उनका कहना है कि 'जैसे प्रतिभा में आनन्त्य हैं उसी प्रकार कवि-प्रतिभा से जायमान वक्रता में भी आनन्त्य है'—

"एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः।" (वक्रोक्तिजीवित १।१९ की वृत्ति)

उर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक वक्रोक्ति को व्यापक स्तर पर स्वीकार करते हैं उनकी वक्रोक्ति कवि के समस्त व्यापार तक व्याप्त है। कुन्तक काव्य में आये समस्त चमत्कार को वक्रोक्ति की सीमाओं में समेटने का

प्रयास करते हैं। अतः अशंतः इसमें शैली, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, रस आदि का भी समावेश हो ही जाता है। कुन्तक का यह सिद्धान्त काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए मान्य आदर्श बन सकता है। विश्व के प्रायः सभी काव्यशास्त्री किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं।

प्रश्न : ३५—काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों से वक्रोक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति का अन्तर भी स्पष्ट कीजिए।

वक्रोक्ति और ध्वनि – वक्रोक्ति एवं ध्वनि भारतीय काव्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण सम्प्रदाय हैं, वक्रोक्ति सम्प्रदाय का उदय ध्वनि सम्प्रदाय के विरोध में हुआ है किन्तु दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में अनेकशः साम्य हैं। आनन्द-वर्धन के अनुसार ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार है—'जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बना कर, ललना के अंगों में लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में वाच्यार्थ से भिन्न, उस प्रतीयमान अर्थ को अभि-व्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनिकाव्य कहते हैं।' वाच्यार्थ से भिन्न यह अर्थ स्वादु, प्रतीयमान तथा विचित्र है। जब कि उसी सरणि पर कुन्तक ने वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन प्रकार वक्रोक्ति है। या यों कहिए कि प्राक्तन या अद्यतन संस्कार के परिपाक से प्रौढ़-कवि शक्ति रूप प्रतिभा द्वारा जायमान कवि-कर्म-कौशल के चमत्कार से युक्त कथन प्रकार ही वक्रोक्ति है।

(१) इन दोनों ही सिद्धान्तों में साधारण का त्याग और असाधारण के कथन के लिए आग्रह है। (२) दोनों ही सिद्धान्तों में 'वैचित्र्य' को महत्व प्राप्त है। जिसे आनन्द ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुन्तक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा व्यक्त किया है। (३) दोनों ही आचार्य इस 'वैचित्र्य' को अलौकिक प्रतिभा से जन्य मानते हैं।

किन्तु इन साम्यों के अतिरिक्त अनेक वैषम्य भी हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—ध्वनिवादी व्यंजना को महत्व देते हैं, जब कि कुन्तक के काव्य में अभिधा का महत्व है। यद्यपि कुन्तक की अभिधा एक विशिष्ट अभिधा है, जो

कि लक्षणा और व्यंजना को भी आत्मसात् कर लेती है। इसी प्रकार इनका वाचक शब्द लक्षण और व्यंजन शब्दों को अपने में समेट लेता है। निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि इन दोनों ही सिद्धान्तों ने अपने घेरे में काव्य के समस्त तत्वों को आत्मसात् करने का प्रयास किया है फिर भी इनमें अनेकशः वैषम्य है। ध्वनि और वक्रोक्ति में साम्य भी पर्याप्त है फिर भी कुन्तक ध्वनि-विरोधी आचार्य हैं। "इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि ध्वनिकार ने जिस ध्वनि तत्व को व्यंजना वृत्ति से प्रतीयमान माना है, उस वक्रोक्ति-तत्व को वक्रोक्तिकार ने विचित्र अभिधावृत्ति से अभिधीयमान। ध्वनि-तत्व काव्य का आत्मस्थानीय माना गया है और वक्रोक्ति तत्व वस्तु स्थानीय।"

वक्रोक्ति एवं रस—कुन्तक चमत्कारवादी आचार्य हैं, विचित्र अभिधारूप वक्रोक्ति उनके काव्य की आत्मा है फिर भी अपने ग्रन्थ में रस की यत्र-तत्र चर्चा करते हैं। वक्रोक्ति में रस का महत्व है। कुन्तक ने काव्य के प्रयोजन, गुण, काव्य-लक्षण आदि की चर्चा करते समय रस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख किया है।

काव्य-प्रयोजन के विचार प्रसङ्ग में कुन्तक ने लिखा है कि "काव्यमर्मज्ञ सहृदयों के अन्तःकरण में धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फल को भी तिरस्कृत करने वाला काव्यामृत का रस अपूर्व आनन्द का विस्तार करता है।"* इस प्रकार कुन्तक का चमत्कार भी रस की पृष्ठभूमि में ही अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

काव्य के लक्षण में भी वे 'हृदयाह्लादकारिणी' वाक्य का प्रयोग करते हैं।† काव्य हृदयाह्लादकरी रस के द्वारा ही होता है। 'यह काव्य का आनन्द या आह्लाद रसानन्द या रसास्वाद से भिन्न नहीं है।' काव्यमर्मज्ञ या सहृदय कुन्तक के मत में रसादि परमार्थज्ञ अर्थात् रसादि परम तत्व के वेत्ता ही हैं। सुकुमार मार्ग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि "रसादि

*वक्रोक्ति जीवित १।५

†वही १.६

परमतत्व के ज्ञाता सहृदय के मन के अनुकूल होने के कारण यह सुकुमार मार्ग सुन्दर है।[१] कुन्तक का सौभाग्य गुण भी "सरसात्मा-सहृदयों के मन में लोकोत्तर आनन्ददायक तथा सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित होने योग्य काव्य का प्राणभूत है।"[२] कुन्तक ने सहृदय काव्यमर्मज्ञ को रसज्ञ कहा है तथा काव्यानन्द को रसास्वाद। यह रसास्वाद ही काव्य का चरम लक्ष्य है। अतः स्पष्ट है कि कुन्तक रस और उसके महत्व से परिचित थे, और शब्दान्तर से उसे काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व भी स्वीकार करते हैं। यही नहीं कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता को समस्त वक्रताओं से श्रेष्ठ माना है। उस प्रबन्ध का मूलतत्व भी रस ही है। इस विषय में उनका कहना है कि "निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों पर अवलम्बित ही कवि की वाणी जीवित रहती है न कि कथामात्र पर आश्रित।"[३] कुन्तक ने काव्य की कथावस्तु में भी रस को विशेष महत्व दिया है।[४] कुन्तक ने अलंकार सम्प्रदाय के 'रसवत्' अलंकार का खण्डन कर रस को ध्वनिवादियों की तरह 'अलंकार्य' स्वीकार किया है।

अब प्रश्न यह है कि रस और वक्रोक्ति में परस्पर सम्बन्ध कैसा है? इसका विवेचन करते हुए जयमन्त मिश्र ने लिखा है कि "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के अनुसार कुन्तक के मत में काव्य का जीवन वक्रोक्ति ही है। उस काव्य जीवन-वक्रोक्ति की शब्द, अर्थ गुण रीति रस आदि अनेक सम्पत्तियों में सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है रस। अतः रस काव्य का परमतत्व सार माना गया है। रस को परमतत्व मानकर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना न कि रस को। इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि रस की स्थिति काव्य में

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।२६ रसादि परामर्थज्ञ-मनः संवाद-सुन्दरः।

२. वही १।५६ सर्वसम्पत्-परिस्पन्दसंपाद्य सरसात्मनाम्।

३. वही ४।११ निरन्तर-रसोद्गार-गर्भ-सन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथा-मात्रमाश्रिताः॥

४. वही ३।७. मुख्यमाक्लिष्ट–रत्यादि परिपोषमनोहरम्।

वक्रता के विना सम्भव नहीं है, अतः वक्रोक्ति के अधीन ही रस की स्थिति है। वक्रता दूसरी ओर रस के बिना भी काव्य में विद्यमान रहती है। अतः रस के विना भी काव्य जीवित रह सकता है किन्तु वक्रोक्ति के विना नहीं। इसलिए कुन्तक वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।"* इस पर विस्तार से विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान है—रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्य-कला का परमतत्व है, काव्य की प्राण चेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रससम्पदा। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध वही है जो ध्वनि के साथ है।"

ध्वनि सिद्धान्त में रस की स्थिति का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि—"आनन्दवर्धन के मत से रस परम श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु आत्मा नहीं है। कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और रस के परस्पर सम्बन्ध की भी है वक्रोक्ति में भी रस परम विभूति है—रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रता विहीन नहीं हो सकती × × × वक्रता तो रस के विना भी अनेक रूपों में विद्यमान रहती है चाहे वे रूप उतने उत्कृष्ट न हों जितने कि रसरूप।' इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य की वस्तुपरक व्याख्या करता हुआ भी काव्य में रस के महत्व को स्वीकार करता है किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति को ही महत्व देता है क्योंकि कुन्तक के मत में रसवक्रोक्ति के विना प्रभावशली नहीं होता है जब कि वक्रोक्ति रस के विना भी जीवित रहती है।

वक्रोक्ति और अलंकार—कुन्तक काव्य में अलंकार तथा वक्रोक्ति दोनों को ही महत्व प्रदान करते हैं। वक्रोक्ति जीवित' के आरम्भ में ही कुन्तक ने लिखा है कि 'सालंकारस्य काव्यता'। इस प्रकार काव्य में अलंकार उन्हें अनिवार्य रूप से ग्राह्य है। उन्होंने आगे भी लिखा है कि—'**उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः**' इससे आशय यह निकलता है कि वक्रोक्ति उन्हें अलंकृत ही इष्ट है। और ये दोनों सिद्धान्त परस्पर अधिक घनिष्ठ हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में

*काव्यात्म-मीमांसा, पृ० ११६

सौन्दर्य मूलतः वस्तुगत माना गया है जो कवि-कौशल पर आश्रित है। दोनों वर्ण-सौन्दर्य से लेकर प्रवन्ध सौन्दर्य तक वैचित्र्य या चमत्कार का ही साम्राज्य माना गया है। अलङ्कार-सम्प्रदाय में यह चमत्कार अलंकार रूप में है और वक्रोक्तिवाद में वक्रतारूप। परमार्थतः दोनों ही उक्ति-वैचित्र्य है।' इन दोनों ही सिद्धान्तों में अभिधा का प्राधान्य है।

वक्रोक्ति एवं अलङ्कार सम्प्रदाय का साम्य देकर विद्वानों का स्पष्ट आरोप है कि वक्रोक्ति सम्प्रदाय अलङ्कार सम्प्रदाय का रूपान्तर मात्र है किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि अपेक्षाकृत "वक्रोक्ति का क्षेत्र अलङ्कार से कहीं व्यापक है।" वक्रोक्ति के वर्णवक्रता आदि कुछ भेद शब्दालंकार या अर्थालंकार रूप ही हैं किंतु प्रकरणवक्रता, प्रवन्ध वक्रता आदि वक्रता के अन्य अनेक रूप हैं जो अलङ्कार के रूप नहीं हैं और न वहाँ अलङ्कार का विषय ही है। अलंकार सम्प्रदाय में 'रस' रसवत् अलंकार के रूप में मान्य हैं किन्तु वक्रोक्ति में रसवत्' अलंकार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय में 'रस' को परमतत्व माना गया है, जबकि अलंकार में वह सर्वथा उपेक्षित रहा है। "अलङ्कार सिद्धान्त में अलंकाररूप स्वभावोक्ति निकृष्ट एवं त्याज्य है, परन्तु वक्रोक्ति में अलंकार्य रूप होकर वह उत्कृष्ट एवं काम्य है। वक्रोक्ति काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व में चमत्कार दिखलाती है और वह काव्य के अन्तस्तत्व में प्रविष्ट है, परन्तु अलंकार काव्य के वाह्य चाकचिक्य में अधिक उलझा हुआ है।" इस तरह हम स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि अलंकार से वक्रोक्ति कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक पूर्ण और उदार है।

वक्रोक्ति एवं रीति—रीति सम्प्रदाय में रीति काव्य की आत्मा है किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वह वक्रता का एक भेद है। कुन्तक ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। उसके सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन भेद माने हैं। इन तीनों का आधार कवि-स्वभाव वतलाया है। वामन की रीति का क्षेत्र कुन्तक की वक्रोक्ति से संकुचित है। रीति काव्य का अंगसंस्थान है, वह पद संघटना मात्र होते हुए भी वामन के मत में वह काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति भी काव्य आत्मा है। वक्रोक्ति की वर्ण-वक्रता, प्रकृति-वक्रता प्रत्यय-वक्रता

और वाक्य-वक्रता में रीति तत्व का पूर्णतः अन्तर्भाव हो जाता है। शेष वक्रताओं में रसोन्मीलन का आग्रह रहता है, अतः वहाँ तक रीति की पहुँच नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति कहीं अधिक व्यापक है।

वक्रोक्ति और औचित्य—कुन्तक का उनके ग्रन्थ में वक्रोक्ति के प्रति आग्रह लक्षित होता है। एक स्थान पर वे इन दोनों में अभेद ही स्वीकार कर लेते हैं (व० जी० १।५७ की वृत्ति)। कुन्तक औचित्य के अभाव में सहृदय के हृदय में आह्लाद में व्याघात समझते हैं—तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का जीवन माना है। दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य होते हुए भी वैषम्य है, वे दो सिद्धान्त हैं। कुन्तक के औचित्य को वक्रोक्ति का मूलाधार स्वीकार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि ये दो तत्व हैं, एक नहीं। निश्चय ही कुन्तक की दृष्टि में औचित्य एक आवश्यक तत्व है, जिसका अस्तित्व काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाता है। "वक्रोक्ति वस्तुनिष्ठ होने के कारण काव्य के अंगों के अधिक संवद्ध है, परन्तु औचित्य विवेकनिष्ठ होने के कारण रस आदि से अधिक संवद्ध है।"

वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति—अलंकारवादी दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद किये हैं—एक स्वभावोक्ति दूसरा वक्रोक्ति। वे स्वभावोक्ति को भी प्राथमिक अलंकार मानते हैं, उनका तर्क यह है कि इसमें उपमादि अलंकार न रहने पर भी रस या भाव की स्थिति रहती है वह आकर्षक भी होता है। वह सहृदयों को आह्लादित भी करता है। प्रकृति चित्रण तथा स्वभाव वर्णन आदि के काव्यों को किस काव्य में रखा जाय, इस समस्या का समाधान भी वाङ्मय के दो भेद मानने पर ही सहज था। इसीलिए दण्डी स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार मानने के पक्ष में थे।

कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है; उनके तर्क निम्न हैं—

(१) "स्वभावोक्ति से किसी पदार्थ का कथन या ज्ञान होता है। इसलिए किसी वस्तु का वर्णन निसर्गतः उसके स्वभाव का ही वर्णन है; क्योंकि उससे रहित वस्तु शब्द के लिए अगोचर हो जाती है। अतः वस्तुवर्णन मूलतः स्वभाव वर्णन स्वभावोक्ति ही है।

(२) काव्य में स्वभाव के सुन्दर ही वस्तु का वर्णन होता है। अतः स्वभाव काव्य का प्रकृत वर्ण्य-विषय है और वर्ण्य-विषय होने से वह अलंकार्य ही है अलंकार नहीं हो सकता।

(३) स्वभावकथन यदि अलंकार है तो ग्रामीणजन से साधारण वाक्य भी अलंकार हो जायँगे।

(४) स्वभाव वर्णन को अलंकार मानने पर उसका अलंकार्य क्या होगा ? वह स्वयं अलंकार्य नहीं हो सकता; क्योंकि अलंकार तो शरीर पर धारण किया जाता है, यदि शरीर ही अलंकार है तो शरीर अपने को कैसे धारण कर सकता है।

(५) यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उपमा आदि सभी अलंकारों में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी; क्योंकि स्वभाव-कथन तो सभी वर्णनों में अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शुद्ध अलंकार कोई भी नहीं रह जायगा। स्वभावोक्ति के संयोग से वे या तो संसृष्टि बन जायेंगे या संकर।"[१]

कुन्तक ने युक्तियों से स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का खण्डन कर वक्रोक्ति की अलंकारता सिद्ध की है। क्योंकि उनकी वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।

किन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि काव्यत्व किसमें है ? उसका सौन्दर्य क्या है ?

आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को स्वभावोक्ति कहते हैं। क्योंकि कवि का प्रत्येक काव्यचित्र चाहे प्रकृतिचित्रण का हो या स्वभाववर्णन का अथवा अन्य, किन्तु वह किसी व किसी रूप में भाव से अवश्य सम्बद्ध होगा। इसीलिए वह रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि या अलंकार-ध्वनि होगा ही।

आशय यह है कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। दोनों मानव मनोभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। दोनों में रसानुभूति होती है। बाहर से भिन्न होते हुए भी अन्तस्तत्व के कारण एक ही हैं।

प्रश्न ३६—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त से उसका साम्य-वैषम्य भी बतलाइये।

भौतिकवादी यूरोप में रहकर भी सौन्दर्य के माध्यम से आध्यात्मिक और

---

१. काव्यात्म मीमांसा: पृ० २४६

दार्शनिक विचारों को काव्यालोचन के सिद्धान्त के रूप प्रतिष्ठित करने वाले वेनदेतो क्रोचे (१८६६-१९५२) इटली के महत्वपूर्ण आलोचक हैं। इनका प्रमुख आलोचना सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद है। अभिव्यंजनावादियों का सिद्धान्त है कि "कवि या कलाकर अपने अन्तर की भावना को बाहर प्रकाशित करता है, वाह्य वस्तु को नहीं। यह भावना उसकी अपनी निज की वस्तु है। अपनी इस भावना को प्रकाशित करने में ही उसकी सार्थकता है। अभिव्यंजनावादियों के मत से कलाकार का काम यथार्थ का प्रतिनिधिमूलक चित्रण करना नहीं है। वह या तो अपने अन्तर की भावना के अनुरूप यथार्थ को चित्रित करता है या उस यथार्थ को स्पर्श ही नहीं करता। वन केवल अपने मन की एक अवस्था को अभिव्यंजित करता है और इस अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द, रंग आदि से निर्मित ढाँचा होता है। इस प्रकार से कलाकार जिस रूप की सृष्टि करता हैं, वह उसके मन की अवस्था से मिलती-जुलती है।"

(हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ५०)

क्रोचे के मतानुसार आत्मा की दो क्रियाएँ—विचारात्मक और व्यवहारात्मक हैं। विचारात्मक क्रिया अर्थात् ज्ञान के भी दो रूप हैं—प्रथम सहजानुभूत ज्ञान 'जो कल्पना द्वारा उपलब्ध वस्तुओं की भिन्न इकाई से असम्पृक्त, वैयक्तिक और विम्वात्मक ज्ञान है।' दूसरा तर्कमूलक ज्ञान—"जो बुद्धि द्वारा उपलब्ध वस्तुओं के भिन्न सम्वन्धों से सम्पृक्त सार्वात्रिक तथा अवधारणाओं को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है।' इसके साथ व्यवहारात्मक ज्ञान के भी दो भेद हैं—पहला आर्थिक जिसका सम्वन्ध सांसारिक कल्याण से है, इसी कारण जिसे व्यवहार का सौन्दर्यशास्त्र भी कहते हैं। दूसरा नैतिकज्ञान है, जो जीवन के सदसद् से सम्वद्ध होने के कारण व्यवहार का तर्कशास्त्र भी कहा जाता है।

क-(१) जहाँ तक कला का प्रश्न है, उसका सम्वन्ध सहजानुभूत ज्ञान से ही है क्योंकि कला एक सहजानुभूति ही है। एक ओर यह पदार्थवोध से भिन्न है क्योंकि पदार्थवोध के लिए पदार्थ अपेक्षित है, किन्तु सहजानुभूति के लिए नहीं; वह उसके अभाव में भी हो सकती है।

(२) दूसरी ओर वह मानव संवेदनाओं से भी भिन्न है क्योंकि संवेदन

अर्थात् क्रोधादि से चित्त में उठनेवाली तरंगे जड़ अमूर्त्त विषय हैं, स्पन्दन मात्र हैं, इनका अनुभव ही हो सकता है अभिव्यक्ति नहीं, इनका रूप, आकार-प्रकार अंकित नहीं किया जा सकता है।

(३) कला देश और काल की सीमाओं में बाँधी नहीं जा सकती है क्योंकि ऐसी सहजानुभूतियाँ हैं, जो देश-काल की सीमा से परे हैं—आकाश का रंग, भावना का रंग, दर्द की आवाज आदि में स्थान और काल को कोई योग नहीं। यदि स्थान और काल आयेंगे भी 'तो सहजानुभूति के अन्य तत्वों के समान अन्तर्भूत होकर।'

(४) एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि सहजानुभूति को बौद्धिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है और न ही वह बौद्धिक ज्ञान पर निर्भर हो है क्योंकि "उसके लिए यह आवश्यक नहो कि वह दूसरे की आंखें उधार ले, कारण उसकी आंखें स्वयं काफी तेज हैं और जो अवधारणायें कला में आती हैं वे स्वतन्त्र नहीं वे सहजानुभूति की साधारण तत्व मात्र बनकर आती हैं, जैसे कि किसी चित्र के मुँह पर लगा लालरंग भौतिकशास्त्र का बोधक नहीं, चित्र का अंग बन कर ही आता है।"

ख-सहजानुभूति और अभिव्यंजना एक ही वस्तु है अतः उनमें कोई भेद नहीं है, इसलिए अभिव्यंजना ही कला है। वास्तव में सहजानुभूति का अर्थ ही अभिव्यंजित है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होता, वह "सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है।" अतः सिद्धान्त रूप में हम कह सकते हैं कि "**Intuition is expression and expression is art.**" निश्चय ही सहजानुभूति में उस अंश तक सहजानुभूति है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्त करती है, जब एक (सहजा) उत्पन्न होती है तो उसी क्षण उसके साथ दूसरी (अभिव्यक्ति) भी उत्पन्न होती है, क्योंकि वे दो न होकर एक हैं।

सहजानुभूति और अभिव्यक्ति को एक स्वीकार कर क्रोचे ने निम्न सिद्धांतों स्थापना की है—

१—प्रत्येक मनुष्य जन्मतः कवि होता है, कोई छोटा और कोई बड़ा।

यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो छोटे-वड़े का यह अन्तर क्यों ? इस अन्तर का कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि—

"उनका अन्तर तीव्रता और मात्रा में नहीं, विस्तार में है। जिसे हम असन्दिग्ध रूप से श्रेष्ठ कला कह सकते हैं, वह सहजानुभूतियों को संकलन करती है, जो सामान्य सहजानुभूतियों से अधिक जटिल और व्यापक होती है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि कलाकारों की श्रेणी गम्भीरता और व्यापकता के कारण वनती है।

२—जव सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है, तव तत्व और रूप में, वस्तु और अभिव्यंजना शैली में कोई भेद संभव नहीं। उनके मत में "आधेय के गुणों से रूप के गुणों तक जाने का कोई मार्ग नहीं है, सौन्दर्य सृजन में भाव तत्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा रूप धारण कर लेता है।" हम न तो भाव को व्यंजना से जोड़ते हैं और न पृथक् करते हैं। अतः वे उन्हें नहीं मानते, जो कला (सौन्दर्य) में केवल आधेय को स्वीकार करते हैं या आधेय और रूप के मिश्रण को।

३—सहजानुभूति के कारण ही कला आध्यात्मिक क्रिया है, केवल प्रकृति का अनुकरण मात्र नहीं। और वाह्य अभिव्यक्ति उसका भौकिक रूप है जिसे कवि चाहे तो करे चाहे न करे; सहजानुभूति के वाद काव्य कर्म समाप्त हो जाता है। वह जीवन का अनुकरण पदार्थसापेक्ष नहीं है। क्योंकि मोम की रंगीन पुतलियाँ जो जीवन की नकल करती हैं जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं, सौंदर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं। कला तो अरूपात्मक संवेगों को रूपवद्ध करती है, अतः अखण्ड है, अविभाज्य है और धारणाओं से मुक्त है।

कला अखण्ड है—क्योंकि "प्रत्येक व्यंजना पूर्ण इकाई व्यंजना है क्योंकि कि यह क्रिया आवयविक समग्रता में प्रभावों का एकीकरण है। कला का वर्गीकरण कला को उसी प्रकार नष्ट कर देगा, जैसे जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों और मांसपेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में

बदल डालना है।" व्यावहारिक दृष्टि से विभाजन कर दें पर यह उचित नहीं है क्योंकि कला पूर्ण इकाई है, एक परमाणु है।

४—कला का वर्गीकरण सम्भव नहीं :—

क्योंकि यह उस पर आरोपित होगा, अतःकला का किसी भी प्रकार का—सरल मिश्रित, विषयप्रधान, विषयीप्रधान आदर्श और यथार्थ भेद नहीं होना चाहिए, कला के रूप में संघटनों और अवबोधनों के प्रति वह उदासीन है।

५—कला कृति का अनुवाद भी सम्भव नहीं—

क्योंकि जिस प्रकार और जितनी तीव्र अनुभूति मूल की है, जितनी गहराई और व्यापकता उसमें है, वह अनुवादक में आ ही नहीं सकती। एक सहजानुभूति है, जिसका अनुकरण से शाश्वत विरोध है; किसी भाव का शब्दशः अनुवाद कर पाना असम्भव है और उसकी अर्थच्छायाओं को आँकना तो और भी दुःसाध्य है।

६—कला जब पूर्णता का दूसरा नाम है, तब उसकी कोटियों का निर्धारण तथा तारतम्य का निर्माण संभव नहीं; क्योंकि पूर्ण के पूर्णतर तथा पूर्णतम भेद नहीं हो सकते हैं। हाँ, 'अकला' के भेद हो सकते हैं क्योंकि वह अनावश्यक है और उसमें मात्रा भेद सम्भव है।

७—अभिव्यंजना का कोई प्रयोजन नहीं।

कला कला के लिए है, किन्तु आनन्द भी उसका सहचारी है। अन्तिम परिणाम नहीं; क्योंकि यह आत्मा की लीला है और "न लीलायाः किंचित् प्रयोजनं स्वयमेव प्रयोजनत्वात्"। चित्त को निर्मल बनाना भी उसका कर्त्तव्य कर्म है उद्देश्य नहीं।

अभिव्यञ्जनावाद तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्त—आचार्य शुक्ल हिन्दी के समर्थ रसवादी आलोचक हैं, जहाँ भी उन्हें रस-भाव की अवहेलना या उसके महत्व की उपेक्षा दृष्टिगत हुई, वहीं उनका आलोचक क्रुद्ध हो उठता है। "साहित्य में भाववादी दृष्टिकोण की वे प्रतिष्ठा चाहते थे, अतः अभिव्यंजनावादी क्रोचे और कुन्तक दोनों ही उनके लिए समान थे, अभिव्यंजनावाद के विषय में उनका मत है कि—'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद

का ही विलायती उत्थान है।" किन्तु हमारे विचार से शुक्ल जी का मत अंशतः सत्य हो सकता है किन्तु सर्वांश में नहीं। क्योंकि क्रोचे का सिद्धान्त आत्मवादी है जब कि कुन्तक का देहवादी। अतः दोनों को समान कहना भ्रान्तिजनक है। "क्रोचे का सिद्धान्त कला-सृजन का आदर्शवादी दार्शनिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। वह कला-प्रक्रिया की सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं है। उस सिद्धान्त का मुख्य सम्बन्ध भी सामान्य कला से है, जबकि वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल काव्य से सम्बन्ध रखता है। अपने लक्ष्यों, प्रयोग-क्षेत्र तथा साधनों में ये दोनों सिद्धान्त परस्पर भिन्न हैं। साम्य जो प्रतीत होता है वह केवल ऊपरी है।" फिर भी इन सिद्धान्तों में जो साम्य प्रतीत होता हैं, वह इस प्रकार देखा जा सकता है—

साम्य—अभिव्यंजनावाद काव्य का प्राण है—Art is expression.' तथा 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' जिस प्रकार कुन्तक की वकोक्ति में समस्त आन्तरिक और वाह्य काव्य-विषय और अभिव्यंजना शैली अन्तर्भूत हो जाती है उसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना में भी सहानुभूति और अभिव्यञ्जना अभिन्न रूप से अभिन्न हैं।

कल्पना का प्राधान्य—सहजानुभूति कल्पना ही है क्योंकि वह वस्तु के भाव में भी हो जाती हैं और अभाव में भी। कुन्तक में भी 'वक्रोक्ति वैदग्ध्य भंगिभणिति' होने के कारण कवि की कल्पना ही है और वह इसीलिए लोक व्यवहार और दर्शन व्यवहार से भिन्न है। अभिव्यञ्जना—अखण्ड है—

कुन्तक के यहाँ अन्यूनानतिरिक्त सम्बन्ध शब्द और उसकी छाया में अपेक्षित है, जो उनके अनुसार किसी एक शब्द से ही हो सकता है। सम्भवतः इसी कारण दोनों काव्य को अनुकरणीय नहीं मानते हैं।

कुन्तक 'काव्यरीतियों में उत्तम, मध्यम, अधम की कल्पना उचित नहीं मानते' तो दूसरी ओर क्रोचे भी पूर्ण के पूर्णतर पूर्णतम भेद मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

वैषम्य—क्रोचे दार्शनिक हैं; अतः वह अलंकार शास्त्र का निषेध करता है—क्योंकि आध्यात्मिक जीवन से उसका पृथक्करण है, जबकि कुन्तक का

संकल्प है कि "मैं संकल्प के साथ लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि तथा उसके द्वारा काव्य की व्युत्पत्ति के लिए अलंकार शास्त्र की रचना कर रहा हूँ।"

क्रोचे सहजानुभूति-अभिव्यक्ति को केवल सहज मानता है; उसके वक्र, ऋजु भेद नहीं करता है। कुन्तक लोकभिन्न दर्शनभिन्न वक्रता को महत्वहीन तथा वह सामान्य उक्ति को काव्य नहीं मानता।

क्रोचे के अनुसार मानस निर्माण के बाद कला का काम पूर्ण हो जाता है, बाह्याभिव्यक्ति गौण है। जब कि कुन्तक व्यष्टि अनुभूति की समष्टिगत परिणति अनिवार्य मानते हैं।

क्रोचे कला का कोई प्रयोजन नहीं मानता 'न लीलायाः किंचित् प्रयोजनम्' जबकि कुन्तक "तद्विदाह्लादकारित्व" को काव्य का अनिवार्य गुण मानता है। कला की सिद्धि और कारण दोनों उनके अनुसार आनन्द ही है।

कला का उद्देश्य क्रोचे के अनुसार 'अपने अनुभवों का विस्तार कर मनुष्य अपने आपको उनसे मुक्त करता है—अतः आत्म वैषम्य कला का उद्देश्य है, जब कि कुन्तक के अनुसार 'चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदां' काव्य का उद्देश्य है।

क्रोचे के अनुसार वस्तु तत्व गौण अरूप संवेदन, अभिव्यंजना के अभाव में अस्तित्वहीन है। कुन्तक के अनुसार कवि व्यापार का महत्व होते हुए भी नगण्य-वस्तु नहीं। प्रवन्ध वक्रता में वे रस और वस्तु का स्पष्ट अन्तर और महत्व मानते हैं।

क्रोचे एवं कुन्तक में से एक दार्शनिक है, जबकि दूसरा काव्यशास्त्री। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कुन्तक महत्वपूर्ण है किन्तु क्रोचे का महत्व भी कम नहीं है।

———

अध्याय | ६

रस

प्रश्न ३७—रस शब्द की व्याख्या करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। 'रसौ वै सः' इस वैदिक श्रुति के आधार पर रस को आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही माना गया है तथा इस श्रुतिवाक्य द्वारा भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिकानन्द स्वरूप तत्व (ब्रह्म-रस) का विवेचन किया है। 'रस' के विषय में भारतीय समीक्षा शास्त्र का तो कहना ही क्या है क्योंकि प्राचीन काल से लेकर आज तक वह भारतीय आलोचना का मानदण्ड बना हुआ है। रस तत्व की सत्ता का उदय तो भारतीय काव्य के अभ्युदय के साथ ही हुआ था। इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत श्रुति उपन्यस्त की जा सकती है—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' रस की महिमा बड़ी व्यापक है। रस की महत्ता के विवेचन से पूर्व उसकी आवश्यकता पर दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा—जीवन की गति यह स्पष्ट कर देती है कि रस जीवन का सार है और समस्त मानव-मात्र का जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका उदय और अस्त रस में ही है। साथ ही, साधनावस्था भी रस की अवस्था है, इसमें संदेह नहीं, यदि हम उसको इस रूप में परिणत कर सकें। यह निर्विवाद सत्य है कि रस जीवन के लिए आवश्यक तत्व है, इसी को प्रसाद जी ने अपने इन शब्दों से व्यक्त किया है—

काम मंगल से मण्डित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम।

दूसरे अर्थ में लोक में प्रचलित खाद्य पदार्थों में लवण, तिक्त, मधुर, कषायादि षड्रस तथा सांगीतिक रस आयुर्वेदीय रस अथवा यत्र-तत्र-अन्यत्र प्राप्त होने वाले रस, जीवन के लिए आवश्यक तत्व हैं। संभवतः भरतमुनि ने रस शब्द की व्यापकता एवं महत्ता का अनुभव करके ही इस कारिका का निर्माण किया होगा—

"नहिं...रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्त्तते"

'रस' शब्द अनेकार्थक है, जैसे—सार-आसव धातु-भस्म, हर्ष, आनन्द। किन्तु इस शब्द के मुख्य अर्थ हैं: (१) पदार्थ-रस, जैसे : षड्रस अर्थात् कषाय तिक्त, कटु, लवण, अम्ल तथा मधुर। (२) आयुर्वेदीय रस, पारद, शरीर की एक धातु— 'रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं, मासन्मेदो, मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातः शुक्रम्।' (गर्भोपनिषद् २) (३) कामशास्त्र में रस रति—'रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायाः। संप्रयोगो रतं रहः शयनं मोहनं सुरत पर्यायाः। (कामसूत्रम् २।१।३२)। (४) भक्ति-रस अथवा ब्रह्मानन्द और (५) साहित्य रस अथवा काव्यानन्द। (६) द्रव पदार्थ के लिए : जैसे 'रसेन समगंस्महि' जलसार, 'सोमइन्द्रियो रसः' सोमरस के लिए' 'दधान कलशेरसं' लता रस के लिए। (७) स्वाद के पर्याय रूप में—'स्वादू रसो मधु पेयो वराय' हे इन्द्र तुम्हारे पीने के लिए यह मधु जैसा स्वादु मधुर सोमरस है।)

वस्तुतः तथ्य तो यह है कि जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए 'रस' अनिवार्य है, रस से रहित जीवन जीवन ही नहीं रह जाता है चाहे वह आध्यात्मिक जगत् हो अथवा लौकिक जगत्। जीवन की गति भी रस के कारण ही है। जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किये हुए व्यंजन से रस की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का आस्वादन करते हुए सहृदयजन रस का आनन्द लेते हैं। प्रथम

आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल है और दूसरे की सूक्ष्म ।

'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'अ' (अच् अथवा घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है । अतएव 'रस' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है— 'रसयते इति रसः' अर्थात् वह जो आस्वादित किया जाय, अथवा 'रसते इति रसः' अर्थात् वह जो वहता है । इस प्रकार 'रस' में दो विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं—आस्वाद्यत्व और द्रवत्व ।[1]

प्रस्तुत पृष्ठभूमि के साथ यदि हम रस के स्वरूप और उसकी परिभाषा पर विचार करें, तो आचार्य भरत के अनुसार हम कह सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' । और यह रस की निष्पत्ति नाना भावों के उपगम से होती है :—'नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।"[2] दशरूपककार धनंजय ने भरत का समर्थन करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भावों के साथ मिलकर स्थायी भाव रस रूप में निष्पन्न होता है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वंस्थायी भावो रसः स्मृतः ।।

(दशरूपक ३।१)

आचार्य मम्मट कहते हैं कि 'उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस कहा जाता है—'व्यक्तः स तै र्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।' (का० प्र० ४।२८) साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ भी इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं : 'रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावःसचेतसाम्' (सा० द० ४।१) अर्थात् रति आदि स्थायी भाव ही रस स्वरूप को प्राप्त करते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में रस स्वरूप को व्यक्त करते हुए लिखा है कि सत्वोद्रेक रस का हेतु है । यही नहीं, वह तो अखण्ड, स्वप्रकाशा-

---

१. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ६३ ।
२. नाट्यशास्त्र ६।३१-३२ ।

नन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है—

सत्वोद्रेकादखण्ड: स्वप्रकाशानन्द - चिन्मय ।
वेद्यान्तरः स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः ॥
(साहित्यदर्पण ३।२-३)

आचार्य विश्वनाथ का आशय यह है कि रस का आस्वादन होता है, अतः वह रस है अर्थात् रस आस्वाद रूप है—"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" और इस रस के आस्वादकर्त्ता सहृदय ही होते हैं। इसी भाव को काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने इस कारिका द्वारा व्यक्त किया है। उनका आशय यह है कि रस का आस्वादन सहृदय को ही संभव है। उनका "सवासनां सभ्यानां" कथन सहृदय-हृदय का ही बोधक है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासिनान्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्म सन्निभः ॥

रस सहृदय संवेद्य है। इस रस की निष्पत्ति सत्वगुण की अधिकता से होती है तथा इस रस का आस्वाद सदा ही अनिवार्यतः आनन्दमय ही होता है। और यह आनन्द अखण्ड, चिन्मय तथा वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है। अखण्ड से यहाँ आशय यह है कि इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी आदि भावों की पृथक्-पृथक् अथवा खण्डशः अनुभूति नहीं होती है अपितु सभी की समन्वित अखण्ड अनुभूति होती है। यही नहीं, इस अनुभूति में परिमाण का भेद भी नहीं होता है। इस समय किसी अन्य विषय की चेतना भी नहीं होती और तीसरे यह अनुभूति चिन्मय और बुद्धिपूर्वक होती है क्योंकि रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका आशय यह है कि इस अनुभूति में ऐन्द्रिकता नहीं होती है। यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और भी आवश्यक है वह यह कि रस चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। शृङ्गार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं है, ठीक उसी

प्रकार जिस प्रकार वीभत्स रस का अर्थ जुगुप्सा या करुण रस का अर्थ शोक का अनुभव नहीं है। अन्यान्य आचार्यों के साथ ही आचार्य विश्वनाथ रस की विलक्षणता का प्रतिपादन करने के साथ करुणादि रसों की अनुभूति भी सुख-कारक मानते हैं—

करुणाद़ावपि रसे जायते यत्परमं सुखम्।
सचेतसामनुमनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

इसीलिए 'रसमीमांसा' में डा० भगवानदास ने लिखा है कि "भाव, क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन, रसन रस है।" मेरे विचार से इसीलिए संस्कृत-साहित्य में रस की व्युत्पत्ति-'सरते इति रसः' की जाती है, तदनुसार रस स्वतः स्फुरित होने वाला तत्व है।

'रस' की एक विशेषता यह है कि रस का आनन्द चमत्कार प्राण है। यद्यपि विश्वनाथ ने इस तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है, किन्तु इतना तो अवश्य ही है कि चमत्कार का काव्यानन्द में थोड़ा-बहुत योग अवश्य रहता है, क्योंकि चित्तवृत्ति की एक विशेषता यह है कि सुन्दर वस्तु को देखकर उसमें आनन्द एवं विस्मय की समन्वित भावना उदय होती है। सम्भवतः रस की इन्हीं विशेषताओं के कारण आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि रस न ज्ञाप्य है न कार्य; और ज्ञाप्य और कार्य भी हो सकता है। न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक। अतएव किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय है, अलौकिक है एवं ब्रह्मानन्द सहोदर है। निर्वितर्क समाधि का नहीं, क्योंकि उसमें तो अहंकार में भी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु रस में ऐसा नहीं होता।[१] 'रस से उत्पन्न होने वाला आनन्द

---

१. स च न कार्यः, विभावादिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्? न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।

बाह्येन्द्रियगत[१] अनुकूलसंवेदना-जन्य-आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकता के आधार पर ही विभावादि को रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है।...उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती है, वह अनिर्वचनीय है। रस के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द की कल्पना का मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद' है। रसो वै सः' कहकर इस उपनिषद् में ब्रह्म को ही आनन्द या रस रूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्र का जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करने पर सब जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लय भी होते हैं। इसी के आधार पर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्द से तुलना करके काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कह दिया गया है।"[२]

आज मनोवैज्ञानिक के समक्ष रस तत्व के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न हैं, जिनका समाधान नितान्त आवश्यक है। किन्तु विस्तारभय से मात्र दिग्दर्शन ही यहाँ करा सकेंगे—प्रथम प्रश्न यह है कि क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है? तीसरा प्रश्न यह है कि क्या आनन्द अभौतिक और विलक्षण है? इस प्रकार के प्रश्न प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी आचार्यों के समक्ष रहे हैं। इस विषय पर विचार करते हुए आचार्यप्रवर डा० नगेन्द्र ने काव्यानन्द के सम्बन्ध में पाँच सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं—

१—काव्य का अनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द हैं। इस मत के प्रवर्त्तक प्लेटो हैं और आधुनिक युग में समर्थन ड्यूवाय ने किया है। इसके अनुसार

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।

—काव्यप्रकाश ४।२७-२८ की व्याख्या

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६७१

२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६१

काव्य का कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा कि सर्कस देखने से मिलता है।

२—काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द का ही एक रूप है। आत्मा सहज सौन्दर्य रूप है, सहज आनन्द रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है, अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं। हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है। अभिनव, मम्मट और जगन्नाथ का भी यही मत है।

३—काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूलवस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह अरस्तू से प्रेरित एडीसन का मत है। बीसवीं शती में क्रोचे ने इसी को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत कर काव्यानन्द को सहजानुभूति का आनन्द माना है।

४—काव्य का आनन्द सभी प्रकार के लौकिक और (आध्यात्मिक) अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द है जो सर्वथा निरपेक्ष है। यों तो यह सिद्धान्त काफी पुराना है, परन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के आरम्भ में ब्रेडले, क्लाइव बैल आदि कलावादियों ने इसको व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठा की है। यद्यपि यह सिद्धान्त भी कुछ-कुछ रहस्यवादी प्रकृति में रंगा हुआ है और रिचर्ड्स ने इस पर कांट तथा हीगेल आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी माना है, तथापि 'विलक्षण अनुभूति' और 'आध्यात्मिक अनुभूति' को एक मानना उचित नहीं होगा क्योंकि यह 'विलक्षण अनुभूति' केवल लौकिक आनन्द से ही नहीं आध्यात्मिक आनन्द से भी तो विलक्षण है।*

इन मतों के औचित्य, अनौचित्य पर यहाँ विचार अपेक्षित नहीं है किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को आत्मिक आनन्द का प्रतिरूप माना गया है, इसीलिए उसे अनिर्वचनीय, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि विशेषण प्रदान किए गए हैं।

प्रश्न ३८—रसाङ्गों का विवेचन कीजिए।

अथवा

*रससिद्धान्त, पृ० ११६

भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारीभाव और स्थायी भावों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

भरतमुनि कृत परिभाषा—'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' में रस के तीन अंगों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) का उल्लेख किया गया है। किन्तु आगे की पंक्तियों में उन्होंने स्थायीभाव को ही रस कहा है। वे लिखते हैं कि "नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ...विभावानुभाव व्यभिचारि परिवृतः स्थायीभावो रस नाम लभते नरेन्द्रवत्। (ना० शा० ६।२६-३२; ७।७-८) अर्थात् अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव रसावस्था को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि उन विभावादि से व्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है। अतः विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) भाव और स्थायी-भाव रस के अङ्ग हैं और इन तत्वों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

भाव—भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं के व्यंजक तत्व ही 'भाव' हैं—"कवेरन्तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते।" अमरकोष में मन के विकारों को भाव कहा गया है–'विकारो मानसोभावः'। ये भाव चार प्रकार के हैं–विभाव, अनुभाव; व्यभिचारीभाव और स्थायीभाव। 'भाव' शब्द पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्य कोश के प्रथम भाग में लिखा है कि "...ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावों के वाचिक, सात्विक, आंगिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा ये नाटक के अर्थ को 'भावयन्ति' अर्थात् व्यंजित करते हैं। 'भाव' का अर्थ कारण है, क्योंकि यह भावित, रासित तथा कृत का समानार्थक है और इसकी मूल धातु 'भावय' का अर्थ है परिव्याप्त होना। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभाव का अर्थ दर्शक के मन में परिव्याप्त किया जाता है (गमयते), तो इन्हें 'भाव' कहते हैं (ना० शा० ७।१-३) वस्तुतः भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का व्यंजक प्रदर्शन ही भाव है और इसी मौलिक शब्द के आधार पर विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की स्थापना की गयी है।...आगे चलकर 'भाव' का एक विशिष्ट अर्थ और विकसित हुआ। धनंजय (१० शती ई०) ने आश्रय की सुख-दुःख आदिक भावस्थितियों के ज्ञापन

को 'भाव' माना है। (दश० ४।४) वस्तुतः धनजंय ने आन्तरिक भावस्थितियों के भावयन (ज्ञापन) को 'भाव' कहा है जो 'नाट्यशास्त्र' की परम्परा में है। मम्मट (१२ शती ई०) ने 'रसध्वनि' और 'भावध्वनि' का अलग-अलग विवेचन किया है—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारीतथाऽश्रितः भाव। प्रोक्तः" (का० प्र० ४।३५)। देवादिविषयक रति आदि स्थायी भावों की वर्णना और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र अभिव्यंजना में 'भावध्वनि' की कही जाती है। इसी बात को विश्वनाथ (१४ श० ई०) ने और स्पष्टता के साथ कहा है—"संचारिण प्रधानानि देवादि विषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।" (सा० द० ३।२६०-२६१), अर्थात् जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादि-विषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव का वर्णन 'भाव' मात्र कहलाता है।[१]

विभाव—वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, वे विभाव कहलाते हैं—विभावयन्ति इति विभावाः'। 'वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते हैं।[२] आचार्य विश्वनाथ ने विभाव का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'सामाजिक के अन्तर्गत रति-हास आदि को जो आस्वादन के योग्य उत्पन्न करते हैं—"रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावा काव्यनाट्ययोः"।[३] हिन्दी के आचर्य देव विभाव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"जो विशेष्य करि रसनि को उपजावत हैं भाव।"[४] आचार्य शुक्ल ने विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५६१

२. नाट्यशास्त्र ७।४:—विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः।
यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्॥

३. साहित्यदर्पण ३।२६

४. भावविलास, २३२

प्रकार का भाव या संवेदना होती है।" जो व्यक्ति या पदार्थ अथवा बाह्य विकार किसी व्यक्ति के मन में भावों को जाग्रत करते हैं, उन भावोद्बोधक अथवा रसाभिव्यक्ति के कारणों को विभाव कहते हैं। इनके आश्रय के कारण रस अभिव्यक्त होता है, अतः यह कारण निमित्त अथवा हेतु कहलाते हैं। "रस को अलौकिक मानने के कारण इन्हें भी कारण आदि नाम न देकर असाधारण रूप से विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रय में भावों को जाग्रत करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। इस कारण इसके 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' नामक दो भेद किये गये हैं।"* आलम्बन विभाव वे हैं जिसका आलम्बन लेकर रति, हास, क्रोध, शोक, भाव जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय, आदि भाव जाग्रत होते हैं, जैसे नायक-नायिका। आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—आश्रयालम्बन तथा विषयालम्बन—यदि नायक राम को देखकर सीता के मन में रस की उत्पत्ति होती है तो राम आलम्बन विभाव हुए और सीता आश्रय विभाव। उद्दीपन विभाव वे कहलाते हैं—जिन वस्तुओं या स्थिति को देखकर रति आदि स्थायीभाव तीव्र या उद्दीप्त होने लगते हैं, जैसे—चन्द्रोदय, कोकिल कूजन, एकान्त स्थल, रमणीक उद्यान आदि। प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट उद्दीपन होते हैं, जैसे—श्रृंगार के लिए चन्द्रोदय तथा शान्तरस के लिए सत्संग, तीर्थाटन, धर्मोपदेश आदि। भावोद्दीपन के बिभिन्न कारण होते हैं—(१) आलम्बन के गुण, (२) आलम्बन की चेष्टाएँ, (३) आलम्बन के अलङ्कार (४) तटस्थ पदार्थ।

अनुभाव—स्थायी एवं संचारी भावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक एवं मानसिक विकार दृष्टिगत होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं—"अनुभावयन्तीति अनुभावः। भरत वाणी तथा अंगसंचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावाभिव्यंजन को अनुभाव कहते हैं (ना० शा० ७।४)। रस गङ्गाधरकार के अनुसार संचारी भावों के अनन्तर इनकी उत्पत्ति होती है, अतः ये अनुभाव कहलाते हैं—"अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषामनुमनु भावयन्ति इति वा व्येयुत्पत्ते।" धनंजय अनुभावों को विकार रूप तथा भावों का सूचक मानते हैं—अनुभावेन

*हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७३०

विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः (दशरूपका ।३४) । विश्वनाथ ने आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य को अनुभाव कह हैं—'उद्बुद्धं कारणः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्' (सा० द० ३।१३२) ।" वाणी तथा अंग-संचालन आदि की जिन क्रियाओं से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय में जाग्रत भावों का साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाता है । इस रूप में ये विकाररूप तथा भावों के सूचक हैं । भावों की सूचना देने के कारण ये भावों के अनु अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती एवं कार्यरूप माने जाते हैं । वास्तविक पात्र के लिए कार्यरूप होने पर भी सहृदय के विचार से ये कारण रूप भी हैं; क्योंकि इन्हीं अनुभावों के सहारे ही वह पात्रों के भावों को जान पाता है । साहित्यदर्पणकार ने कार्यरूप मानकर ही आलम्बन तथा उद्दीपन आदि कारणों से हृदय में जाग्रत रति-भावना को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य कहा है ।...हेमचन्द्र, भानुदत्त तथा शारदातनय ने अनुभावों का हेतु रूप और कविराज विश्वनाथ, धनंजय, शिंग-भूपाल तथा पंडितराज ने इन्हें कार्यरूप माना है । प्रत्येक रस के विचार में यह अनुभाव भी पृथक्-पृथक् होते हैं ।"*

भरतमुनि वाचिक, आंगिक और सात्त्विक तीन प्रकार के अनुभाव मानते हैं (ना० शा० ७।३-४) । भानुदत्त इनकी संख्या चार—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक मानते हैं । किसी-किसी विद्वान् ने इनकी संख्या पाँच मानी है । वे पाँच प्रकार के अनुभाव निम्न हैं—कायिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक तथा सात्विक । **कायिकः** शारीरिक कृत्रिम चेष्टाएँ—कटाक्षपात, भृकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाएँ कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं । **मानसिक :** अन्तःकरण की भावना के अनुरूप मन में हर्ष-विषाद आदि की हलचल को मानसिक अनुभाव कहते हैं (मन सम्भव मोदादि कहँ) **आहार्य :** मन में उत्पन्न भावना के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार की वेश-भूषा धारण करना आहार्य अनुभाव कहलाता है । **वाचिक :** वाणी की उग्रता अथवा

---

*हिन्दी साहित्य कोश, भा० १ पृ० ३३

मृदुता वाचिक अनुभाव कहलाता है। सात्विक : सात्विक भावों से उत्पन्न अनुभाव। सात्विक भाव अथवा सहज अंग विकार आठ माने हैं, जैसे—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, अश्रु, वैवर्ण्य, प्रलय तथा जृम्भा—

सहजहिं अंग विकार कहँ, सात्विक भाव बखान।
स्तम्भ स्वेद रोमांच कहि, बहुरि कहत स्वर भंग।
कम्प वरणि वैवर्ण्य पुनि, आँसू प्रलय प्रसंग।।
अन्तरगत अनुभाव में, आठहु सात्विक भाव।
जृम्भा नवम बखानहीं कोऊ कवि सतभाव।
(भानुकवि : रसरत्नाकर)

इन अनुभावों का नाम सात्विक इसलिए है क्योंकि "इनका अभिनय विशेष मनोवेग से ही सम्भव है और चित्त-विक्षेप के साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता (ना० शा० ६।६)। अन्तःकरण के विशेषधर्म 'सत्व' से उत्पन्न ऐसे अंग-विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं, जिससे हृदयगत रस या भाव का पता चलता है। सत्व को मनःप्रभाव कहा जाता है। साहित्य-दर्पण (१४ श० ई०) के अनुसार सत्व 'स्वात्मविश्राम' अर्थात् रस को प्रकाशित करने वाला आन्तरधर्म है। इससे सम्बन्ध रखने के कारण ही इन अनुभावों को सात्विक भाव भी कह दिया है (३।१३३-३४)। वस्तुतः ये [illegible] के प्रकाशक के रूप में अनुभवमात्र ही हैं, केवल 'गोवलीवर्दन्याय' से इनका [illegible] वर्णन किया जाता है।"[1] धनंजय ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि "कुछ और भाव पृथक् ही होते हैं, जो होते तो वास्तव में अनुभाव ही हैं, किन्तु सत्व से उत्पन्न होने के कारण उन्हें सात्विक भाव कहते हैं—पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः सत्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भाव भावनम्।" सत्व का अर्थ है "भावक के चित्त को सुख-दुःख इत्यादि की भावनाओं से भावित करना"। सात्विक भाव, संस्कृत के आचार्यों ने आठ माने हैं—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरसादोऽथवेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृता।। (दशरूपक)

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० भा०, पृ० ६०४

हिन्दी के भानुकवि ने इनकी संख्या नौ मानी है। भानुकवि का उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है।

स्तम्भ—हर्ष, भय, विस्मय, विषाद, लज्जा, रोष आदि से अचानक शरीर के अंगों का रुक जाना 'स्तम्भ' सात्विक कहलाता है। (ना० शा० ६।६६)

स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, समाचार आदि से उत्पन्न पसीने को 'स्वेद' सात्विक कहते हैं। (ना० शा० ६।६५)।

रोमांच—स्पर्श, श्रम, हर्ष-क्रोध, भय आदि के कारण शरीर के रोमों का खड़ा हो जाना 'रोमांच' सात्त्विक कहा जाता है (ना० शा० ६।६८)।

स्वरभंग—हर्ष, भय, क्रोध आदि के कारण स्वर का गद्‌गद् हो जाना 'स्वरभंग' कहलाता है (ना० शा० ६।६६)।

वेपथु और कंप—भय, क्रोध, हर्ष, शीत आदि के कारण शरीर का काँपने लगना 'वेपथु' सात्विक कहलाता है (ना० शा० ६।६८)।

वैवर्ण्य—क्रोध, भय, हर्ष, विषाद, शीत लज्जा आदि के कारण मुंह का रंग उड़ जाना 'वैवर्ण्य' सात्विक कहलाता है (ना० शा० ६।६६)।

अश्रु—आनन्द, भय, शोक, धूम आदि के कारण नेत्र से निकलने वाले अश्रु को 'अश्रु' सात्विक कहते हैं।

प्रलय– मूर्च्छा, भय, निद्रा, हर्ष, आघात, श्रम आदि के कारण उत्पन्न निश्चेष्टता, संज्ञाहीनता आदि की अवस्था को प्रलय कहते हैं (ना० शा० ६।६६)।

जृम्भा—नामक सात्विक का उल्लेख भानु कवि ने किया है, इसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं, यद्यपि इसका (नौवाँ सात्विक मानने का) विरोध भी किया जा सकता है। वियोग, मोह तथा भय के कारण जब मुख को खोलकर श्वास-निःश्वास लिया जाता है उसे 'जृम्भा' सात्त्विक कहते हैं।

व्यभिचारी अथवा संचारीभाव—भरत ने नाट्यशास्त्र में व्यभिचारी का अर्थ—रस के सम्बन्ध में जो अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करें (७।२७) —किया है। इसी आधार पर धनंजय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा की है–"विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः

कल्लोला इव वारिधौ।" (द० रू० ४।७) अर्थात् जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दृष्टिगत होते हैं, वे संचारी-भाव कहलाते हैं। "जैसे लहरें समुद्र में पैदा होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि संचारी भाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। इस तरह संचारीभाव मुख्य रूप से स्थायीभाव में ही उठते-गिरते हैं। लहरों के उठने और गिरने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, ठीक उसी तरह 'संचारीभाव' स्थायीभावों के पोषक होते हैं। स्थायी स्थिर तो संचारी संचरणशील और अस्थिर।"[3] केशवदास के अनुसार व्यभिचारी भाव का लक्षण निम्न है—

भाव जु सब ही रसन में, उपजत केशव राय।
विना नियम तिन सों कहैं, व्यभिचारी कविराय ॥

आचार्य चिन्तामणि इन्हें संचारी नाम देते हुए कहते हैं कि—

जे विशेष ते थाइ को अभिमुख रहे वनाय।
ते संचारी वर्णिए कहत वड़े कविराय ॥

समय-समय पर संचारियों की संख्या में परिवर्तन होता रहा है किन्तु इनकी मान्य संख्या तैंतीस रही है। भरत के अनुसार वे निम्न हैं—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, औग्र्य, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, संत्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिन्ता और वितर्क। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस-मीमांसा में संचारियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि "जो तैंतीस संचारी कहे गये हैं, वे उप-लक्षणमात्र हैं, संचारी और भी हो सकते हैं। जिस प्रकार स्मृति है, उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है। मुख्यरूप से उन्होंने भी तैंतीस संचारियों का ही विवेचन किया है। विरोध-अवरोध की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल ने संचा-रियों के चार भेद किये हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक, और उदासीन।

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० भा० पृ० ८५०।

सुखात्मक—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य। दु:खात्मक—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि। उभयात्मक—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चंचलता। उदासीन...वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

स्थायीभाव—काव्य में वर्णित शृंगारादि रसों के मूलभूत कारण स्थायीभाव कहलाते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्थायीभाव आठ बतलाये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तितः।
(ना० शा० ६।१७)

भरत के अनुसार ये स्थायीभाव ही विभाव, अनुभावों के संयोग से काव्य या नाटक में रस की निष्पत्ति करते हैं। क्योंकि इनमें 'सामान्यत्व' का गुण रहता है—

'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।

वस्तुतः स्थायीभाव ही रस के उपादान कारण हैं। भरत के अनुसार 'जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहने पर भी राजा, राजा ही कहलाता है, उसी प्रकार विभावों अनुभावों एवं संचारियों से सयुक्त होने पर भी, स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं—"नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति···विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्" (६।२६-३२; ७।७-८)। भरत के अनुसार स्थायीभाव ही उचित परिस्थितियों में रस रूप में परिणत होते हैं। जब अतिशयतापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिकता के अन्तःकरण में हो जाता है जिसकी चर्वणा में वह निमग्न हो उठता है तब स्थायीभाव रस कहलाने लगते हैं। मम्मटाचार्य ने भी यही बात कही है—

'विभाव अनुभावास्तत् कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः।'*
(का० प्र० ४।२८)

*हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग पृ० ६४६।

आचार्य धनंजय ने स्थायीभाव का निरूपण करते हुए लिखा है कि—'जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को अपने में शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकर के समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओं को लवण वना देता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावै र्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥
(दशरूपक ४।३४)

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है कि अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा य निरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
(सा० द० ४।१७४)

पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि—"जिस भाव का स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावों से तिरस्कृत न हो सके और जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक जो वर्त्तमान रहे वह स्थायीभाव कहलाता है';—

सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः।

पण्डितराज के स्थायी नाम का आधार यह है कि "काव्य अथवा नाटक के अनुशीलन अथवा प्रेक्षण की अवधि में सामाजिक का चित्त अनेक अवान्तर प्रसंगों के वीच भी उस मूलगत भाव की प्रतीति से ही चमत्कृत होता रहता है।" स्थायीभाव की कुछ सामान्य विशेषतायें हैं—(१) आस्वाद्यत्व (२), उत्कटत्व, (३) सर्वजन सुलभत्व, (४) पुरुषार्थोपयोगिता, (५) औचित्य या उचितविषयनिष्ठत्व। उपर्युक्त पाँचों स्थायीभाव की विशेषताएँ एक साथ आवश्यक हैं तभी वह स्थायीभाव है और तभी वे काव्य में चित्रित होकर सहृदयसंवेद्य हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, लोभ एक अत्यन्त उत्कट भाव है, लेकिन वह आस्वादनीय नहीं है, इसलिए उसे स्थायी भावों में सन्निविष्ट नहीं किया गया है। ऐसे ही संचारी भाव भी सर्वजनसुलभ हैं, क्योंकि वे भी

मनुष्य में वासना रूप में स्थित हैं, किन्तु उनमें उत्कटत्व नहीं हैं क्योंकि जैसा कि पण्डितराज ने कहा है, वे काव्यादिक में अन्त तक 'वार-बार' अभिव्यक्त नहीं होते, अतएव वे व्यभिचारी ही कहे गये हैं। उपर्युक्त कसौटी पर कसकर आचार्यों ने सर्वसम्मति से रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह भय, जुगुप्सा, विस्मय, तथा शम या निर्वेद, ये नौ स्थायी भाव स्वीकृत किये हैं। भरत ने पहले निर्वेद को स्थायीभावों में सन्निविष्ट नहीं किया था क्योंकि वे आठ रसों को ही नाट्योपयोगी मानते हैं, किन्तु इनके निरूपण के पश्चात् उन्होंने निर्वेद को स्थायीभाव तथा शान्त को नौवाँ रस भी स्वीकार किया है। बाद में भक्ति और वात्सल्य भी स्थायियों में गृहीत कर लिए गये हैं, क्योंकि वे भी आस्वाद्यता, उत्कटता आदि गुणों में अन्य भावों से घटकर नहीं हैं। इस प्रकार स्थायी भावों की संख्या ग्यारह तक पहुँच जाती है। इनमें से प्रत्येक एक-एक रस का स्थायी है। ये भाव अपने नियत रस में ही स्थायी की संज्ञा प्राप्त करते हैं, क्योंकि ये आद्योपान्त आस्वादित होते हैं। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र इनमें से कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वहाँ वह स्थायी न रहकर व्यभिचारी वन जाता है; इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कन्हैयालाल पोद्दार का कथन है कि 'वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं' (र० मं०) पृ० २५२)।*

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न रसों के वर्ण एवं देवताओं की कल्पना की गई है, वह कल्पना इस प्रकार है—

रस	स्थायीभाव	वर्ण	देवता
शृङ्गार	रति	श्याम	विष्णु
हास्य	हास	श्वेत	प्रमथ
रौद्र	क्रोध	रक्त	रुद्र
करुण	शोक	कपोत	यम-वरुण
वीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल

*हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० ६४८,

भयानक	भय	कृष्ण	कालदेव भूतपिशाच
वीर	उत्साह	स्वर्ण गौर	इन्द्र (महेन्द्र)
अद्भुत	विस्मय	पीत	गन्धर्व, ब्रह्मा
शान्त	निर्वेद	अरुण	पूषा
वात्सल्य	रति	ईषदरुणाभ	वासुदेव

अभिनव गुप्त ने शान्तरस का अधिष्ठाता बुद्धदेव को, विश्वनाथ ने नारायण को तथा हर्षोपाध्याय ने परमेश्वर को माना है। विश्वनाथ ने वात्सल्य रस का देवता जगदम्बा को माना है। उपर्युक्त सारणी नाट्यशास्त्र के (वर्ण = ६।४२-४३) देवता ६।४४-४५) अनुसार है।

प्रश्न ३९—रसनिष्पत्ति विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन कीजिए।

४०—रसनिष्पत्ति के प्रसंग में किस आचार्य का मत ग्राह्य है? कारण सहित उत्तर कीजिए।

आचार्य भरत के रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है) पर संस्कृत साहित्य के लगभग ग्यारह आचार्यों ने विचार कर रसनिष्पत्ति की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। भरत के सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस का स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखा है कि "लोक में स्थायी रति आदि चित्तवृत्तियों के उदय, विकास और तिरोभाव होने के अनेक कारण, कार्य और सहायक कारण होते हैं। साहित्य में इन्हीं को क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा गया है।* इन्हीं विभावादियों के संयोग से व्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है।

*कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभाव अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ ४।२७-२८

विभाव—वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूलकारण हैं विभाव कहलाते हैं—विभावयन्ति इति विभावाः । विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभाव ।

आलम्बन—विभाव वे हैं जिनका आलम्बन लेकर रति, हास, क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय आदि भाव जाग्रत होते हैं; जैसे—नायक-नायिका को देखकर ।

उद्दीपन—विभाव वे कहलाते हैं जिन वस्तुओं या स्थिति को देखकर रति आदि स्थायीभाव तीव्र या उद्दीप्त होने लगते हैं; जैसे—चन्द्रोदय, कोकिल-कूजन, एकान्त स्थल, रम्योद्यान आदि । प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट उद्दीपन होते हैं । भावोद्दीपन के निम्नलिखित कारण होते हैं—(१) आलम्बन के गुण, (२) आलम्बन की चेष्टायें, (३) आलम्बन के अलंकार, (४) तटस्थ पदार्थ ।

अनुभाव—स्थायीभावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक विकार दिखाई देते हैं वे अनुभाव—'अनुभावयन्ति इति अनुभावाः कहलाते हैं । अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—(१) कायिक, (२) मानसिक, (३) आहार्य और (४) सात्विक ।

व्यभिचारीभाव—व्यभिचारी (संचारी) भाव स्थायीभावों के विपरीत क्षणिक होते हैं । स्थायीभावों के सहकारी के रूप में वर्तमान रहते हैं । अनेक रसों में व्यभिचरण करने के कारण संचारी भावों को व्यभिचारी भाव कहा जाता है । इस प्रकार विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से प्रपाणक रस के समान जो आनन्द अथवा रस-चर्वणा होती है, उसे हम रस कह सकते हैं (विभावादि जीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशत्...ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकश्चमत्कारी शृङ्गारादिको रसः) ।* रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया को सार रूप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं—"जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध समायी रहती है, उसी प्रकार हमारे हृदय में वासनात्मक संस्कार सुप्त रूप में पड़े रहते हैं । जलसिञ्चन द्वारा जिस

१. काव्यप्रकाशः ४।२७-२८ की व्याख्या ।

प्रकार पृथ्वी की गन्ध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विभावदि का संयोग प्राप्त होते ही हमारे वासनात्मक संस्कार उद्बुद्ध होकर चमत्कृत आनन्द उत्पन्न कर देते हैं। वास्तव में वासना रूप वीज आलम्वन रूप हृदय क्षेत्र में पड़कर स्थायीभाव रूप में अंकुरित होता है और उद्दीपन रूप जलवायु एवं गर्मी से वढ़ता है। पीछे यही अंकुर अनुभाव रूप वृक्ष दिखाई देता है और फिर उस पर संचारीभाव रूप अनेक पुष्प खिलते हैं जिनसे मकरन्द रूप रस पैदा होता है।"

रसनिष्पत्तिविषयक विभिन्न मत

प्रथम मत अथवा भट्टलोल्लट का मत—आरोप या उत्पत्तिवाद के उद्भावक मीमांसक भट्टलोल्लट 'संयोग' शब्द का अर्थ सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति करते हैं। इनके मत के अनुसार विभावादि कारण हैं और रस कार्य। भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति ऐतिहासिक पात्र नायक राम आदि में मानी है। विभिन्न वेषभूषा द्वारा नट उनका अभिनय करते हैं।* इसलिए उसका आरोप नट में किया जाता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस उत्पन्न होता है। यह संयोग (सम्वन्ध) तीन प्रकार का होता है—(१) उत्पाद्य-उत्पादक-विभावों द्वारा दर्शक में रस उत्पन्न होता है। (२) गम्य-गमक सम्वन्ध से अनुभावों द्वारा पात्र दर्शक के समक्ष रस को अभिव्यक्त करते हैं। (३) पोष्य-पोष्यक सम्वन्ध से व्यभिचार-भाव रस को पुष्ट करते हैं।

समीक्षा—यह मत जिज्ञासुओं की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान न कर सकने के कारण मान्य नहीं हुआ। इसके विरोध में सर्वप्रथम यह कहा गया कि नट नायक के भावों का आरोध अपने ऊपर कैसे कर सकता है। लोल्लट के अनुसार केवल अनुकार्य में ही रस की उत्पत्ति होती है, नट में उसका आरोप-

---

*विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्वनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावोजनितः; अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभतयः। (काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या)

मात्र होता है। जब दर्शकों को वास्तविक भाव का अनुभव न होगा तो आनन्दानुभूति कैसे सम्भव है। इस मत में दर्शक तथा अभिनय का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हुआ है। कार्य-कारण का सम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं है। क्या कारण के अभाव में कार्य की स्थिति सम्भव है ? हम देखते हैं कि विभाव और अनुभाव के साथ ही रस की उत्पत्ति होती है और उनके अदृश्य होते ही रस भी अदृश्य नहीं होता है। अतः विभावादि कारण तथा रस कार्य का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। यही नहीं, कार्य-कारण में सर्वत्र समयानन्तर मिलता है जब कि नाटक के दर्शन मात्र से रसानुभूति होने लगती है। इस प्रकार इस मत में अनेक शंकायें हैं, उनका समाधान अपेक्षित है।

द्वितीय मत : आचार्य शंकुक का मत—अनुमितिवाद के उद्भावक आचार्य शंकुक ने भरत की 'निष्पत्ति' को 'अनुमिति' तथा 'संयोग' को अनुमाप्य-अनुमापक मानकर विभावादि को अनुमापक तथा रस को अनुमाप्य माना है। रस स्थिति को मूलनायक में मानते हुए—नटों में आरोप न मानकर सम्यङ् मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीति से विलक्षण चित्रतुरगादि न्याय से यह नट राम है ऐसा दर्शक अनुमान कर लेता है। नट के कुशल अभिनय को देखकर प्रेक्षक भ्रमवश (जिस प्रकार चित्र के घोड़े को देखकर वास्तविक घोड़ा समझ लिया जाता है उसी प्रकार) नट में नायक का अनुमान कर लेता है और आनन्दानुभव करता है।*

---

*काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या

"राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके वाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ् मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्या ग्राह्ये नटे······इत्यादि काव्यानुसन्धानवलाच्छिक्षाभ्यासानिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगाद्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यवलाद् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।"

समीक्षा—श्रीशंकुक का अनुमितिवाद भी जिज्ञासुओं की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान न कर सका; क्योंकि अनुमान से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान बुद्धि की क्रिया है, हृदय की नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है अनुभूति नहीं; आनन्द अनुभूतिजन्य है। दूसरी बात यह है कि अनुमान से प्रत्यक्ष आस्वाद्य आनन्द कैसे उपलब्ध हो सकता है। यदि मान भी लें, तो नट के दुःख के साथ ही दर्शक को दुःखी मानना पड़ेगा, किन्तु रसानुभूति सदैव आनन्दमय होती है। तीसरी बात अनुमाप्यानुमापक सम्बन्ध का आधार व्याप्ति है। वह व्याप्ति यहाँ पूर्णतः सिद्ध नहीं है, क्योंकि कभी-कभी विभावादि की उपस्थिति में भी रसानुभूति नहीं होती है।

तृतीय मत : भट्टनायक का मत—सांख्यमतानुयायी भुक्तिवाद के उद्भावक भट्टनायक ने 'संयोग' का अर्थ भोज्यभोजक सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किया है। भट्टनायक ने रस की स्थिति प्रेक्षक के हृदय में स्वीकार की है। भट्टनायक ने आरोपवाद तथा अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए लिखा है कि "न तो तटस्थ अर्थात् उदासीन (नट तथा नायक) के सम्बन्ध से और न ही आत्मगत रूप से (सामाजिक में) रस की प्रतीति होती है, न ही उत्पत्ति होती है न ही अभिव्यक्ति होती है; अपितु काव्य तथा नाटक में अभिधा से भिन्न (द्वितीयेन) एक भावकत्व नामक व्यापार होता है, जिसका स्वरूप विभावादि का साधारणीकरण करना है (विभावादि साधारणीकरणमेव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन); उसके द्वारा साधारणीकृत (भाव्यमानः) स्थायीभाव (रत्यादि) उस भोग (आस्वाद या भोजकत्व व्यापार) के द्वारा भोगा जाता है; सत्व के उद्रेक (रज और तम को दबाकर ऊपर उठने) से होने वाली प्रकाशत्मिका तथा आनन्दात्मिका (वेद्यान्तर-सम्पर्क शून्य) अनुभूति मात्र (विश्रान्ति) ही जिस (भोग) का स्वरूप है (सत्व गुणस्य उद्रेकेण यः प्रकाशः स एव आनन्दात्मिका संवित् तस्य विश्रान्तिः तत् सतत्वेन = तत्स्वरूपेण)।"* उसके

---

*काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या :

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु

की अनुभूति होती है। भट्टनायक के इस मत में स्थायी भाव से लेकर रस की उत्पत्ति तक काव्य की तीन शक्तियाँ—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व हैं। इनमें से अभिधा के द्वारा हमें काव्यगत सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है। भावकत्व द्वारा प्रेक्षक व पाठक का हृदय वैयक्तिक सम्बन्धों को छोड़कर साधारण मनुष्य की भावभूमि पर आ जाता है। वैयक्तिक विशेषताओं और सम्बन्धों से परे पहुँच कर विक्षेप रहित मन नाटक में प्रदर्शित भाव का आस्वाद लेता है। वह दुष्यन्त को पुरुष सामान्य और शकुन्तला को नारी सामान्य समझता है। इस प्रकार स्थायीभाव सहृदय मात्र के द्वारा उपभोग्य हो जाता है। इस स्थिति का नाम रस कहते हैं। रजस्-तमस् विहीन सात्विक मन ही काव्य रस का भोक्ता बनता है यही भोजकत्व व्यापार है।

समीक्षा : इस मत पर एक यह आक्षेप किया जाता है कि इन तीन काव्य-शक्तियों को मानने का शास्त्रीय आधार क्या है। बिना आधार के कल्पना द्वारा पल्लवित इन दो शक्तियों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। जब ठोस तर्कों द्वारा समस्या का समाधान हो सकता है, तब काल्पनिक आधारों की परिकल्पना क्यों ? दूसरा आक्षेप यह भी है कि आचार्य भट्टनायक द्वारा निर्दिष्ट स्थायीभाव का भोग दुष्यन्त-शकुन्तलागत स्थायीभाव का है या अनुकर्त्ता का अथवा सामाजिक का।

चतुर्थ मत : अभिनव गुप्त का मत—वेदान्त मतानुयायी अभिव्यक्तिवाद के प्रतिष्ठाता अभिनवगुप्त के अनुसार 'संयोग' का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यंजक सम्बन्ध' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। अभिनवगुप्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक शक्तियों का कार्य व्यंजना या ध्वनि से लेते हैं। क्योंकि रति आदि स्थायी भाव पाठकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप में रहते हैं

काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

जो कि विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होते हैं।* भावकत्व (भावन सामर्थ्य) भाव का अपना गुण है। भरत के भाव के लक्षण से यह स्पष्ट है— 'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' जो काव्यार्थ को भावना का विषय बनाते हैं, वे भाव हैं। इसी भाव का रसानुभव विभावन व्यापार द्वारा होता है। रस में भोग या आस्वाद तत्व पहले से ही विद्यमान रहता है इसीलिए वह रस है—आस्वाद्यत्वाद्रसः' भावों में भावानुभूति की क्षमता स्वाभाविक है, अतः भावकत्व की कल्पना अनावश्यक है तथा रसानुभूति का आधार व्यंजनाशक्ति है। अतः भोजकत्व व्यापार की कल्पना भी निरर्थक है। काव्यादि के पढ़ने-सुनने से भावों की उत्पत्ति अनुमिति एवं भुक्ति नहीं होती है अपितु वे (भाव) व्यक्त होते हैं। इस प्रकार अभिनव के मतानुसार काव्य हमारी भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है। अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के ऊपर जो स्थायीभव सम्बन्धी आक्षेप किया था, उसका समाधान भी इस मत में प्रस्तुत किया है। अभिनव ने सामाजिक के हृदयस्थित स्थायीभाव को रसानुभूति का निमित्त कारण माना है, जो कि बीज रूप में (संस्कार रूप में) मानव मन में पड़े रहते हैं। ये स्थायी भाव ही साधारणीकृत होकर प्रेक्षक को ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द रस में निमग्न कर देते हैं।

उपर्युक्त चार आचार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों ने भी रस सूत्र का विवेचन किया है। ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन ने व्यंजना व्यापार को स्वीकार कर रस को व्यङ्ग्य माना है तथा विभावादि को व्यंजक माना है। आचार्य मम्मट भी इसी अभिव्यक्तिवाद के समर्थक हैं। धनंजय का

---

*काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या—

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटवतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादि व्यापारवत्त्वादलौकिक विभावादिशब्द व्यवहार्यैर्ममैवेते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवेते, न ममैवेते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्ध विशेष स्वीकार परिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् विगलित-परिमित प्रमातृभाववशोन्मिषित...शृङ्गारादिको रसः।

मत इनसे कुछ भिन्न है—उनका कहना है कि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं व्यभिचारी भावों से आस्वाद्य होकर रस रूप को ग्रहण करता है।* यह मत एक प्रकार से अभिनव गुप्त के मत का ही स्पष्टीकरण है किन्तु धनंजय आनन्द नट में ही मानते हैं, जो कि उचित नहीं है क्योंकि यदि धनंजय के मत को मान लें तो नट को भी आनन्दानुभव होने लगेगा, इस अवस्था में वह भावावेग में रंचमंच पर अव्यवस्था उत्पन्न कर देगा। आचार्य विश्वनाथ रस सिद्धान्त में यद्यपि अभिव्यक्तिवाद के समर्थक हैं किन्तु वे 'अभिव्यक्ति' का अर्थ 'परिणति' लेते हैं; उदाहरण के लिए जैसे दूध दही में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार विभावादि ही रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ के समान ही पण्डितराज जगन्नाथ भी अभिव्यक्तिवाद के पोषक हैं किन्तु इनकी दृष्टि में अज्ञान का निराकरण ही रस की चर्वणा है। 'रसो वै स:' रस का अनुभव आत्मानन्द रूप, श्रुतिग्रन्थों में आवरण अर्थात् चैतन्य के आवरण का हटना ही रसास्वाद है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त समस्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जितना अधिक वैज्ञानिक एवं ग्राह्य सिद्धान्त अभिनवगुप्त का है उतना अन्य आचार्यों का नहीं। अभिव्यक्तिवाद के अतिरिक्त अन्य सभी वाद अपने में अपूर्ण हैं क्योंकि भट्टलोल्लट ने मुख्य रूप से तटस्थ दुष्यन्त में गौण रूप से नट में रस की उत्पत्ति मानी है। सामाजिक का स्थान उपेक्षित है। द्वितीय मत मुख्यरूप से नायक में गौणरूप से नट में रस की अनुमिति को मानता है और उसी अनुमिति के द्वारा सामाजिक की रसानुभूति का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अनुमिति तो केवल परोक्ष ज्ञानस्वरूप है, साक्षरात्मक रसानुभूति की समस्या का समाधान उसके द्वारा सम्भव नहीं। अतः यह मत भी समीचीन नहीं है। भट्टनायक ने समस्या का समाधान अनुकार्य और अनुकर्त्ता को तटस्थ एवं उदासीन मानकर किया है तथा वे वास्तविक रसानुभूति सामाजिक में स्वीकार करते हैं किन्तु दो नवीन शक्तियों की कल्पना के कारण इनका मत

*धनञ्जयः दशरूपक—विभावानुभावैश्च सात्विकै र्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

भी अस्वीकार्य हुआ। अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद के द्वारा समस्या का समाधान किया है और सामाजिक के हृदय स्थित वासनात्मक रति आदि स्थायीभावों से रसनिष्पत्ति स्वीकार की है—"सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितो रत्यादि भावो रसः।"

यह रस सहृदय सामाजिक को ही आस्वाद्य है जैसा कि धर्मदत्त ने लिखा है कि—'वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासनारहित पुरुष तो नाट्यशाला में लक्कड़, दीवार और पत्थर के समान ही पड़े रहते हैं'—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्त काष्ठकुड्याश्मसन्निभः॥

(सा० द० ३।६ की वृत्ति से)

निश्चय ही रस का आस्वाद सहृदय सामाजिक को ही होता है।

अधिकांश आधुनिक काव्यशास्त्री रसनिष्पत्ति के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त की मान्यताओं से सहमत हैं।

प्रश्न ४१—साधारणीकरण का विस्तार से विवेचन कीजिए।

प्रश्न ४२—साधारणीकरण का तात्पर्य समझाइए और उसकी प्राचीन और नवीन व्याख्याओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

भारतीय काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में आलोचना का प्रमुख मानदण्ड 'रस' है, इसे काव्य की आत्मा का पद दिया गया है। रसानुभूति सामाजिक को होती है, काव्य में व्यक्त-भाव सभी सहृदयों को समान रूप से कैसे आनन्दित करते हैं? रामादि पात्रों तथा उनके भावों का पाठकों-दर्शकों से तादात्म्य कैसे हो जाता है? दर्शक या पाठक एक साथ भावविभोर कैसे हो जाते हैं? रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटक में रतिभाव सामाजिक के नहीं होते है, और शत्रु के भी नहीं होते, मित्र के भी नहीं, तटस्थ के भी नहीं, किन्तु भावानुभूति होती अवश्य है; अतः निषेध भी नहीं किया जा सकता है, किन्तु एकनिष्ठ स्वीकृति भी नहीं की जा सकती है। इसी रस विषयक समस्या के समाधान के लिए रससूत्र के प्राचीन व्याख्याकारों—भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण नामक व्यापार का निर्देश किया है। भरत के नाट्य-

शास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर सांकेतिक रूप में दिया गया है। उनका कथन है कि रति आदि भाव सामान्य गुण से युक्त होते हैं इसलिए वे रसों को उत्पन्न करते हैं—"एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते" इसका आशय यही है कि कवि या नाटककार रति आदि भावों को इस रूप में व्यक्त करता है कि वे सभी की अनुभूति के सामान्य विषय बन जाते हैं। इसी प्रकार भरत के—"स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका...आस्वादयन्ति मनसा।" लिखकर स्थायीभावों के महत्व को व्यक्त किया है।

रसनिष्पत्ति के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट ने सर्परज्जुवत्भ्रान्ति के कारण नटगत रामादिरूपानुसन्धान की कुशलता को स्वीकार कर नट में रस की उत्पत्ति मानी है। श्रीशंकुक उसकी अनुमिति में चित्रतुरगादिन्यायवत् भ्रान्ति को आवश्यक मानते हैं। किन्तु ये दोनों भ्रान्तियाँ रसनिष्पत्ति की मूलभावना को स्पष्ट नहीं कर सकीं; परिणामतः भट्टनायक ने तीन व्यापारों के माध्यम से रसनिष्पत्ति का विवेचन प्रस्तुत कर इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है। भट्टनायक ने अभिधावृत्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है।* भट्टनायक अभिधा व्यापार से अर्थतत्व का, भावकत्व से रस का और भोजकत्व से सहृदय का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। पाठक या दर्शक अभिधा व्यापार से काव्य या नाटक के साधारण अर्थ का बोध करता है। काव्यार्थ बोध के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्यगत पात्रों के अनुभावादि का साधारणीकरण होता है। इसी 'भावकत्व' की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार ने 'काव्यप्रदीप' नामक टीका में लिखा है कि—भावकत्व साधारणीकरण है। इस व्यापार के द्वारा स्थायीभाव तथा विभावादि का साधारणीकरण होता है † साधारणीकरण से उनका आशय यह है—राम

*न तटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति सतात्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।" काव्यप्रकाश ४।२७-२८।

†"विभावादि साधारणीकरणमेव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन।"

सीतादि इस व्यापार से मनुष्य और नारी सामान्य के रूप में उपस्थित होते हैं। यही नहीं इससे स्थायीभाव और अनुभाव सम्बन्ध विशेष से मुक्त हो जाते हैं —

'भावकत्वं साधारणीकरणं' तेन व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां काम-नीत्वादि सामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषान-वच्छिन्नत्वेन।" भट्टनायक के मत का आशय यह है विभावादि का साधारणी-करण होता है फलतः शकुन्तलादि आलम्बन, उद्यानादि उद्दीपन, आलिङ्गनादि अनुभाव तथा शंका, हर्ष आदि संचारी भाव अपने विशिष्ट स्वरूप का परि-त्याग कर सामान्य या साधारणीकृत रूप में प्रकट होते हैं। विभावादि का यह साधारणीकरण भावकत्व व्यापार से होता है।

अभिनवगुप्त का मत इनसे कुछ भिन्न है; अन्तर केवल इतना ही है कि वह भट्टनायक के द्वारा स्वीकृत भावकत्व एवं भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना को अनावश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ही कार्य-व्यापारों का कार्य सर्वमान्य व्यंजनावृत्ति से ही चल जाता है। ऐसी अवस्था में दो नये काव्य-व्यापारों की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है। वैसे अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के विचारों की पृष्ठभूमि में ही अपने विचार व्यक्त किये हैं जैसा भट्टनायक के मत को व्यक्त करते उन्होंने लिखा है—"निविड-निज-मोहसंक-टतानिवारणकारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावाकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।" भरत सूत्र में स्थायीभाव का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण अभिनव ने साधारणीकरण से केवल 'विभावानुभाव संचारी भाव' का साधारणीकरण न समझा जाय इसलिए स्थायीभाव का भी साधारणीकरण होता है यह स्पष्ट करते हुए लिखा है—'"सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि ...।"* अभिनवगुप्त स्थायीभाव एवं विभवादि में व्यङ्ग्य-व्यंजक सम्बन्ध मानते हैं। विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती

*काव्यप्रकाश ४।२७-२८ कारिका की व्याख्या।

है। इस क्रिया की एक उपक्रिया होती है जिसे वे विभावन व्यापार कहते हैं। इस विभाजन व्यापार के द्वारा काव्यार्थ का साधारणीकरण होता है और इस स्थिति में विभावादि ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठ जाते हैं। साधारणीकृत विभावादि के सम्वन्ध में मेरे हैं या शत्रु के हैं अथवा उदासीन के हैं, ऐसी सम्वन्ध-स्वीकृति रहती है और न मेरे नहीं है शत्रु के नहीं हैं वा उदासीन के नहीं, ऐसी सम्वन्ध की अस्वीकृति रहती है—"ममैवेते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते: न ममेवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवेते, इति सम्बन्ध विशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः।"[1]

डा० गुलावराय अभिनवगुप्त के साधारणीकरण का अर्थ—"सम्वन्धों का साधारणीकरण मानते हैं।" जिस प्रकार तर्कशास्त्र में धूम और अग्नि को साथ-साथ देखकर उस साहचर्य को देशकाल के सम्वन्ध से मुक्त करके सार्वकालिक वना लिया जाता है (यथा : जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है), उसी प्रकार साधारणीकरण में भय आदि के सम्वन्ध व्यक्ति-संबंध से मुक्त कर दिये जाते हैं तथा सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक वना लिये जाते हैं। इस विषय में अभिनवगुप्त के ये शब्द हैं : "तदेव न परिमितमेव साधारण्यमपितु विततं प्राप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भय—कम्पयोरेव वा"। अभिनवगुप्त साधारणीकरण के दो स्तर मानते हैं—प्रथम स्तर पर विभावादि व्यक्तिविशिष्ट सम्वन्ध छोड़ते हैं तथा द्वितीय स्तर पर सामाजिक का अपना व्यक्तित्व बन्धन नष्ट होता है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण के साथ-साथ पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य भी आवश्यक माना है—

> व्यापारोऽस्ति विभावादे र्नाम्नासाधारणीकृतिः।
> प्रभावा तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥
>
> (सा० द० ३।६-१०)

जो सीता आदि आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव काव्यादि में निबद्ध होते हैं, वे काव्यानुशीलन तथा नाटक दर्शन के समय श्रोता और द्रष्टाओं के

१. काव्यप्रकाश ४।२७-२८ कारिका की व्याख्या।

साथ अपने को सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं; यही साधारणीकरण है। इसी के प्रभाव से प्रमाता अनुकार्य और अनुकर्त्ता अपने को अभिन्न समझने लगता है। विश्वनाथ ने ममत्व-परत्व के परिहार के साथ सीमित शक्तिमान् का असीम के साथ अनुभूति-साम्य माना है। रसानुभूति में विभावादिकों के सम्बन्ध में—ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं, दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं, इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं होता है—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥
(सा० द० ३।१२-१३)

विश्वनाथ ने विभावन को तो भट्टनायक के समान ही माना है किन्तु अनुभावन और संचार नामक दो व्यापार विशेष माने हैं। रसादि को आस्वाद योग्य बनाना विभावन है, यही भट्टनायक का भावकत्व है, तथा विभावित रत्यादि को रस रूप में लाना अनुभावन है और इनका सम्यक् रूप से चारण किया जाना संचारण कहलाता है। निष्कर्ष रूप में—सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य विश्वनाथ को अभीष्ट है तथा उनके मत में आलम्बन, आश्रय और पाठक आदि सभी साधारणीकरण होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के मत में न तो साधारणीकरण कोई वस्तु है न किसी का किसी के साथ साधारणीकरण होता है? अपितु "सहृदय सामाजिक के मन में रङ्गमंचीय सम्पर्क से दोष उत्पन्न हो जाता है जिससे रामादि के साथ तादात्म्य कर सीता आदि के साथ वह रसमग्न हो जाता है।" पण्डित-राज के अनुसार "काव्यानुभूति भ्रमजनित है अतः साधारणीकरण पारमार्थिक रूप में हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तु सदा विशेष में रहती है। नट अपनी संकुचितता को भूल नहीं सकता; अतः तात्विक रूप में साधारणीकरण सम्भव नहीं है। यह भ्रम है और काव्य भी भ्रम ही है।" इस मत में भी प्रकारा-न्तर से विशेषकर आश्रय का साधारणीकरण है चाहे दोष या भ्रम से ही क्यों न हो, क्योंकि बिना तादात्म्य के रस की अवस्था नहीं बन पाती। पण्डितराज साधारणीकरण के विषय में विचार करते हुए लिखते हैं "यद्यपि विभावादीनां

साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारक-बोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम् ।" अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह वात दोष-विशेष की कल्पना के विना वन नहीं सकती क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के वोधक हैं, फिर कान्तान्त्वेन उनका वोध कैसे हो सकता है ? (हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ, पृ० १०५)—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है ।"

(रस-सिद्धान्त पृ० २००)

साधारणीकरण और हिन्दी के आचार्य—आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की 'मधुमती भूमिका' से जोड़ा है । मिश्र की धारणा का प्रभाव आलोचक श्यामसुन्दर दास पर पड़ा है । श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि "जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है, परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुयें हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं । उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं ।"

डाक्टर साहव के मत में परप्रत्यक्ष का दूसरा नाम ही योग की मधुमती भूमिका है । पर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ वितर्क की भावना ही नहीं रहती--शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की प्रतीति भिन्न-भिन्न नहीं होती । मधुमती भूमिका योग की जिस दशा का नाम है, साहित्य में रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है । "कवि के समान सहृदय भी जब उस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी वृत्तियाँ भी उसी प्रकार एकतान-एकलय हो जाती हैं । कवि और पाठक की चित्तवृत्तियों का एकतान, एक लय हो जाना ही साधारणीकरण है ।"

श्यामसुन्दर दास की मधुमती भूमिका पर अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं क्योंकि योग और साहित्य को समान स्तर पर देखना अनुचित है। (१) मधुमती भूमिका योग की दूसरी श्रेणी है, अन्तिम श्रेणी नहीं। योगी उससे भी आगे जाकर ईश्वर के दर्शन करता है अतः मधुमती भूमिका योग की अन्तिम स्थिति नहीं है। (२) इस स्थिति तक पहुँचने के लिए पूर्वजन्म के संस्कारों के अतिरिक्त साधना की भी आवश्यकता होती है। (३) साधारणीकरण की अवस्था मधुमती भूमिका के सदृश तो हो सकती है किन्तु मधुमती भूमिका नहीं। (४) दोनों के क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हैं।

साधारणीकरण—काव्य की भावना द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना है। किसी काव्य के पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय पाठक और दर्शक इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे स्वयं की भावना से दूर हो काव्यभावना के अनुकूल व्यवहार करते हैं। इसी दशा का नाम साधारणीकरण है। साधारणीकरण में श्रोता या पाठकगण एक साथ एक भावना का ही अनुभव करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता, कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[१] साधारणीकरण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"[२] तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।[३]

शुक्ल जी का अभिप्राय यह है कि जो भाव वर्णित हो वह विशिष्ट व्यक्ति

१-२-३ चिन्तामणि, भाग १ (१९४८) पृ० २२७, २३०

के माध्यम से आने पर भी लोक सामान्य होना चाहिए; जिससे सामाजिक उस भाव को सरलता से ग्रहण कर सके तथा आनन्द ले सके। शुक्ल जी साधारणीकरण में आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं। वे आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। शुक्ल जी ने विभाव (आलम्बन) का साधारणीकरण माना है जबकि भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने 'विभावादि' का साधारणीकरण माना है। शुक्ल जी की आश्रय-तादात्म्य सम्बन्धी विचारधारा पर विश्वनाथ का प्रभाव है। अभिनव गुप्त से प्रभावित होकर शुक्ल जी ने लिखा है कि—"व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"[१] श्यामसुन्दर दास तथा शुक्ल जी के साधारणीकरण में अन्तर यह है कि डा० दास का साधारणीकरण कवि या भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध है, जबकि शुक्ल जी का विभाव (आलम्बन) से; जो कि सबका आश्रय बन सके।

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने शुक्ल जी की विचारधारा का समर्थन किया है जब कि रामदहिन मिश्र ने आलम्बन के साधारणीकरण तथा रस कोटियों के विभाजन पर आपत्ति की है। डा० रघुवंश भी शुक्ल जी के आश्रय-तादात्म्य से असहमत हैं।

बाबू गुलाबराय के मत में पाठक के व्यक्तित्व के क्षुद्रबन्धनों को तोड़ने के कारण, कवि का लोक प्रतिनिधि होने के कारण, आलम्बन सर्वजन सुलभ सम्बन्धों में आने के कारण साधारणीकृत हो जाता है। वे नाटकीय प्रपञ्च, नाटककार और प्रेक्षक आदि सभी का साधारणीकरण आवश्यक मानते हैं।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण का प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का अध्ययन कर गम्भीर विवेचन किया है—डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के 'काव्यगत आश्रय से तादात्म्य' तथा आलम्बन या 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' इन मतों का खण्डन किया है तथा विभावादि की अपेक्षा कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है, वे इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। डा० नगेन्द्र का कथन यह है : "साधारणी-

---

१. चिन्तामणि भाग १ (१९४९) पृ० २२७, २३०।

करण का अर्थ है : कवि की अनुभूति का साधारणीकरण । कवि अपनी अनु-भूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है । अतः रस की स्थिति सहृदय के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के हृदय में मानना ।" "सहृदय को जो रसास्वादन होता है, उसकी मूलस्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अस्मिता का आस्वादन है ।" पुनः वे लिखते हैं कि "आरम्भ में रचना के समय कवि और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासनारूप में स्थित स्थायीभावों को जाग्रत करके रसदशा में पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है । इस प्रकार कविता के विषय में लोक-प्रचलित उक्ति कि 'वह हृदय से हृदय में पहुँचती है' मनोवैज्ञानिक रूप में सत्य है ।" आगे भी उन्होंने लिखा है कि—"काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है—यह काव्य-प्रसग या बिम्बशरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करनेवाली चैतन्य आत्मा है, और चूंकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणी-करण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।"*

शुक्ल जी के आश्रय के तादात्म्य की अपेक्षा कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण का सिद्धान्त अधिक समीचीन और पूर्ण है । क्योंकि कभी-कभी जैसे हास्य का आलम्बनगत चित्रण अथवा प्रकृति-चित्रण आदि स्थलों में आश्रय की स्थिति का अभाव रहता है । इन स्थलों पर शुक्ल जी ने भी कवि को आश्रय माना है; अतः कवि की 'अनुभूतियों का साधारणीकरण' यह सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत और पूर्ण है ।

किन्तु साहित्य में जब स्थायीभाव के आश्रय की स्थिति समस्त अवस्थाओं में अनिवार्य नहीं मानी जाती, वहाँ आलम्बन अथवा विभावपक्ष की सत्ता अनि-वार्य होती है । काव्य के विभाव भावना रहित जड़वस्तु मात्र नहीं हैं । किसी

*रस सिद्धान्त, पृ० २०९-२१०

किसी वस्तु या विषय को आलम्बन अथवा विभाव कहने से :कवि द्वारा अनुभूत भाव का ही आलम्बन या विभाव होता है। अतः 'आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' या 'रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण' अथवा 'कवि भावना का साधारणीकरण' भिन्न वातें नहीं हैं। कवि-भावना क्या कोई हवाई वस्तु है ? वह रस सामग्री से पृथक् कहाँ होती है ? जब रस के अवयव विभावादि भी अन्तश्चेतना से ही उद्‌बुद्ध होते हैं और वे ही रसानुभूति या काव्यानुभूति या कवि अनुभूति अथवा रस-अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं, तो उनका साधारणीकरण और कवि-अनुभूति का साधारणीकरण दो भिन्न वातें कैसे कही जा सकती हैं ? अतः शुक्ल जी के आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की वात में भी तथ्य है और समस्त रस-अवयवों के साधारणीकरण का सिद्धान्त भी उचित है, तथा कवि-अनुभूतियों के साधारणीकरण की वात भी यथार्थ है।"*

साधारणीकरण के विषय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि "कवि की अनुभूतियाँ सभी सहृदयों की अनुभूतियाँ कैसें वन जाती हैं ? कैसे सब लोगों के हृदय में एक ही तार झंकृत हो उठता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गंध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं वढ़ पाए हैं।'†

निष्कर्ष यह है कि नाटच या काव्य के समस्त कार्य-व्यापार का ही साधारणीकरण होता है; जो वर्तमान में कवि की सृष्टि है। मनोवैज्ञानिक

---

*डॉ० कृष्णदेव झारी :
भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० २२८

†डॉ० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, पृ० २११

दृष्टि से सहानुभूति के कारण भाषा के वैज्ञानिक कल्पना प्रयोग के कारण इस साधारणीकरण को जन्म मिलता है।

प्रश्न : ४३—रस की मैत्री और विरोध को स्पष्ट कीजिए।

रस परस्पर मित्र एवं शत्रु हैं, इसका प्रतिपादन हमारे प्राचीन आचार्यों ने किया है। भरत ने तो मूलतः चार रस मानकर उन्हीं से अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी है। भरत के अनुसार शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों की उत्पत्ति होती है। इसके कारण का उल्लेख करते हुए नाटचशास्त्रकार ने लिखा है कि 'शृङ्गार की अनुकृति ही हास्य में परिवर्तित हो जाती है; रौद्र का कर्म ही करुण, और वीर का कर्म ही अद्भुत परिणामी होती है। वीभत्स दिखायी देने वाली वस्तु से ही भयानक का उत्पादन होता है।' भरत के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए श्री आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि 'शृङ्गार-रस की सुखदता ही हास्य में वर्त्तमान है। विकृत वेष-भूषा प्रणय को मृदुल व्यापार वाला वना देती है। साथ ही इस प्रकार की वेष-भूषा वाले विदूषक को देखकर मनःप्रमोद वढ़ जाता है, आनन्द की एक रेखा खिंच जाती है। प्रसन्नता अमोद-प्रमोद और भोगविलास की ओर प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार अद्भुत रस वीर-रस का अनुगामी वनकर अधिक भाव उत्पन्न करता है,। वीर का उपकार करता है। भयानक का सम्वन्ध वीभत्स से है और करुण का मेल रौद्र से है। राक्षसीवृत्ति से हम भय ही खाते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न विस्मय भय से दवा रहता है, किन्तु वीर व्यक्ति के उत्साह और साहसपूर्ण अद्भुत कृत्य को देखकर हमें एक प्रकार की प्रफुल्लता का अनुभव होता है। ऐसी अवस्था में उत्साह का पोषण होता है। रौद्र तथा करुण का सम्वन्ध इसलिए है कि रौद्र कर्म का परिणाम है अनिष्ट। अनिष्ट शोक उत्पन्न करके करुण को सवल वनाता है। साथ ही जितना ही करुण दृश्य उपस्थित होता है, वह उतना ही अनिष्टकारक कर्म की रुद्रता को प्रकट करता है। अतः करुण रौद्र का उपकारक है।'* इस प्रकार रसों में पारस्परिक सम्वन्ध है।

---

*भारतीय काव्यशास्त्र पृ० २५८

इस सम्बन्ध के आधार पर ही रस-मैत्री और रस-विरोध पर विचार किया गया है।

रस-मैत्री एवं विरोध—प्राचीन विद्वानों[१] ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और उनके आधार पर इस सारिणी द्वारा मैत्री एवं विरोध का स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

रस	मित्र-रस	शत्रु-रस
शृङ्गार	हास्य	वीभत्स
हास्य	शृङ्गार	करुण
रौद्र	करुण	अद्भुत
करुण	रौद्र	हास्य
वीर	अद्भुत	भयानक
भयानक	करुण	वीर
अद्भुत	वीर	रौद्र
वीभत्स	भयानक	शृङ्गार

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने रस-विरोध के पाँच कारण* बतलाये हैं, वे निम्न हैं—(१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना, रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना, (३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना, (४) रस पूर्ण परिपाक हो जाने पर भी पुनः पुनः उसका उद्दीपन करना (५) और व्यवहार का अनौचित्य। इन रस दोषों का विस्तार से वर्णन मम्मट ने काव्य प्रकाश (७।६०-६२) में किया है। वहाँ

१. ध्वन्यालोक ३।१८-१६ : विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ।१८
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ।।१६

२. साहित्यदर्पण ३।२५४—२५७,

मम्मट ने तेरह रस दोष बतलाये हैं। आनन्दवर्धन ने रस विरोध के तीन कारण बतलाये हैं—(१) आलम्बन का ऐक्य, जैसे—वीर और शृङ्गार का; हास्य, रौद्र और वीभत्स के साथ सम्भोग श्रृंगार का और वीर, करुण तथा रौद्रादि के साथ वियोग श्रृंगार का विरोध आलम्बन की एकता के कारण होता है। (२) आश्रय की एकता के कारण वीर और भयानक के वर्णन से विरोध होता है। (३) नैरन्तर्य तथा विभाव की एकता के कारण शान्त और शृङ्गार रस में विरोध होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विरोध रसों का एक साथ वर्णन होना ही नहीं चाहिए, यह वर्णन उस समय हो सकता है जब एक रस पूर्णतः परिपुष्ट हो जाये।

आचार्य मम्मट ने इस रस-विरोध के परिहार के कारणों का भी विवेचन किया है—(१) मम्मट के अनुसार जहाँ पर आश्रय या आलम्बन दो रसों का एक ही हो, उस स्थल पर एक का आश्रय परिवर्तित कर देना चाहिए और यदि नैरन्तर्य के कारण दो रसों में विरोध हो उस दशा में दो रसों के मध्य में एक अन्य रस की योजना कर देनी चाहिए।* उदाहरण के लिए वीर और भयानक रसों का यदि आश्रय एक हो, उस स्थल पर प्रतिपक्ष की ओर से भयानक रस की योजना कर देनी चाहिए। नैरन्तर्य रस-विरोध के परिहार का नागानन्द नाटक में उदाहरण देखा जा सकता है। शान्त रस-प्रधान नायक जीमूतवाहन तथा रतिभावपूर्ण मलयवती प्रसंग से पूर्व ही 'अहा गान, अहा वादन' आदि विस्मयजनक अद्भुत रस की योजना कर रस-विरोध का परिहार कर दिया गया है।

रस-विरोध के परिहार का एक अन्य उपाय भी आचार्य मम्मट ने बतलाया है—यदि परस्पर विरुद्ध रसों में एक रस स्मरण से निबद्ध किया जाता है अथवा जो विरोध रसों में एक साम्य भाव से निर्दिष्ट किया जाय तो वहाँ रस-दोष नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि दो विरुद्ध रस अन्य प्रधान

---

१. काव्यप्रकाश ७।६४

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।

रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥

रस के अंग रूप में उपकारक रूप में निबद्ध हों तो भी रस दोष की सम्भावना नहीं रहती है।* इस प्रकार विरुद्ध रसों का तीन अवस्थाओं में अविरोध हो जाया करता है—(१) यदि प्रधान रस के साथ कोई विरोधी रस स्मृति रूप में निवद्ध हो, (२) साम्यभाव से कथित हो अथवा विरोधी रस किसी अन्य प्रधान रस का उपकारक हो।

इस विरोध तथा उसके परिहार के उपायों के निर्देश का एक मात्र उद्देश्य यह है कि काव्य में औचित्य का ध्यान रखा जाय तथा रसनिष्पत्ति निर्दिष्ट रूप में निष्पन्न हो।

प्रश्न ४४—प्राचीन आचार्यों के अनुसार रस की अलौकिकता को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

क्या रस अलौकिक है। स्पष्ट उत्तर दीजिए।

किसी भी भावप्रधान तथा नेत्रेन्द्रिय वाह्य तत्व का विवेचन तथा लक्षण निर्धारित करना सम्भव नहीं है। अतः भावात्मक पदार्थों की व्याख्या ही सम्भव है और यह व्याख्या 'नेति नेति' की प्रक्रिया द्वारा ही हो सकती है। और अन्ततः जिज्ञासा के समाधान के लिए आप्तवाक्य पर विश्वास करना पड़ता है। रस भी एक ऐसा ही भारतीय काव्यशास्त्र का तत्व है, जिसका स्वरूप सदा ही विवादास्पद रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस को वेद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदर अखण्ड, चिन्मय, स्वयंप्रकाश तथा अलौकिक कहा है।†

आचार्य अभिनवगुप्त ने लौकिक पदार्थों अथवा विषयों की सीमा में आबद्ध न होने वाले इस तत्व को अलौकिक कहा था। अभिनव नाट्यशास्त्र के आधार पर स्पष्ट करते हैं कि "रस-चर्वणा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से तथा योगिप्रत्यक्ष से होने वाले तटस्थ

---

*काव्यप्रकाश ७।६५ :

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।

†साहित्यदर्पण ३।२-३

पर संवेदनात्मक ज्ञान से, एवं समस्त विषयों के प्रति वैराग्ययुक्त परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव से भिन्न प्रकार की होती है-- "सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपर संवितिज्ञानात् सकल वैषयिकोपरागशून्य शुद्धपरयोगि-गतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।"—अभिनवभारती। आचार्य मम्मट ने अभिनव के अनुसार रस की अलौकिकता का निरूपण विस्तार से किया है तथा अनेक तर्कों द्वारा रस को अलौकिक सिद्ध भी किया है। उनका कथन है कि संसार में दो प्रकार के अनित्य पदार्थ होते हैं जिन्हें कार्यरूप और ज्ञाप्यरूप कहा जा सकता है। कार्यपदार्थ के अन्तर्गत घट, पट आदि का समावेश होता है—जो कि किसी कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः किसी कारण से उत्पन्न होनेवाला तत्व 'कार्य' कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के पदार्थ 'ज्ञाप्य' कह-लाते हैं। ये ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं जैसे प्रकाश में घट का ज्ञान। अर्थात् पूर्वसिद्ध पदार्थ का किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है, वह पूर्वसिद्ध पदार्थ ज्ञाप्य कहलाता है तथा जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं तथा कारणव्यापार-जन्य है वह 'कार्य' पदार्थ कहलाता है। संसार के समस्त अनित्य पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में आ जाते हैं किन्तु 'रस' इन वर्गों में समाहित नहीं होता है; अतः वह न तो 'कार्य' माना जा सकता है और न ज्ञाप्य ही—स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गाद् नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्-अपि-विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः।* अर्थात् रस कार्य नहीं है क्योंकि विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस की स्थिति बनी रहेगी (ऐसा होता नहीं है) रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि रस के अनुभव से पूर्व उसकी सत्ता न होने के कारण अपितु केवल आस्वादन काल में ही विद्यमान रहता है।

रस 'कार्य' नहीं है क्योंकि कार्य पदार्थ कारणजन्य होने के कारण अपने कारण के न रहने पर भी विद्यमान रहता है किन्तु रस इस स्थिति में नहीं रहता है अर्थात् विभावादि के न रहने पर रस की स्थिति नहीं रहती है। रस

---

*काव्यप्रकाश, ४।२७-२८ वृत्ति

'ज्ञाप्य' भी नहीं है क्योंकि 'ज्ञाप्य' पदार्थ अपने ज्ञान से पूर्व भी विद्यमान रहता है और ज्ञान के पश्चात् भी उसकी सत्ता रहती है किन्तु रस न तो रस-निष्पत्ति से पूर्व की वस्तु है और न वाद की ही। वह तो अवसर विशेष पर ही अनुभूतिगम्य है। इस प्रकार 'कार्य' एवं ज्ञाप्य हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि रस इन दोनों ही पदार्थों के अन्तर्गत नहीं आता है अतः रस अलौकिक है।

रस को अलौकिक सिद्ध करने की मम्मट की दूसरी युक्ति यह है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। किन्तु विभावादि से व्यक्त होने पर—विभावादि रस के कारण हैं और रस उनका कार्य। इस प्रकार कार्य-कारण संबंध बन जाने पर रस लौकिक सिद्ध हो जाता है। इस आशंका का समाधान करते हुए मम्मट लिखते हैं—

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्वदृष्टमितिचेद् न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्व-सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्यनिष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्।* अर्थात् रस एक अलौकिक वस्तु है जिसका न तो विभावादि को कारक हेतु माना जा सकता है और न ही ज्ञापक हेतु। और जब विभावादि को कारक एवं ज्ञापक हेतु नहीं माना जा सकता है तब फिर हेतुओं के अभाव होने के कारण रस की लौकिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यह हेतु रस की अलौकिकता के निरूपण में दोष न होकर गुण ही है। चर्वणा अर्थात् आस्वाद के कारण रस उपचार से 'कार्य' कहा जाता है।

रस की अलौकिकता के निरूपण के लिए अन्य हेतु यह भी है कि रस की अनुभूति सांसारिक अनुभूतियों से विलक्षण तथा स्वसंवेदनशील है। यह संवेदनशीलता भी सांसारिक अनुभूतियों से विलक्षण है। हम लौकिक प्रत्यक्ष-ज्ञान को तीन भागों में बाँट सकते हैं किंतु रसानुभूति तीनों ही (१) लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतुओं से भिन्न, (२) प्रत्यक्षादिप्रमाण की अपेक्षा किये बिना ज्ञान प्राप्त करने वाले मितयोगियों के ज्ञान तथा (३) अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित आत्ममात्र विषयक 'युक्त' संज्ञक योगियों की अनुभूति से विलक्षण, स्वसंवेदनशील है अतः वह ज्ञेय या ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है—"लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान-वेद्यान्तर संस्पर्शरहितस्वा-

---

*काव्य प्रकाश ४।२७-२८ वृत्ति

त्समात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तर स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽभिधीयताम् ।*" अर्थात् साधारण मनुष्यगम्य लौकिक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता से होता है शेष ज्ञान योगियों का समाधिविषयक ज्ञान है किंतु रस की अनुभूति न तो प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दगम्य है और न सविकल्पक समाधिनिष्ठ योगी का ही ज्ञान है और न ही निर्विकल्प समाधिनिष्ठ आत्मानुभूति मात्र ही है। इस प्रकार यह विलक्षण, अलौकिक तथा स्वसंवेदन का विषय है, इसलिए इसे उपचार से ज्ञेय या ज्ञाप्य (प्रत्येय) भी कहा जा सकता है।

मम्मट एक अन्य युक्ति देकर इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जब रस का ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है और न निर्विकल्पक ज्ञान से ही तब तो निश्चय ही वह अलौकिक है—

"तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् ।†"

वैदिक दर्शन में सविकल्पक एवं निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। सांसारिक घटपटादि का ज्ञान सविकल्पक है। वह शब्द-व्यवहार के द्वारा सभी को ज्ञात होता रहता है किन्तु रस केवल अनुभूति का विषय है। वह शब्द के उच्चारण से उत्पन्न नहीं होता है; अतः नामजात्यादियोजनाहीन रस होता है। इसलिए रस सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

नाम जाति आदि के विशिष्टविशेषण आदि से रहित ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह ज्ञान बालक अथवा गूँगे मनुष्य के ज्ञान के समान ही होता है—'बालमूकादिविज्ञानसदृशं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'। बालक को वस्तुविशेष का ज्ञान नाम-जाति आदि के बिना ही यह कोई चीज है। इस रूप में होता रहता है, इस प्रकार से 'गूँगे' का भी ज्ञान होता है। गूँगा अनुभव तो करता है किंतु वह उसका नाम आदि लेकर अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। 'रस' इन दोनों ही ज्ञान (सविकल्पक एवं निर्विकल्पक) से भिन्न है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान नाम, जाति आदि से युक्त होता है किन्तु 'रस' इस प्रकार का नहीं है; क्योंकि यदि

*काव्यप्रकाश ४।२७-२८ वृत्ति

†वही, ४।२७-२८ वृत्ति

'रस' इस शब्द के द्वारा हम रसानुभूति करना चाहें तो वह सम्भव नहीं है। रस तो आनन्दमय स्वसंवेदनशील है। दूसरी ओर 'रस' निर्विकल्पक-ज्ञान-गम्य इसलिए नहीं है क्योंकि रस की प्रतीति में विभावादि की प्रधानता रहती है। इनके अभाव में उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार सविकल्पक एवं निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न रस अलौकिक है—उभयाभावस्वरूपस्यचोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। अर्थात् उभयाभावस्वरूप-निर्विकल्पक ज्ञान दोनों से भिन्न होनेवाले रससंवेदन में उभयात्मकता भी पहले की (कारक-ज्ञापक) तरह उसकी अलौकिकता को प्रकट करती है, विरोध को नहीं। अभिनवगुप्त का आशय यही है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में भी रस को अलौकिक बतलाते हुए लिखा है कि "सत्वोद्रेक की स्थिति में अनुभव होता है अतः रस अलौकिक है। वह अखण्ड-स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है अतः ब्रह्मास्वादसहोदर है। वह अन्य सभी तरह के लौकिक ज्ञान से मुक्त होता है, वह लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। अलौकिक विभावादि के कारण भी वह अलौकिक है। सहृदयों को दुःख से असंभिन्न आनन्द प्रदान करने के कारण अलौकिक है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[1]

रस की विशद व्याख्या होने पर भी काव्यशास्त्रियों की इसके सम्बन्ध में जिज्ञासा शान्त नहीं हुई; अतः प्राचीन आचार्यों ने रस को अनिर्वचनीय कहकर एक प्रकार से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है किन्तु आधुनिक युग के काव्यशास्त्रियों ने पुनः इसका सर्वेक्षण कर नयी-नयी मान्यताओं को स्थापित किया है।

---

१. साहित्य दर्पण ३।२७-२८

प्रश्न—रस एवं रससिद्धान्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : काव्य में रस के महत्व के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो काव्य का प्राण है। आलंकारिकों ने रस की सत्ता का विरोध करते हुए भी रसवदादि अलंकारों के रूप में इसे स्वीकार किया है। इसका भी एक कारण यह है कि काव्य में रस की वह प्रारम्भिक अवस्था थी इसलिए आलंकारिक भामह ने स्पष्ट लिखा है कि 'जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गवद्धता, शब्द एवं अर्थसौष्ठव, पंचसंधियों का गठन तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग आवश्यक है उसी प्रकार सकल रसों का समावेश भी अनिवार्य है'—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्[1] इस प्रकार अप्रत्यक्षतः रस की महत्ता को भामह ने स्वीकार किया। आचार्य दण्डी भी रस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं हैं किन्तु वे 'प्रत्येक अलंकार अर्थ में रससिंचन की क्षमता रखता है, 'कमं सर्वोऽप्यलंकारो रसं अर्थे निषिञ्चति' काव्य का सर्वस्व अलकार स्वीकार करते हुए भी रस को अस्वीकार नहीं करते। आचार्य रुद्रट भी इसी परम्परा के पोषक हैं किन्तु इन्होंने "तस्मात् कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैयुक्तम्" लिखकर काव्य में यत्नपूर्वक रस की प्रतिष्ठा करने का आदेश दिया है। आचार्य वामन गुणवादी हैं किन्तु समस्त गुणों के मूल में दीप्ति तत्व के रूप में रस को स्वीकार करते हैं—"दीप्तिरसत्वेन कांतिः" भोज-राज के यहाँ भी अलंकार एवं वक्रोक्ति का ही बोलवाला था फिर भी उन्होंने रसोक्ति को काव्य में सर्वाधिक महत्व दिया है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयः।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानीते॥"

यह तो रही, अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों की वात। इन आचार्यों से पूर्व अग्निपुराणकार ने भी बहुत ही स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य का प्राण स्वीकार किया था। उनका कहना है—"वाग्वैदग्ध प्रधानेऽपि रस एवात्र-जीवितम्।" आगे चलकर अधिकांश आचार्यों ने रस के महत्व को स्वीकार किया है। ध्वनितत्व जो परवर्त्ती काल में व्यापक सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुआ, वह भी रस की प्रधानता स्वीकार करता है। रसध्वनि के रूप में तो रस को

१. काव्यालंकार १।२१

ध्वनि काव्य माना ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया।—

काव्यास्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

यही नहीं, अभिधावादी भट्टनायक आदि भी रस को महत्व देते हैं और व्यंजनावादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त भी। रस और ध्वनि तत्व के प्रतिष्ठाता आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ का तो कहना ही क्या। इनकी दृष्टि में रस काव्य का सर्वस्व है। इनके काव्य-लक्षणों तक में इनकी ध्वनि गूंजती है। वाग्भट्ट और जयदेव 'रसोपेतम् तथा 'रसानेक' युक्त काव्य को महत्वपूर्ण मानते हैं। आशय यह है कि रस की महत्ता संस्कृत काव्य शास्त्र तथा साहित्य में अपरिच्छिन्न रूप से स्वीकृत है।

हिन्दी के आचार्य—हिन्दी के आचार्यों ने रस को काव्य का प्रधान तत्व माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में मानते हैं और काव्य उसी के लिए हुआ शब्द विधान है। रससिद्धान्त को केवल पूर्णतः निष्पन्न रस के रूप में ही स्वीकार न करके भावमात्र के प्रतिपादन तक इनका विस्तार मानने से कुछ विद्वान् ऐसा ही अनुभव करते हैं कि 'काव्य का यह अनिवार्य तत्व है और उसकी आत्मा के रूप में समस्त प्रकार के काव्यों में व्याप्त है।

डा० नगेन्द्र ने रससिद्धान्त विषयक विभिन्न आक्षेपों का निराकरण करते हुए लिखा है कि "उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान के पश्चात् रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा अनायास ही हो जाती है। शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव-चेतना की मूलवृत्ति—राग—को धुरी बनाकर यह अन्य सभी प्रमुख तत्वों को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अतः जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य है जिसमें विभिन्नवादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं।...जीवन की भूमिका

में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता—और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।"*

निःसन्देह रससिद्धान्त भारतीय आलोचना का महत्वपूर्ण मानदण्ड है। भारतीय समीक्षा क्षेत्र में इसे जितना महत्व मिला है उतना अन्य किसी काव्य शास्त्रीय तत्व को नहीं। सहस्रों वर्षों की दीर्घ जीवन यात्रा करने के पश्चात् भी आज वह अक्षुण्ण है। विश्व के समीक्षा-इतिहास में इस तत्व का अपना महत्व है। इसके समान वैज्ञानिक एवं मौलिक अन्य आलोचना का मानदण्ड नहीं। अन्य देशों के समीक्षाशास्त्र में इस तत्व को विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है। इन सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अरस्तू का विरेचन सिद्धांत है। यह 'विरेचन शब्द चिकित्साशास्त्रीय है। अरस्तू के व्याख्याकार प्रो० बूचर ने इसके कलापरक अर्थ का अत्यन्त आग्रह से प्रकाशन किया है। तथा विरेचन शब्द से कलाजन्य आस्वाद का अर्थ भी लिया गया। परन्तु क्या यह आस्वाद विरेचन के अन्तर्गत आता है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "हमारा मत है कलास्वाद का साधक तो अवश्य है समंजित मन, कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है। परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना न्याय नहीं है। यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके संबंध से उत्पन्न मन शान्ति तक ही सीमित है। विरेचन शब्द से मन की यह विशदता अभिप्रेत है।' जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों के समजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।"† रस एवं विरेचन सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हम कह सकते हैं कि "रस का परिपाक सत्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है अर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और

---

*रससिद्धान्त, पृ० ३६३

†भारतीय नाट्य-सिद्धान्त, पृ० १८७

तमोगुण तिरोहित हो जाते हैं और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है, इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-विकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नहीं है। यह शब्दावली भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है, वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नहीं है। परन्तु शब्द-भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नहीं रह जाता है। अभिनव का सत्वोद्रेक वास्तव में अरस्तू के 'विरेचन,' रिचर्ड्स के अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित हृदय की मुक्तावस्था से बहुत भिन्न नहीं है। भेद केवल विचार पद्धति का है; अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है, रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की, शुक्लजी ने आलोचना शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र) की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरांत सत्व का भाव शेष रहना अरस्तू के शब्दों में "कटु भावों का रेचन और तज्जन्य मनःशान्ति ही तो है। अन्तर केवल 'उद्रेक' शब्द पर आश्रित है।"[1] आशय यह है कि अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। प्रकारान्तर से रस-सिद्धान्त में विरेचन सिद्धान्त अन्तर्भूत है।

रससिद्धान्त का मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाज-आदि की दृष्टि से महत्व है। मनोविज्ञान के **Sentiment** तथा **Emotion** रससिद्धान्त के स्थायीभाव और संचारीभाव हैं। मनोवैज्ञानिकों ने 'सेन्टीमेंट' और 'इमोशन' का जैसा विवेचन किया है लगभग वैसा ही विवेचन हमारे आचार्यों ने स्थायीभाव और संचारीभाव का किया है। आशय यह है कि रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव और संचारी भाव का विवेचन मनोविज्ञान के अनुकूल है।

दर्शनशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर भी रससिद्धान्त का महत्व स्पष्ट है—"शुद्धाद्वैत के अनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीन गुणों—सत्, चित् और आनंद से युक्त होता है, किन्तु जीवन का आनन्दगुण तिरोहित रहता है।

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ, भारतीय नाट्यशास्त्र, पृ० १६४

काव्य और कलाओं के द्वारा इसी आनंद को जाग्रत किया जाता है। रस सिद्धान्त भी काव्य का यही लक्ष्य स्वीकार करता है। अद्वैतवादी के अनुसार मानव आत्मा माया के आवरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का अनुभव करती है, जब कि मूलतः सभी रूप एक ही परम सत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस आवरण को भूलकर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ भी शब्दान्तर से इसी बात को स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही ज्ञानदशा है तथा हृदय की मुक्तावस्था का नाम रसदशा है।"

साहित्य की दृष्टि से यदि हम विचार करें, काव्य का प्रमुख तत्व भाव है, भाव के कारण ही काव्य का अस्तित्व है। रससिद्धान्त इसी भावतत्व की व्याख्या करता है। समाज की दृष्टि से यदि विचार करें तो हम कह सकते हैं कि काव्यानन्द कलाकार के लिए न होकर सामाजिक के लिए है।

आशय यही है कि रससिद्धान्त एक ऐसा काव्यसमीक्षा का मानदण्ड है, जो व्यापक है, गतिशील है तथा युग-युग तक वह समीक्षा का आधार बन सकता है।

प्रश्न ४६—'करुण रस का आस्वाद' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

करुण रस का आस्वाद सुखात्मक है या दुःखात्मक। यह प्रश्न विवादास्पद है। दुःख से आनन्द की उपलब्धि कैसे होती है ? क्योंकि प्रत्यक्षतः करुण से दुःख की अनुभूति होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को आनन्दात्मक माना है, अतः भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस की निष्पत्ति से आनन्द की उपलब्धि सिद्धान्तः स्वीकार की गई है। यही नहीं, इस रस के महत्व की भूरिशः उद्घोषणायें हुई हैं। वाल्मीकि के काव्य की उत्पत्ति का आधार करुणा है, यही करुण और इसका स्थायीभाव शोक ही—

शोकः श्लोकत्वमागतः" का काव्य रूप धारण करता है। इसकी व्यापकता का इतना विस्तार हुआ कि शृंङ्गारादि रसों को इसकी परिधि में समेटने का

प्रयास हुआ है। इसका सर्वाधिक श्रेय उत्तररामचरित नाटक के लेखक भवभूति को प्राप्त है। भवभूति ने काव्य में करुण रस के महत्व की मुक्तकंठ से उद्घोषणा की है। उनके नाटक का पर्यवसान भी सुखान्त है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुद् तरंगमयान्विकारानम्भो
यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥[१]

यह भी निस्सन्देह सच है कि—"मानव-हृदय को सुख की अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, कदाचित् इसी आधार पर उक्त स्थापना की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।"

करुण रस के आस्वाद का प्रश्न पुरातन है। इधर पाश्चात्य नाटकों में ट्रेजिडी की समस्या तथा ग्रीक काव्यशास्त्रियों की मान्यतायें भी इस विवाद के मूल में देखी जा सकती हैं। करुण ही दशा अन्य रसों के आस्वाद के विषय में भी काव्यशास्त्रियों में मतभेद है। इस विषय में सात विकल्पों का निर्देश डा० रामदत्त भारद्वाज ने किया है—

१—सभी रस सुखात्मक होते हैं।

२—सभी रस दुःखात्मक होते हैं।

३—सभी रस सुखात्मक एवं दुःखात्मक होते हैं।

४—सभी रस सुख-दुःख से परे होते हैं।

५—सभी रस वैविध्यपूर्ण अनुभव होते हैं।

६—कुछ रस सुखात्मक और कुछ दुःखात्मक होते हैं।

७—कुछ रस सुखात्मक होते हैं परन्तु कुछ सुख-दुःखात्मक।

आनन्दवर्धन ने करुण रस में माधुर्य एवं आर्द्रता की स्थिति मानकर शृङ्गार और विप्रलम्भ से उत्तरोत्तर उत्कर्ष युक्त मानते हुए लिखा है कि—

१. उ० रा० ३।४७

श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति ततस्तत्राधिकं मनः ।।[१]

आनन्दवर्धन का यह कथन सिद्ध करता है कि वे करुण रस को श्रृङ्गार से भी अधिक आनन्ददायक मानते हैं। भुक्तिवाद के प्रतिपादक भट्टनायक रस-दशा में सत्वोद्रेक होने से भावक के लिए भाव के क्षेत्र में 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है, परिणामतः भाव के सात्विक आस्वादन से आनन्द की उपलब्धि होती है—इस विचार का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि—

"भावकत्वं साधारणीकरणम्। ते हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीतादि विशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषाऽनवच्छिन्नत्वेन।" भट्टनायक की यह मान्यता करुण रस पर भी पूर्णतः चरितार्थ होती है।

मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' में करुण आदि दुःखात्मक रसों में शुद्ध सत्व की स्थिति स्वीकार न कर उनमें तारतम्य स्थापित किया है। उनकी मान्यता है कि सतोगुण उद्रेकशून्य होता है, जबकि शोक और क्रोध में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है। इसीलिए इनमें न्यूनाधिक उद्रेक अवश्य रहता है। इसी कारण रौद्र रस और उत्पन्न करुण रस विशुद्ध आनन्द की सृष्टि कर सकते हैं। लेकिन वे इसी के साथ अनुभूति के लौकिक और अलौकिक रूप को भी स्वीकार करते हैं, जो कि रस सिद्धान्त और आनन्दवाद का मूल आधार है। मधुसूदन सरस्वती का कथन इस प्रकार है—

"द्रवीभावस्य च सर्वधर्मत्वात् तं विना च स्थायी भावासंभवात् सत्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोसंश्रिणात् तारतम्यं अवगन्तव्यम्। अतो नं सर्वेषु तुल्यसुखानुभवाः।"

अभिनवगुप्त ने रसदशा की अलौकिक अनुभूति और उसके वैलक्षण्य का

१. ध्वन्यालोक २।८

विवेचन करने के वाद हृदय की मुक्तदशा से आनन्द की प्राप्ति स्वीकार की है' यह आनन्दावस्था अनिवार्यतः प्रत्येक रस में रहती है अन्यथा रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं है। इसके साथ ही वे रस का स्वभाव सुखदुःखात्मक भी स्वीकार करते हैं-

येनत्वभ्यधायि सुख-दुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री वाह्यैव सांख्यदशा सुखदुःख स्वभावो रसः।"

आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से सचेतस् व्यक्ति ही करुण रस की ओर आकृष्ट होते हैं, अन्य नहीं। विश्वनाथ करुण रस को सुखात्मक मानते हैं। उनके निम्न तर्क हैं—'सहृदय व्यक्ति करुण रस के प्रसङ्ग को देखता है, पढ़ता है और उसका आनन्द लेता है। यदि उसमें आनन्द की प्राप्ति न होती, तो उसे कोई पढ़ता ही नहीं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥[1]

यही नहीं, विश्वनाथ के अनुसार काव्य में दुःखद कारणों से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, यदि उनको दुःख की प्राप्ति होती तो कोई भी उसकी ओर उन्मुख न होता—"किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥३।५

विश्वनाथ यह भी तर्क देते हैं कि यदि करुण रस को दुःख का हेतु माना ही जायगा, तो, करुणरस-प्रधान रामायण आदि ग्रन्थ भी दुःख के हेतु मानने पड़ेंगे—

"तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।" सबसे बड़ी बात यह है कि काव्य में वर्णित विभावादि लौकिक जगत् के कारणों से भिन्न और विलक्षण होते हैं।[2]

---

१. सा० द० ३।११

२. सा० द० ३।६-७-८; हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

विश्वनाथ का एक अन्य तर्क यह है कि "करुण रस के आस्वादन से जो अश्रुपातादि होते हैं, उनका कारण करुणरस का दुःखात्मक स्वरूप न होकर हृदय को द्रवणशीलता है। यह द्रवणशीलता आनन्द में भी प्राप्त होती है, अतः उसे दुःखात्मक नहीं माना जा सकता है—

"अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।"

अब प्रश्न यह भी है कि आनन्दात्मक अनुभूति सभी को क्यों नहीं होती है। इसका उत्तर यह है कि 'वासनासंस्कार विशेष के विना रस का आस्वाद नहीं होता है—"न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।" अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में विश्वनाथ धर्मदत्त का उद्धरण भी उद्धृत करते हैं। जिसका आशय यह है कि—'वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासना रहित पुरुष तो नाट्यशाला में लक्कड़, दीवार और पत्थरों के समान ही पड़े रहते हैं।"[1] आशय यह है कि विश्वनाथ कविराज करुण रस का आस्वाद आनन्दात्मक मानते हैं।

धनजंय ने करुण रस को दुःखात्मक मानकर उसकी आनन्दात्मकता पर विचार किया है। रसिकजन उसमें उत्तरोत्तर आनन्द की अनुभूति करते हैं। यह तथ्य करुणरस के आनन्दात्मक स्वरूप को ही व्यक्त करता है। यदि ऐसा न होता तो अर्थात् वह दुःखात्मक होता तो, उसकी ओर कोई आकृष्ट न होता,[2] किन्तु रसिक पाठक आकृष्ट होते हैं, अतः वह सुखात्मक ही है।

भोज ने धनंजय और विश्वनाथ के आधार पर ही अपनी मान्यता स्थापित करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार नखक्षतादि कष्टदायक होते हुए भी रति-प्रसंग में सुखदायक होते हैं क्योंकि वे नारी में रोमांच को उत्पन्न कर आनन्द

---

१. सा० द० ३।८ की वृत्ति से उद्धृत—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः।

२. दशरूपक धनिक की व्याख्या ४।४४-४५—अत्रोत्तरोत्तर रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत ॥

को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार करुणरस में भी दुःखद वस्तुयें सुख को उत्पन्न करती हैं।[1]

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक को दुःखात्मक माना है—"करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मनः।"

किन्तु उनका यह कथन सिद्धान्त वाक्य नहीं है, क्योंकि वे रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं—"सुखदुःखात्मनोरसः" फिर भी करुणरस के दुःख-वादी पक्ष को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क देते हैं—

"प्रथमतः करुण, भयानक आदि रसों के द्वारा सहृदयों में दुःखद दशा उत्पन्न होती है। सीता के हरण से अथवा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या-विलाप से किसी सहृदय को सुख नहीं पहुँचता। द्वितीयतः काव्य में लौकिक व्यवहार का यथार्थ चित्रण होता है अर्थात् सुखों का वर्णन सुख रूप में और दुःखों का दुःख रूप में होता है। यदि दुःखात्मक चित्रण से प्रेक्षक को आनन्द प्राप्त होता है तो क्या वह चित्रण वास्तविक समझा जाना चाहिए। दुःखात्मक चित्रण से तो दुःख ही उत्पन्न होता है। तृतीयतः रस को सुखात्मक मानने वाले ऐसा समझते हैं कि जिस प्रकार किसी दुःखी व्यक्ति को अन्य दुःखी व्यक्ति से मिलकर सात्वना मिलती है, उसी प्रकार नाटक के करुण, बीभत्स आदि रसों से सुख की प्राप्ति होती है, दुःख की नहीं। इस तर्क का खण्डन करते हुए रामचन्द्र गुणचन्द्र कहते हैं कि करुण दृश्य को देखकर प्रेक्षक की सहानुभूति दुःखपूर्ण ही होती है। चतुर्थतः यद्यपि करुण, रौद्र, बीभत्स, और भयानक रस से दुःख ही होता है, तथापि सहृदय को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह केवल कवि या नट के चमत्कार से।"[2]

---

१. शृंगार प्रकाश, पृष्ठ ४६६—

दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य बल्लभो भवति।
दयित नखदूयमानयो वर्धतेस्तनयो रोमांचः॥

२. रामदत्त भारद्वाज : काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ११८।

"इस प्रकार नाटकादि में लोकवृत्त का अनुकरण करने वाला कवि अपनी कुशलता से सुख-दुःखात्मक अनुभूति कराता है, किन्तु सुखात्मक अनुभूति दुःखात्मक अनुभूति से प्रबल होती है, इसलिए सामाजिक दुःख में भी सुख का अनुभव करता है, यह स्थिति ठीक प्रपाणक रस (पना) के समान तीक्ष्ण आस्वाद होने पर भी सुखात्मक होती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने इस विषय पर विस्तार से विवेचना करते हुए, यह सिद्ध कर दिया है कि रस की विशेषता आस्वाद्यत्व है और वह आस्वाद सुख-दुःखात्मक दोनों ही होता है किन्तु रसिक हृदय दुःख में सुख का अनुभव करते हैं। यह अनुभूति कभी कवि-कृत होती है और कभी रसिक के हृदय की सात्विकता या औदात्य।

करुण रस के आस्वाद को लेकर विद्वानों ने अनेक वादों की स्थापना की है, वे नामतः इस प्रकार हैं—(१) अलौकिकतावाद, (२) साधारणीकरणवाद, (३) कलावाद, (४) अभिव्यक्तिवाद, (५) चमत्कार, (६) वैविध्यवाद, (७) नैराश्यवाद, (८) सहानुभूतिवाद, (९) आशावाद, (१०) विरेचनवाद आदि इनके अतिरिक्त अन्य नामकरण भी हुए हैं।

निष्कर्ष यह है कि करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' दुःखदायी और कटु होता है किन्तु विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से वह सुखद और स्वादिष्ट लगता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विभिन्न मसालों के सह-योग से कसैला करेला खाने में स्वादिष्ट लगता है। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य में करुण रस का आस्वाद आनन्दप्रद होता है। यह आनन्द ही काव्य का लक्ष्य है —

प्रश्न ४७—'शान्तोऽपि नवमो रसः' विषयक विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अपना मत स्पष्ट कीजिए।

काव्यशास्त्र में विवादरहित और मान्यता प्राप्त रसों में शान्त रस अन्तिम है। मम्मट ने लिखा भी है कि "शान्तोऽपि नवमो रसः" (का० प्र० ४।३५)। छठीं-सातवीं शताब्दी तक केवल आठ रसों की ही चर्चा होती रही है। उन रसों में भरत निर्दिष्ट आठ रस ही मान्य रहे हैं—

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौनाट्ये रसाः स्मृता ।।६।१५

यद्यपि भरत ने शान्त को रस रूप में मान्यता प्रदान नहीं की है, उसके विभावदि का भी विवेचन नहीं किया है किन्तु भरत ने अपने ग्रन्थ में शान्त रस की सम्भावना से इन्कार भी नहीं किया है, अपितु आठ रसों का विवेचन करने के बाद उन्होंने शान्त की सम्भावना स्वयं इस रूप में प्रस्तुत कर दी है–

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापायेव शान्त एवोपलीयते ।। ना० शा० षष्ठ अध्याय

अर्थात् शान्त रस से ही रति आदि आठ स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है और उनका विलय भी शान्त में ही होता है । आगे भी उन्होंने लिखा है कि– "अतः शान्तो नाम...। मोक्षाध्यात्म समुत्थ...शान्तरसो सम्भवति...। एवं नवरसाद्दष्टानाट्यज्ञ लक्षणान्विता ।" अर्थात् 'मोक्ष और अध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है इसको शान्त रस नाम दिया जा सकता है ।" उपर्युक्त नाट्यशास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र में ही शान्त नामक नवम रस की सम्भावना व्यक्त की गई है और 'नवरस' शब्द का उल्लेख भी किया गया है ।

अन्य अनेक काव्यशास्त्रियों के विरोध करने पर भी शान्त रस को मान्यता मिली है, उसका कारण भरत की उपर्युक्त पंक्तियों में समाहित है। इन पंक्तियों से शान्त रस का महत्व सर्वोपरि सिद्ध होता है । कुछ विचारकों ने इन्हीं पंक्तियों के आधार पर 'शान्त को भावशून्य' स्थिति का द्योतक सिद्ध किया है । उनका कहना है कि 'भावशून्यता' शान्त को रस मानने में बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि किसी रस के अभिनय में अभिनेता भाव-लिप्त नहीं माना गया है । हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८२६

अभिनव ने विरोधियों के मतों का खण्डन कर अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना के द्वारा शान्त का रसत्व सिद्ध कर दिया है । खण्डित मतों में निम्न हैं—"एक, शम को स्थायी, तपस्या तथा योगियों के सम्पर्क को विभाव, काम, क्रोध आदि के अभाव को अनुभाव और धृति, मति आदि को संचारी मानता

हुआ शान्त रस की कल्पना संपूर्ण रसाङ्गों के साथ करता है। परन्तु दूसरा मत शम और शान्त को पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तर्कों द्वारा शान्त रस की पृथक् सत्ता का निषेध करता है। कुछ के अनुसार निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक-रस की तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियों को सम्मिलित रूप से शान्त का स्थायी भाव मानने के पक्ष में हैं।" अभिनव गुप्त ने इन समस्त मतों का खण्डन कर शान्त रस का स्थायीभाव 'तत्वज्ञान' को सिद्ध किया है। अभिनव के अनुसार "जिस प्रकार 'काम' रति आदि से अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रस स्वरूप में आस्वाद्य होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य की विशेष चित्त-वृत्ति के योग से रस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। शान्त रस यही है। निर्वेद को आचार्य ने शोक से प्रवाह को फैलाने वाली विशेष चित्तवृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकार से होती है। एक तो दारिद्रच आदि के, दूसरे, तत्वज्ञान से। तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य सब स्थायियों को दबा देने वाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्व वाला भी है। पर यदि इस निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना जायेगा तो तत्वज्ञान को विभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि इसी से यह उत्पन्न होता है। परन्तु इसे उचित नहीं माना गया। वास्तव में तत्व ज्ञान से निर्वेद उत्पन्न नहीं होता, तत्व ज्ञान ही निर्वेद या वैराग्य से उपजता है। शम और निर्वेद को समान स्वीकार करके शम और शान्त में हास और हास्य की तरह सिद्ध और साध्य, साधारण और असाधारण का भेद उन्होंने बताया। इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्क के बाद तत्वज्ञान को ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।[१]

किन्तु आगे के आचार्यों ने अभिनव द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान को शान्त का स्थायीभाव स्वीकार नहीं किया है क्योंकि यदि 'तत्वज्ञान' को स्थायीभाव स्वीकार कर लिया जायेगा तो ज्ञान को 'भाव' का स्थान देना पड़ेगा। यह सभी

१. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ८२६

को स्वीकार्य नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि शम और शान्त में उतना ही भेद है जितना कि हास और हास्य में। जब हास्य का स्थायीभाव हास हो सकता है तो शम क्यों नहीं। इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भरत ने स्वयं शम को शान्त का स्थायीभाव स्वीकार किया है।

स्थायीभाव विषयक विवाद आगे भी चलता रहा है। अग्निपुराण में 'रति' के अभाव में शान्त रस की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। रुद्रट ने 'सम्यक् ज्ञान' को, आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षय सुख' को तथा किसी ने 'चित्तवृत्ति शम' तो किसी ने 'निर्विशेष चित्तवृत्ति' को एवं किसी ने धृति और उत्साह को भी शान्त का स्थायीभाव माना है।

शान्त रस के समानान्तर ब्राह्म रस, कार्पण्य रस, प्रशान्त रस आदि रसों की कल्पना भी की गई है।

शान्त रस के विरोधियों के तर्क निम्न हैं। सर्वप्रथम तर्क यह दिया जाता है कि शान्त रस भरतसम्मत नहीं है। किन्तु यह तर्क कोई महत्वपूर्ण नहीं है। दूसरे भरत ने इस रस संभावनाओं की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की है, उसका उल्लेख अभी ऊपर किया जा चुका है। दूसरा तर्क यह है कि शान्त रस उत्तेजक नहीं है, अतः सार्वजनीन नहीं है। उसका अभिनय भी नहीं हो सकता है। अतः उसे नाटक में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि नाटक काव्य की एक विधा है। यदि एक विधा के अतिरिक्त अन्यत्र उसका प्रयोग होता है तो इसमें इसकी अस्वीकृति की क्या बात है। साथ ही 'संगीत-रत्नाकर' के लेखक ने करुण और रौद्र की भाँति इसके अभिनय को स्वीकार किया है। अतः इसे नाटक का रस भी स्वीकार किया जा सकता है। तृतीय तर्क यह है कि 'शान्त रस का अन्तर्भाव वीर अथवा बीभत्स में हो सकता है।' किन्तु यह भी भ्रमात्मक है क्योंकि शान्त रस समस्त रसों का हेतु बन सकता है। बीभत्स की अन्ततः शान्त रस में परिणति होती है, भक्ति रस शान्त रस के अधिक निकट है, अतः हम कह सकते हैं और यही कहना भी चाहिए, विभिन्न रसों का शान्त में समावेश हो सकता है। एक तर्क

यह भी है कि शान्त रस में रागद्वेष की समाप्ति होती है लेकिन संसार राग द्वेषमय है। वास्तविकता यह है कि शान्त रस में समस्त रसों का समावेश रहता है जैसा कि डा० भारद्वाज ने लिखा है कि "वास्तव में शान्त रस में रसों का समावेश इस प्रकार रहता है, जिस प्रकार श्वेत रंग में अन्य सभी रंगों का। यह रस सभी रंगों की साम्यावस्था है। काव्य में तो किसी न किसी प्रकर के उद्वेग अथवा संवेग की अभिव्यक्ति होती है। अतएव यह विचार का विषय है कि क्या वस्तुतः काव्य में शान्त रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, क्योंकि वह तो रस-साम्यावस्था के कारण अनिर्वचनीय है, अतएव केवल आस्वाद्य है, अभिव्यंग्य नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं आज शान्त रस को नवम रस के रूप में मान्यता प्राप्त है। अभिनव ने जब शान्त रस का पूर्ण प्रतिपादन कर दिया तो उनके बाद आने वाली परम्परा ने प्रायः शान्त के रसत्व को स्वीकार कर लिया। विशेष रूप से धनजंय, मम्मट और विश्वनाथ ने उसका प्रतिपादन भी किया है। धनजंय के अनुसार—शान्त रस अनिर्वचनीय और शम का प्रकर्ष है तथा उसका स्वरूप मोद है—

"शम प्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता" [१]।

धनिक ने इस पंक्ति की व्याख्या में लिखा है कि मुदिता, करुणा, मैत्री तथा उपेक्षा शान्त रस के काव्य और नाटक का वर्ण्य विषय बन सकती हैं क्योंकि उसकी प्रतीति में विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप नामक चित्तवृत्तियों का योग रहता है। आशय यह है कि विकास आदि आंतरिक वृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहती हैं किन्तु उनकी परिणति जिसमें होती है वही शान्त कहलाता है। धनिक के अनुसार "मुनिराजों ने उस रस को शान्त कहा है जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छादि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों का शम प्रधान रहता है।" आचार्य मम्मट ने शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद माना है, उनका कथन है कि–निर्वेदस्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः अर्थात् निर्वेद स्थायी भाव वाला शान्त नवम रस है। भरत ने स्थायी भावों की गणना करने के बाद व्यभिचारी भावों के वर्णन करते समय निर्वेद को प्रथम

१. (दशरूपक ४।४५)

व्यभिचारी भाव कहा है। निर्वेद को शम भी कहते हैं। विश्वनाथ ने शान्तरस का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"शान्तरस का स्थायीभाव शम, आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं। अनित्यत्व दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मस्वरूप, इस रस में आलम्बन होता है और ऋषि आदिकों के पवित्र आश्रम हरिद्वार आदि पवित्र तीर्थ रमणीय एकान्तवन तथा महात्माओं का संग आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव होते हैं।[1] पंडितराज जगन्नाथ ने महाभारतादि में शान्तिरस का प्राधान्य स्वीकार कर उसे 'अखिललोकानुभवसिद्ध भी कहा है। उनके अनुसार शान्त का स्थायी शम है—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते॥

संस्कृत के कई काव्यशास्त्री आचार्यों ने शान्त को नाट्यरस नहीं माना है, इन आचार्यों में धनंजय, शारदातनय और जगन्नाथ प्रमुख हैं। किन्तु इस मत को विशेष महत्व नहीं मिला है। 'संगीतरत्नाकर' के लेखक ने कहा है कि नट रस से निर्लिप्त रहता है, अतः रौद्र करुण आदि की तरह शान्त का भी अभिनय सम्भव है—

"कश्चिन्न रसं स्वदते नटः"—ध्वन्यालोककार भी नागानन्द का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि नाटक में शृंगार और शान्त दोनों रसों की स्थिति है। साथ ही भरत ने स्वयं लिखा है कि—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्।
क्वचिद्धर्मः क्वचितक्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः॥[2]

अर्थात् नाट्य जो तीनों लोकों के भावों का वर्णन करने वाला है। इसमें कहीं धर्म है कहीं खेल है कहीं धनोपलब्धि है कहीं शम है।" इस प्रकार नाटक में क्या नहीं है अतः शृंगार एवं शान्त दोनों ही रसों की स्थिति नाटक में रह सकती है।

---

१. साहित्यदर्पण ३।२४५-२४६

२. नाट्यशास्त्र १।१०७

इस प्रकार नाटक में शम और शान्तरस की स्थिति आचार्यों ने भी स्वीकार की है।

हिन्दी साहित्य में भी शान्त रस के स्थायीभाव के विवाद का प्रभाव पड़ा है अतः रीतिकालीन काव्यशास्त्री निर्वेद और शम को शान्त का स्थायी भाव मानते हैं। उदाहरण के लिए। कुलपतिमिश्र,[१] नन्दराम[२] पद्माकर[३] और भानु-कवि[४] को लिया जा सकता है। ये निर्वेद को शान्त का स्थायीभाव मानते हैं तथा चिन्तामणि, भिखारीदास तथा केशवदास शान्त का स्थायीभाव शम मानते हैं। दूसरी ओर वेनीप्रवीन विराग को (थाई जासु विराग)। केशवदास शम के कारण शान्त रस को ही शम रस कहते हैं—

सबते होय उदास मन बसै एक ही ठौर।
ताही कों समरस कहत केसव कवि सिरमौर।[५]

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि शान्त नामक नौवाँ रस है। उसे संस्कृत एवं हिन्दी के काव्य-शास्त्र में मान्यता मिली है। निस्सन्देह उसे मान्यता मिलनी ही चाहिये थी, क्योंकि संस्कृत साहित्य में ज्ञान-भक्ति को लेकर एक विशाल साहित्य का सृजन हुआ है। वैराग्य भारतीय विचारधारा की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। इधर हिन्दी के भक्तिकाल में इसे विशेष महत्व मिला है। सूर के विनय के पद, तुलसी की विनयपत्रिका, सन्तसाहित्य में भी शम तथा निर्वेद की व्यापक भावना मिलती है। अतः 'शान्त' नवम रस है और इस रूप में मान्यता मिलना सर्वथा स्वाभाविक है।

---

१. र० र०, पृ० २८ तत्व ज्ञान तें कवित्त में, जहँ प्रगटै निर्वेद।
कहै शान्तरस जासु को, सो है नौमो भेद॥

२. शृ० द० पृ० १४८ जाको थाई भाव सुकवि निरवेद वखानत।

३. जगद्विलास, ७२० सुरत शान्त निर्वेद है जाको थाई भाव॥

४. रसरत्नाकर, पृ० ५६ सुरस शांत निर्वेद है, जाको थायी भाव।

५. रसिकप्रिया १४।३७

प्रश्न ४८—वात्सल्य या वत्सल को रस कहना कहाँ तक उचित है ? स्पष्ट उत्तर दीजिए।

वात्सल्य को रस के रूप में मान्यता बहुत बाद में मिली हैं। भरत के समय में आठ रसों को ही मान्यता मिली थी। भरत ने उनका उल्लेख नाट्य-शास्त्र में किया है—

श्रृंगार हास्य करुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टो नाट्ये रसाःस्मृता।[1]

इन आठ रसों के अतिरिक्त शान्त, वात्सल्य और प्रेयान् आदि रसों का उल्लेख भी आचार्यों ने किया है। अभिनवगुप्त शान्त रस को नवम रस के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। किन्तु वात्सल्य रस को कब मान्यता मिली ? किसने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया ? यह अनुसंधान का विषय है। वात्सल्य रस का दसवें रस के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम श्रीकृष्ण और भोज ने किया है। श्रीकृष्ण ने लिखा है कि—"अन्ये तु करुणस्थायी वात्सल्यं दशमोपि च।" अन्य आचार्य वात्सल्य रस को दसवाँ रस मानते हैं और उसका स्थायी-भाव करुण है।' इसी प्रकार भोज श्रृङ्गार प्रकाश (१।६) में वात्सल्यरस का उल्लेख करते हैं। रुद्रट ने भी दसवें रस का उल्लेख किया है, किन्तु उनका दशम रस 'प्रेयान्' है। 'प्रेयान्' शब्द वात्सल्य का पर्यायवाची है। कर्णपूर गोस्वामी ने भोज का उल्लेख करते हुए ग्यारह रस माने हैं—उनके अनुसार शान्त, वात्सल्य और प्रेय नये रस हैं—

"भोजस्तु वत्सल प्रेयभ्याम् एकादशरसानाचष्टे।"

"इसके बाद आचार्यों ने बारह, तेरह और श्रृंगार प्रकाश में बीस तथा वी० राघवन के उल्लेखानुसार रसों की संख्या तेईस तक मानी गई है।"[2]

वात्सल्य रस को स्वीकार और अस्वीकार करने वाले दो मत हैं—कुछ विद्वान् वात्सल्य को रस ही नहीं मानते हैं और यदि मानते भी हैं तो उसका किसी अन्य रस में समाहार कर, गौण रस के रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. (ना० शा० ६।१५)
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस पृ० ५

संस्कृत साहित्य में आठ रस मानने की परम्परा अज्ञातकाल से चली आ रही है। भरत ने भी इस प्राचीन परम्परा की ओर संकेत किया है—"एते ह्यष्टौ रसः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।"

भरत के अतिरिक्त कालिदास, वररुचि, दण्डी, शारदातनय, आनन्दवर्धन, मम्मट, भानुदत्त, जगन्नाथ आदि आठ रसों को ही स्वीकार करते हैं। उन आठ रसों में वात्सल्य का नाम नहीं है। रुद्रट आदि कुछ विद्वान् वात्सल्य रस को 'प्रेयान्' रस के रूप में स्वीकार करते हैं। हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में 'प्रेयस' शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भामह 'प्रेयस्' का विकास प्रेम से मानते हैं। हेमचन्द्र वात्सल्य को स्नेह और भक्ति के सहित रति में अन्तर्भूत मानते हैं। तदनुसार "बराबर वालों की पारस्परिक रति का नाम स्नेह है। अनुत्तम की उत्तम में रति प्रसक्ति कहलाती है, इसे ही भक्ति कहते हैं। उत्तम की अनुत्तम के प्रति जो रति है, वात्सल्य है।" किन्तु हेमचन्द्र इन्हें रस न मान कर 'भाव' मात्र मानते हैं।

अभिनवगुप्त ने नौ रसों की चर्चा कर अन्य रसों की सम्भावना का संक्षेप में उल्लेख कर उनका खण्डन करते हुए लिखा है कि "वात्सल्य माता-पित्रादौ स्नेहोभये विश्रान्तः" अर्थात् माता-पिता के प्रति बालक के स्नेह का अन्तर्भाव भय में हो जाता है। तथा 'वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्"। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह समझना चाहिए। आशय यही है कि अभिनव के मतानुसार वात्सल्य भाव है, रस नहीं। सम्भवतः अभिनव की सम्मति को सिरमाथे मानकर मम्मट ने लिखा है कि 'रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारी तथा ऽञ्जितः। भाव प्रोक्तः।[1] अर्थात् देवादि के विषय में व्यक्त व्यभिचारी को भाव कहा जाता है। किन्तु "मम्मट के रसनिरूपण से पूर्व 'तद्विशेषानाह' की व्याख्या करते हुए 'बालबोधिनी' के टीकाकार ने जो टिप्पणी दी है, उससे पूर्वोक्त 'प्रेयस्' विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—"किसी की सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसी ने प्रेयस,

---

१. (का० प्र० ४।३५)

दान्त, उद्धत के साथ वर्णित नवरस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायीभाव स्नेह हो, उसको प्रेयस कहते हैं और इसी का नाम वात्सल्य है।"[१]

हरिऔध ने एक अज्ञात संस्कृत विद्वान् को 'रसकलश' में उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि संस्कृत के विद्वान् वात्सल्य को रति के अन्तर्गत समाविष्ट मानते हैं।[२] हरिऔध वात्सल्य रस को कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट मानते हैं; "वात्सल्य रस उन कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट है, जिनकी गणना नवरस में होती है।"[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने वात्सल्य को रस रूप में स्वीकार नहीं किया है; यदि रुद्रट आदि कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को माना भी है तो उसे स्वतन्त्र रूप में रस स्वीकार नहीं किया है किन्तु भोज-राज पहले ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वात्सल्य रस को रस रूप में स्वीकृति प्रदान की है। किन्तु उसकी न तो व्याख्या की है और न प्रतिपादन ही। क्योंकि वे तो केवल एक रस मुख्य मानते हैं और वह है शृङ्गार। उनका कहना है कि शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, वीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त नाम के दशरसों को विद्वान् परम्परा से मानते हैं। परन्तु हम तो रसनीयता के कारण शृंगार को ही रस मानते हैं।[४] इसी प्रकार श्रीकृष्ण 'मन्दारमरन्द चम्पू' में वात्सल्य को दशम रस के रूप में घोषित तो करते हैं किन्तु उनका कथन है कि "कुछ विद्वान् वात्सल्य को भी दसवाँ रस बतलाते हैं, जिसका स्थायी करुण है—

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६६।

२. रसकलश, पृ० १६० "स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यं मैत्री आवंध इति रतेरेव विशेषाः तुल्योर्मियोरतिः स्नेहः प्रेयेतियावद्। तथातयोरेव निष्कामतया मिथोरति मैत्री। अवरस्य वरे रतिर्भक्तिः रतिराबंध इति।"

३. रसकलश, भूमिका, पृ० २१४।

४. शृंगार प्रकाश १।६—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्र हास्य वीभत्सवत्सल भयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

"अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोपि च।"[1]

वात्सल्य रस को स्वीकार करने वाले आचार्यों में हरिपालदेव का नाम उल्लेखनीय है, वे वात्सल्य को ग्यारहवाँ रस मानते हैं। उनके अनुसार रस निम्न हैं—शृंगार, हास्य, करुण, बीभत्स, वीर, भयानक, रौद्र, अद्भुत, शान्त, ब्रह्म, वात्सल्य, संभोग और विप्रलम्भ नामक तेरह रस हैं।[2] विद्याभूषण 'साहित्य कौमुदी' में नव रसों को स्वीकार करने के साथ वात्सल्य रस को भी स्वीकार करते हैं।[3] 'रसरत्नदीपिका' में अल्लराज वात्सल्य रस की चर्चा करते हुए कहते हैं कि कुछ लोग वत्सल को रस कहते हैं, परन्तु वह रति ही है—"वत्सलं तु रसं प्राहुरन्ये सा रतिरेव हि"। वात्सल्य रस का स्पष्टीकरण करते हुए अल्लराज ने लिखा है कि "माता-पिता को सन्तान के आलिंगन में जो आनन्द उत्पन्न होता है, विद्वान् उसे रति कहते हैं और वही वात्सल्य है।[4] कर्णपूर गोस्वामी के मतानुसार वात्सल्य रस का स्थायीभाव 'ममकार' है।

वात्सल्य रस को स्वीकार करने वाले आचार्यों में विश्वनाथ सबसे प्रधान हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वात्सल्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसके विभिन्न अंगों स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, वर्ण, देवता

१, मन्दारमरन्द चम्पू, पृ० १००

२. शृंगारो हास्यनामा च बीभत्सकरुणास्तथा,
वीरोभयानकाह्वानो रौद्राख्योद्भुत संज्ञकः।
शान्तो ब्रह्माभिधः पश्चाद् वात्सल्याख्यस्ततः परम्।
सम्भोगो विप्रलम्भस्याद् रसास्त्वेते त्रयोदश॥

३. साहित्यकौमुदी : ननु दास्यसख्यवात्सल्याख्यास्त्रयो रसापरे सत्यनुभूयन्ते च तज्ज्ञस्ततः कथमत्र नवैवेति चेत् सत्यम्। तथापि नात्र ते निरूप्यन्ते। नवैव-रसः, परे तु भावाः इति

४. रसरत्नदीपिका :
अपत्यलिंग ये भावो यः पित्रोरुपजायते।
सा रतिः कथिता तज्ज्ञैर्वात्सल्यं तत्व कीर्तितम्॥

आदि का वर्णन किया है। उनके अनुसार "प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सलरस भी मानते हैं। इसमें 'वात्सल्य स्नेह' स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन होते हैं। अनिष्ट की आशङ्का हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं। इसका वर्ण कमलगर्भ के समान और ब्राह्मी आदिक मातायें इसकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं।[1]

इस प्रकार वात्सल्य या वत्सलरस की पूर्ण स्वीकृति और उसका विस्तृत व्याख्यान विश्वनाथ ने किया है। पूववर्ती आचार्यों ने जब कभी वात्सल्य रस का संकेत या उल्लेख किया है, उसने दूसरे आचार्य का सहारा लेकर ही किया हैं, अपनी मान्यता का स्पष्ट विवेचन नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि "वात्सल्य के रसत्व की विधिवत स्वीकृति का श्रेय आचार्य विश्वनाथ को ही है।" और विश्वनाथ ने भी वात्सल्य रस को मुनीन्द्र सम्मत बतलाया है और यह भी लिखा है कि मुनीन्द्र की मति के अनुसार वात्सल्य दसवाँ रस है—

'अथ मुनीन्द्र सम्मतो वत्सलः'
"वत्सलश्च रस इति तेन स दशमो मतः।"[2]

हिन्दी साहित्य में केशवदास, चिन्तामणि और भिखारीदास आदि प्रमुख रीतिकालीन आचार्यों ने वात्सल्य रस की उपेक्षा ही की है। इधर आधुनिक

---

१. सा० द० ३।२५१-५४।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रतीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्ट शङ्काहर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्भच्छविवर्णो दैवतं लोकमातरः॥

२. साहित्यदर्पण ३।२५५-५६

काल में भारतेन्दु ने वात्सल्य रस को स्वीकार किया है। भारतेन्दु ने वात्सल्य के साथ दास्य, सख्य और माधुर्य को भी रस स्वीकार किया है। इसका आधार भक्तिशास्त्र है किन्तु "भक्तिशास्त्र के अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वयं ही है जो उक्त चारों भावों के द्वारा भावित होता है।"[१] (हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० ७७०)।

हरिऔध ने सूरसागर के आधार पर वत्सल रस की सिद्धि की है। "उन्होंने वात्सल्य रस को वीभत्स, हास्य आदि अनेक रसों से तर्क सहित श्रेष्ठ सिद्ध किया है। कृष्ण-लीला के अन्तर्गत सूर का वात्सल्य-वर्णन रसत्व प्राप्ति के लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगों को अपने में समाविष्ट किये हैं। दूसरे, भक्ति की दृष्टि से वात्सल्य सूर का अपना भाव नहीं है। अतएव 'सूरसागर' में नंद यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियों का बालकृष्ण के प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यंग्य, उपालम्भ आदि सब कुछ वात्सल्य रस की ही सामग्री है। कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल-क्रीड़ाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसी के अन्तर्गत आता है। तुलसी की 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'कविता-वली' में 'रामचरितमानस' से श्रेष्ठतर वात्सल्य रस की कविता मिलती है। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत तथा यशोधरा में नयी भूमिकाओं में वात्सल्य का उद्रेक प्राप्त होता है।"[१]

डा० भगीरथ मिश्र भी वात्सल्य रस को स्वीकार करते हैं "इस प्रकार स्पष्ट चमत्कार के कारण वात्सल्य की रसत्व रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए।" डा० सुधीन्द्र भी इसी मत से सहमत हैं। "वस्तुतः 'वत्सल' रस केवल चम-त्कार ही नहीं है वरन् वह उत्कट और आस्वाद योग्य भाव का परिपाक है, अतः इसकी मान्यता आवश्यक है।"

इस प्रकार हमारे विचार से 'सूरसागर' की रचना के अनन्तर वात्सल्य रस को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है क्योंकि सूर ने अपने सागर में वात्सल्य की नाना मनोभूमियों का स्पष्ट वर्णन किया है, उसमें अन्य रसों की भाँति रस के प्रत्येक अंग—आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव आदि का पूर्ण निर्वाह

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० ७७०।

दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त उसके आस्वाद में किसी प्रकार संदेह नहीं रहता और 'आस्वाद्यत्वाद् रसः' इस परिभाषा के अनुसार अस्वीकार करने का कोई तर्क भी नहीं रहता है।

वात्सल्य रस के संयोग और वियोग वात्सल्य नामक दो भेद हैं। डा० आनन्द प्रकाश ने अपने शोध प्रवन्ध—'काव्य में रस' नामक रचना में वियोग वात्सल्य के—गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासागत और करुण नामक उपभेदों का उल्लेख किया है।

वात्सल्य रस के अंग एवं उदाहरण

वात्सल्य रस—बाल-सुलभ चपलता, वच्चों का सौन्दर्य, उनकी वोली और चेष्टाओं को देखकर जो उनकी ओर मन का आकर्षण होता है उस आकर्षणजन्य स्नेह से वात्सल्य रस की उत्पत्ति होती है।

स्थायीभाव—अपत्य स्नेह।

आलम्बन विभाव—वालक।

उद्दीपन विभाव—सन्तान की चेष्टाएं एवं वोली।

अनुभाव—हँसना, पुलकित होना, देखना, चूमना, खेलना, रोना आदि।

संचारी भाव—हर्ष, मोह, चिन्ता, शंका, विवाद आदि।

उदाहरण

सोभित कर नवनीत लिये
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनमत्त मधुप गन मादक मदहिं पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि-नख राजत रुचरि हिये।
धन्य 'सूर' एको पल यह सुख सतकल्प जिये।

(सूरदास)

इस उदाहरण में वात्सल्य रस की पूर्ण सत्ता है। उसके समस्त अवयव इसमें हैं क्योंकि यहाँ कृष्ण आलम्बन, यशोदा आश्रय, कृष्ण का घुटनों के बल ,चलना उनका धूल धूसरित होना, दधिलिप्त मुख, घुंघराली लटें आदि उद्दीपन

विभाव हैं। माता का सुखानुभव कर मुस्कराना, प्यार करना, चुम्बन लेना आदि अनुभाव हैं। उत्सुकता, गर्व, चापल्य, मोह, और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वात्सल्य भी एक रस है, हिन्दी-साहित्य में वात्सल्य को लेकर एक विशाल साहित्य का सृजन हो चुका है। अतः उस साहित्य तथा वात्सल्य भाव के उत्कटत्व के कारण, उसके आस्वाद के कारण इसे रस स्वीकार करना ही अधिक तर्कसंगत है।

प्रश्न ४६—शृंगार को रसराज कहना कहाँ तक उचित है? इस विषय में आपका क्या मत है? स्पष्ट कीजिए।

भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगार रस को विशेष सम्मान मिला है, अतः इसे 'रसराज शृंगार' भी कहा गया है। भरत के अनुसार "संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसकी शृंगार रस से उपमा दी जाती है।"[1] रुद्रट ने भी शृंगार रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि "शृंगार रस जैसी रमणीयता अन्य रस से उत्पन्न नहीं हो सकती है।" इस रस में आबाल-वृद्ध सभी मानव ओत-प्रोत हैं। इसके विना काव्य हीनकोटि का होता है अतः इसके निरूपण में कवि को विशेष प्रयत्न करना चाहिए।[2] आनन्दवर्धन भी शृङ्गार रस को सर्वाधिक मधुर और आनन्दकारक रस मानते हैं।[3] आनन्दवर्धन शृंगार रस को विशेष सुकुमार रस भी मानते हैं।[4] यही

---

१. ना० शा० ६।४५ वृत्तिः यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा
तच्छृंगारेणोपमीयते।

२. का० अ० १४।३८ अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्॥
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्॥
भवति विरसेमेवानेन हीनं ही काव्यम्॥

३. ध्वन्यालोक २।७ शृंगार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य प्रतितिष्ठति॥

४. वही ३।३८ विशेषास्तु शृंगारे सुकुमारतमाह्यसौ॥

नहीं, कुछ काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गार को अन्य रसों का आधार माना है। भोज-राज ने तो शृङ्गार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृङ्गार को ही दी है।[1] शृङ्गार को वे अहंकार और अभिमान का पर्याय मानते हैं।[2] अहंकार मिथ्याभिमान न होकर आत्मानुराग है। जब कोई सुन्दरी स्निग्ध दृष्टि से देखती है तो मन में आत्मविश्वास तथा आत्मानुराग उत्पन्न होकर वह भावविभोर हो उठता है, यही अहंकार की स्थिति है। ऐसे मनुष्य अपने को धन्य मानते हैं (शृ० प्र० पृ० ४६४)। इसी अहंकार का नाम शृङ्गार है क्योंकि यही भाव सहृदय को सुख की चोटी पर आसीन कर देता है (येन शृङ्गरीयते (गम्यते) स शृङ्गारः), । यही नहीं, भोज इसी अहंकार या अभिमान को शृङ्गार रस की संज्ञा देते हैं—'स शृङ्गारः सोऽभिमान स रसः' और रस भी एक शृङ्गार ही है—"रस शृङ्गार एव एकः।" अग्निपुराणकार के अनुसार, शृङ्गारी कवि अथवा सहृदय जगत् को रसमय बना देता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के काव्यशास्त्री विशेषतः भोज और अग्निपुरा-णकार यद्यपि शृङ्गार को 'रसराज' घोषित नहीं करते हैं परन्तु उसे सर्वश्रेष्ठ तथा रसों का आधार स्वीकार करते हैं। परवर्त्ती हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि इसे सर्वप्रथम स्थान पर भी बैठा देते हैं। उनका हेतु यह है कि "इसका सम्बन्ध न केवल मानव जाति तक सीमित है, अपितु यह सकल-जाति सामान्य अत्यन्त परिचित एवं सकल मनोहारी है—तत्र कामस्य सकल जाति सुलभतयाऽत्यन्त परिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्व शृङ्गारः।" विश्वनाथ ने

---

१. शृङ्गार प्रकाश खण्ड १ शृङ्गारवीर करुणाद्भुतरौद्रहास्य बीभत्स (पृ० २) वत्सलभयानकशान्तनाम्नः आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः।

२. सरस्वती कण्ठाभरण ५।१. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।

३. अ० पु० ३३९।८ शृङ्गारी चेत् कविः, काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्।

भी श्रृङ्गार को व्यापक तथा महत्वपूर्ण रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार, 'केवल श्रृंगार रस ही एक ऐसा रस है—जिसमें उग्रता, मरण, आलस्य, और जुगुप्सा को छोड़ कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं।'[1] अर्थात् इन सबका इस रस में योगदान रहता है। इस प्रकार मानव मन की अधिकतम भावनाओं का इसमें समावेश रहता है। शारदातनय तो प्रत्येक संचारीभाव का सम्बन्ध श्रृङ्गार रस से मानते हैं—समग्रवर्णनाधारः श्रृंगारो वृद्धि-मश्नुते।[2] केवल इतना ही नहीं स्थायी, संचारी ही क्यों अनुभाव और सात्विक भावों की अधिकतम स्थिति इस श्रृङ्गार के दोनो भेदों में पाई जाती हैं। श्रृङ्गार के भेदोपभेद, इसके अन्य सहायक तत्व—नायक-नायिका, उनके भाव-हाव हेलादि तत्व भी श्रृङ्गार रस की व्यापकता की उद्घोषणा करते हैं। केवल एक यही रस है जिसमें दोनों आलम्वनों—आलम्बन और आश्रय की चेष्टाएँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। भरत ने भी लिखा है कि यह सम्पूर्ण भावों से युक्त होता है—"एवमेष सर्वभाव संयुक्तः श्रृङ्गारो भवति।" (ना० शा० ६।४५) अतः शास्त्रीय आधार पर श्रृङ्गार का रस-राजत्व स्वीकार किया जा सकता है।

श्रृङ्गार का रसराजत्व—श्रृङ्गार को रसराज सिद्ध करने के लिए अन्य अनेक हेतु दिये जाते हैं। सर्वप्रथम यह कि काम-प्रेम की भावना मानव से लेकर पशु-पक्षी तक में स्वाभाविक रूप से मिलती है। यह काम सार्वदेशिक तथा सार्वभौमिक है। मानव मात्र को यह भावना प्रभावित करती है। अतः उस भावना से सम्बद्ध श्रृङ्गार रसरसराज का अधिकारी है। द्वितीय, अन्य रसों का आस्वाद प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलता है। रुद्रट (काव्यालंकार १४-३८) का कथन है कि—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्यनान्यः।
सकलमिदमनेन व्याप्तमावालवृद्धम्॥

इस रस के समान रसत्व अन्य रसों में नहीं। इस के आस्वाद्यत्व ने आबाल-वृद्ध को प्रभावित किया है।

तीसरी बात यह भी है कि श्रृंगार के अनेक भेद-उपभेद होते हैं। चौथी

---

१. सा० द०, ३।१८६. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः।

२. भाव प्रकाश, पृ० ६१।

बात यह है कि इसमें कोमल भावनाओं का महत्व रहता है। पाँचवीं बात यह है कि इससे सन्त महात्मा तक भी अपना बचाव नहीं कर पाते हैं। कबीर अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तथा तुलसी की रामायण शृंगार रस-पूर्ण है। शृंगार का मनमोहक रूप धनुष यज्ञ और ग्रामवधू आदि प्रसङ्गों में देखा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृंगार में व्यापकता है अनेक स्थायी, संचारी, सात्विकों को यह आत्मसात कर सकता है। इसके अतिरिक्त उत्कट आस्वाद्यता भी इस रस में मिलती है। अन्य रसों की तुलना में शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी भाव रति अधिक आस्वाद्य योग्य है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अन्य रसों को समाहित करने की क्षमता है। इसकी छत्रछाया में अन्य रस पल्लवित होते हैं और हो सकते हैं। यद्यपि बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस, शृंगार-विरोधी रूप में परिगणित होते हैं किन्तु आचार्यों ने उस विरोध के परिहार की भी व्यवस्था की है। जैसा कि देव ने इसकी व्यापकता के विषय में लिखा है कि—

> निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त।
> उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिबस न पावत अन्त।
> भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजत्न।
> ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नवरत्न।
> भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।
> जो सम्पति दम्पतिनु की जाको जग विस्तार।
>
> (भ० वि० १।१०)

यही नहीं, शृंगार के विभावों में अपनी विशिष्ट विशेषता है। शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका हैं, इनके साथ प्रत्येक पाठक, दर्शक या श्रोता का तादात्म्य स्थापित हो सकता है। अन्य रसों के आलम्बन इस विशेषता से रहित हैं। शृंगार के उद्दीपन अन्य रसों की तुलना में अधिक रमणीय, अधिक आकर्षक, मोहक और व्यापक हैं। शृंगार के उद्दीपन सर्वत्र और सब कालों में सुलभ हैं। निश्चय ही मानव हृदय की वृत्तियों का अधिकतम मात्रा में इसमें

चित्रण होता है और मानव हृदय की वृत्तियाँ इसमें उसी मात्रा में रमण भी करती हैं। भोजराज का कथन ठीक ही है कि—

श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत।
स एव चेदश्रृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्।[१]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि श्रृंगार रसराज है और सोमनाथ का श्रृङ्गार को रसपति "नवरस को पति सरस अति रस श्रृंगार पहिचानि।"[२] घोषित करना, केशव का श्रृंगार को रसनायक —"सबको केसवदास कहि नायक है सिंगार"[३] तथा देव का सब रसों का मूल "भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार"[४] घोषित करना उचित है। काव्य रसों के आस्वाद-भेद के कारण तो इसे रसराज कहना सर्वथा उचित है।

प्रश्न ५०—क्या भक्ति को रस माना जा सकता है? तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।

भक्ति को रस मानने के विषय में काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद रहा है और वह मतभेद आज भी विद्यमान है। अतः "कुछ विशेषज्ञ भक्ति को बलपूर्वक रस घोषित करते हैं। कुछ परम्परानुमोदित रसों की तुलना में उसे श्रेष्ठ बताते हैं, कुछ शान्तरस और भक्तिरस में अभेद स्थापित करने की चेष्टा करते हैं तथा कुछ उसे अन्य रसों से भिन्न सर्वथा अलौकिक एक ऐसा रस मानते हैं, जिसके अन्तर्गत शेष सभी प्रधान रसों का समावेश हो जाता है। उनकी दृष्टि में भक्ति ही वास्तविक रस है शेष उसके अंग या रसाभास मात्र हैं।" भरत से लेकर मम्मट तक प्रमुख काव्यशास्त्री 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि वात्सल्य नामक नये रस को स्वीकार किया है किन्तु भक्ति को रस स्वीकार नहीं किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थल पर भक्ति का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व स्वीकार करने पर भी परंपरानुसार नौ रसों को ही स्वीकार किया है।

भक्ति को रस स्वीकार करने का विशेष आग्रह भक्तिशास्त्र में किया गया

१. स० क० पृ० ३
२. र० पी० नि० ८।१.
३. र० प्रि० १।१७
४. भवानीविलास १।१०.

है। भागवत पुराण शाण्डिल्यभक्तिसत्र, नारदभक्ति सूत्र, भक्ति रसायन, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थों में इसके लिए विशेष आग्रह परिलक्षित होता है।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने शान्त को नौवाँ रस प्रतिपादित किया है—"एव ते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेनरंजनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्।" इन नौ रसों के अतिरिक्त अन्य रस उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। उनके विचार से यदि कोई अन्य रस है तो वे उसका समाहार इन्हीं रसों में मानते हैं और भक्ति का भी समाहार इसी रूप में कर लेते हैं—"एवं भक्तावपि वाच्यमिति" इसके साथ ही वे भक्ति को रस मानने का विरोध करते हैं — उनका कहना है किं "अतएव ईश्वरोपासना-विषयक भक्ति और श्रद्धा, स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि में ही समाविष्ट होने के कारण अंगरूप ही हैं, अतः उनका पृथक् रसरूप से परिगणन नहीं होता है।"[1] इस विषय में आचार्य मम्मट मध्यममार्गी हैं, वे न तो अभिनवगुप्त का समर्थन करते हैं और न विरोध ही, अपितु व्यभिचारी भावों से पुष्ट देवादिविषयक रति को 'भाव' के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।' भावः प्रोक्तः। (का० प्र० ४।३५) पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस विषय पर विचार किया है, उनके मत का सार इस प्रकार है—"भगवान् जिसके आलम्बन हैं, रोमांच, अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराण श्रवण के समय भगवद् भक्त जिसका प्रकट अनुभव करते हैं और भगवान् के प्रति अनुरागस्वरूपा भक्ति ही जिसका स्थायीभाव है, उस भक्तिरस का शान्त रस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुराग और विराग परस्पर विरोधी हैं किन्तु भक्ति देवादि रति-विषय से सम्बन्ध रखती है, अतएव वह भाव के अन्तर्गत है और उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता।"इस प्रकार पंडितराज के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत मानने को तैयार न होते हुए भी वे उसे 'भाव' ही मानते हैं, रस नहीं।

भामह के 'प्रेयस' रस के विवेचन के आधार पर 'भक्ति रस' के विकास को

---

१. अभिनव भारती—"अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमति धृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवांगमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम्।"

स्वीकार किया गया है क्योंकि "प्रेयस अलंकार में जिन भावों का समावेश होता था, उनमें पुत्र-विषयक रति की तरह देवादिविषयक रति की भी गणना की जा सकती है।,,

किन्तु सर्वाधिक स्पष्ट रूप से भक्ति रस का व्याख्यान श्रीमद्भागवत पुराण में मिलता है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही भगवद् विषयक अलौकिक रस तथा उसके रसिकों का वर्णन है।[१] शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में 'परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः, के रूप में भक्ति की परिभाषा की गई है तथा उसे रागस्वरूप होने के कारण रस का प्रतिपादक माना गया है—द्वेषप्रतिपक्ष भावाद्रसशब्दाच्चरागः। नारद भक्तिसूत्र में भक्ति को 'परम प्रेम रूपा,' कहा गया है। इस भक्ति का राग-विराग से अविरोध है। इसकी "उपलब्धि अमृतत्व, तृप्ति और सिद्धि कारक होती है तथा उससे शोक, द्वेष, रति और उत्साह आदि का शमन होता है।"[२]

मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' में भक्ति के रसत्व का प्रतिपादन कर उसे 'दसवाँ' रस मानकर उसकी सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।[३] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्ति रस सुखमय है, अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं होता है। अतः अन्य रस भक्ति रस के समक्ष हीन प्रतीत होते हैं, वैसे ही जैसे सूर्य के समक्ष जुगनू खद्योत का प्रकाश।[४] आचार्य मम्मट ने जो

---

१. श्रीमद् भागवतम् "निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।

२. नारद भक्ति सूत्र ४-५।

३. भक्तिरसायन २।७५-७६

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात्...।
भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्॥

४. वही : कान्तादि विषया वा ये रत्याद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्।
परिपूर्ण रसा-क्षुद्ररसेभ्यो भगवद् रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा॥

देवादि विषयक रति को भाव बतला कर भक्ति के रसत्व का खण्डन किया है, उसके विषय में मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि "वहाँ देव शब्द से इन्द्र आदि देव लेना चाहिए। उनमें जीवत्व होने के कारण परमानन्द प्रकाशित नहीं होता है। अतः वहाँ रसाभिव्यक्ति न होकर भावाभिव्यक्ति ही होती है। यह विषय परमानन्द रूप परमात्मा में लागू नहीं होता है।"[1] इसी प्रकार 'भगवद्भक्ति चन्द्रिका' में पराभक्ति को रस कहा गया है—"पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति।" आचार्य रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया है, उन्होंने भक्ति के पाँच रूप—शान्ति, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर माने हैं तथा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य नामक पाँच भाव भक्ति के मूल हैं। श्रेष्ठता के कारण भक्ति रस परा और अपरा कोटि में भी विभक्त किया जाता है। रूपगोस्वामी भक्ति रस को उज्ज्वल रस कहते हैं—

"शान्तप्रीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु।"

उज्ज्वलनीलमणि नामक कृति में रूपगोस्वामी ने भक्ति का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है।

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥

वैष्णवाचार्य भक्ति को केवल रस ही नहीं मानते हैं अपितु इसे वे सर्वश्रेष्ठ तथा प्रधान रस कहते हैं। अन्य रसों का समाहार भी इसी रस में करते हैं। रूपगोस्वामी भक्ति रस को रसराज शृंगार से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि—अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। तथा च मुनिः। बहु-वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्ना कामुकत्वं च। या च मिथो दुर्लभता सा

---

१. भक्ति रसायन २।७३-७४

रति र्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः।
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्।
तद्योज्यम् परमानन्दरूपे न परमात्मनि।

परमा मन्मथस्य कृतिः। लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्ण रस निर्यास्विदार्थमवतारिणी।" इस प्रकार शृंगार के आलम्बन लौकिक हैं जब कि भक्ति के आलम्बन अलौकिक राम-कृष्ण आदि हैं, अतः भक्ति रस सर्वश्रेष्ठ है। श्री० पी० वी० काणे ने रूपगोस्वामी के मत के विषय में लिखा है कि—"रूपगोस्वामी Says that what is called illicit and secret love and is ordinarily condemned is the highest pinnacle of sringara and that the condemnation applies only to ordinary mortals and not to a completely perfect Avatara (Krisna) who took to an incarnation to give a taste of mystic love to his devotees."

हिन्दी साहित्य में महाकवि देव ने भक्ति रस पर विचार किया है, किन्तु आधुनिक युग के कवि हरिऔध उसके प्रबल संस्थापक हैं। उन्होंने लिखा है कि "परमात्मा का नाम रस है।" श्रुति कहती है—"रसो वै सः" रस शब्द का अर्थ है—'यः रसयति आनन्दयति स रसः'। वैष्णवों को माधुर्य उपासना परमप्रिय है अतएव भगवदनुरागरूपा भक्ति को रस मानते हैं।...मेरा विचार है कि वत्सल में उतना चमत्कार नहीं जितना भक्ति में...।" हरिश्चन्द्र शृंगार से भी भक्ति को अधिक चमत्कारपूर्ण मानते हैं। आधुनिक आलोचकों में कन्हैयालाल पोद्दार ने भक्ति रस का प्रबल प्रतिपादन किया है—"दुःख और आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृंगारादि रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' संज्ञा दी जाती है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्तिरस है उसे रस न मानकर भाव माना गया है। यही क्यों; क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि स्थायीभावों को (जो प्रत्यक्षतः सुख विरोधी हैं), रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रस की संज्ञा दी गयी है।" निस्संदेह भारतीय साहित्य और उसके जीवनदर्शन की पृष्ठभूमि में भक्ति को रस स्वीकार न करना सर्वथा अनुचित है, अवतारवादी सगुण साहित्य में इसका पूर्ण प्रतिपादन है। भारत की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में भक्ति का साहित्य मिलता है। हिन्दी में सूर, तुलसी और मीरा आदि की रचनाएँ भक्ति रस का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रस्तुत करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति-

रस के विषय में दो स्पष्ट मान्यतायें हैं एक यह कि भक्ति रस है और दूसरी यह है कि भक्ति रस नहीं है। भक्ति को रस के रूप में मान्यता भक्त कवियों द्वारा मिली है। साहित्यशास्त्री इसे प्रश्नांकित रूप में ही मान्यता देते हैं। भक्ति को रस स्वीकार करने के विषय में अनेक प्रश्न और आक्षेप भी हैं।

कुछ आक्षेप निम्न हैं—

१. भक्ति रस को स्वीकार करने पर परम्परा का विरोध होगा, क्योंकि भरतादि ने इसे स्वीकार नहीं किया है। रस-भाव आदि के विषय में व्यवस्था भरतमुनि के अनुसार की जाती है, अतः एक नया प्रश्न उत्पन्न होगा।

२. भक्ति का अन्तर्भाव अन्य रसों में हो सकता है, फिर नवीन रस रूप में कल्पना निरर्थक है, अतः उसे भाव मात्र स्वीकार करना चाहिए।

३, निर्जीव मूर्ति के प्रति इसमें आग्रह होता है, अतः इसमें तीव्रता या वेग नहीं होता है।

४. भक्ति एक मूल भाव नहीं है और न ही उसकी भावना ही अधिक व्यापक है।

इन आक्षेपों के सहज उत्तर दिये जा सकते हैं, और आचार्यों ने इनका समाधान भी किया है। क्रमशः जैसे—

(१) परम्परा के विरोध के भय से भक्ति को रस स्वीकार न करना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि 'न पुराणमित्येवसाधुसर्वं' के अनुसार भक्ति को रस स्वीकार किया जा सकता है। संसार परिवर्तनशील है अतः परिवर्त्तन के साथ अन्य रसों को स्वीकार किया जा सकता है।

(२) भक्ति का खींचतान कर ही अन्य रसों में समाहार किया जा सकता है। अन्यथा रसत्व के समस्त गुण इसमें विद्यमान हैं।

(३) निर्जीव मूर्ति के प्रति जो आग्रह की बात है, वह भी असंगत है क्योंकि भक्ति भावना हृदय की वस्तु है, न कि केवल मूर्ति की। अन्य रसों की तरह भक्ति भी हृदय की वस्तु है।

(४) भावना की व्यापकता का कोई पुष्ट आधार नहीं है, क्योंकि यह तो 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' वाली बात है, जो जिसको अच्छा लगता है, वही उसको प्रिय है। अन्य रस भी सभी को प्रिय नहीं होते हैं।

इन आक्षेपों का सर्वाधिक संगत उत्तर भूदेव शुक्ल ने 'रसविलास' में दिया

है, वह इस प्रकार है—"भक्ति रस के समान ग्रास्वाद्य, मोक्षोपकारक, वहुजन-सुलभ, वाङ्मय परिपुष्ट व संस्कृत साहित्यशास्त्र तथा मानसशास्त्र की कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरने वाला रस न मानने का कोई कारण नहीं है। विपुल धार्मिक तथा साहित्यिक सामग्री भक्ति के सम्बन्ध में होते हुए भी जो इसको ग्रस्वीकार किया जा रहा है, उसका एकमात्र कारण परम्पराभिमान ही हो सकता है, ग्रन्य नहीं। निश्चय ही परम्पराभिमान साहित्य के नवीन पंथों को ग्रवरुद्ध करके उसकी गति को रोक सकता है, ग्रतएव उपेक्षणीय है।"

निष्कर्ष—हमारे विचार से भी भक्ति एक रस माना जा सकता है, उसके ग्रन्य ग्रङ्ग इस प्रकार हैं—

रस—भक्ति

स्थायीभाव—इष्टदेव के प्रति ग्रनुराग ग्रथवा प्रेम।

ग्रालम्वन—भगवान के ग्रवतार, राम-कृष्ण ग्रादि।

उद्दीपन—ग्रवतार के कार्य ग्रौर उसके गुण, भक्तों की संगति।

संचारीभाव—हर्ष, निर्वेद, मति, उत्सुकता।

ग्रनुभाव—नेत्रविकास, रोमांच; गद्गद्, वचन।

उदाहरण के लिए—सूर, तुलसी, मीरा के विनयविषयक पद ग्रथवा राम-कृष्ण के लीलाविषयक पद।

जैसे—

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुँजहारी।
नाथ तू ग्रनाथ को, ग्रनाथ कौन मोसो ?
मो समान ग्रारत नहिं, ग्रारतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो।
तोहि मोहिं नाते ग्रनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु ! चरन सरन पावै॥

तुलसी : विनयपत्रिका

इस पद में ईश्वर के प्रति अनुराग स्थायी भाव व्यक्त है। राम या ईश्वर आलम्बन, उनकी दया, करुणा आदि उद्दीपन विभाव है। कवि के विनय भरे कथन अनुभाव, दीनता, गर्व और हर्ष संचारी भाव हैं। अपने सम्पूर्ण अङ्गों सहित इस पद में भक्ति रस की व्यंजना हो रही है। अतः भक्ति की रस रूप में प्रतिष्ठा सर्वथा उचित है।

प्रश्न ५२—रस-दोषों का विस्तार से विवेचन कीजिए।

रस काव्य की आत्मा है। उस आत्मतत्व की निष्पत्ति, सर्वथा निर्दोष होनी चाहिए। रस-दोषों को समझने से पहले रस के स्वरूप को समझना परम आवश्यक है। "रस का आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तु के सम्बन्ध से रहित होता है। रस का प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभावादिकों पर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है वरन् विभावादि द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ है व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्य में ध्वनि की प्रधानता स्थापित हो जाने पर रस ध्वनि भी काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। फलस्वरूप रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण दोष का विवेचन तदनुसार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोषों का आविर्भाव हुआ। रसौचित्य के आधार पर रस-दोष दो प्रकार के माने गये हैं—१. नित्य और २. अनित्य। वे दोष; जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं। अनित्य दोष का सम्बन्ध रूप और आकार से है। इस प्रकार रस-दोष नित्य तथा शब्द-दोष और अर्थ-दोष अनित्य हैं।"[1]

ध्वन्यालोककार ने रस-दोषों का विवेचन करते समय 'दोष' के स्थान पर 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। तदुपरान्त क्षेमेन्द्र ने उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ का सृजन किया। ये दोनों विद्वान् 'दोष' के स्थान पर 'औचित्य' शब्द के प्रयोग के पक्षपाती हैं।

ध्वन्यालोककार ने कवि की दृष्टि से रस-भंग के पाँच कारण बतलाये हैं:—

१. विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

१. (हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ६७१)

२. (रस से) संवद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।

३. असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना

४. (रस) पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी वार-वार उसका उद्दीपन करना

५. व्यवहार का अनौचित्य।[1]

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में ध्वनिवादियों की मान्यताओं से थोड़ा भिन्न होकर रस-दोषों की विस्तार से चर्चा की है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में मम्मट का अनुकरण किया है। तोषनिधि का रस-दोष सम्वन्धी विवेचन 'सुधानिधि' में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों में इस विषय पर यथेष्ट मात्रा में प्रकाश डाला गया है। कुलपति मिश्र रचित 'रसरहस्य', देव की 'काव्य-रसायन', भिखारी दास कृत 'काव्य-निर्णय', जनराज की 'कविता-रस-विनोद' उजियारे कवि द्वारा सृजित 'रस चन्द्रिका' एवं 'हरिऔध' कृत 'रस कलश' रस-दोषों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं।

रस के आस्वाद की प्रक्रिया में विघ्न डालने वाले तत्व ही 'रस-दोष; के नाम से अभिहित किए गए हैं। रस संबंधी दोषों में कुछ दोष ऐसे भी हैं जो किसी पद्य-विशेष में न होकर काव्य अथवा नाटक की प्रवन्ध रचना में दृष्टिगत होते हैं। इस विषय का मम्मट ने विस्तार से विवेचन किया है और अनेक ऐसे महाकाव्यों और नाटकों के नाम वताये हैं जिनमें ये दोष विद्यमान हैं। मम्मट के परवर्त्ती प्रायः सभी आचार्य उनकी इस विचारधारा से सहमत हैं और सभी को उनकी मान्यता स्वीकार है। आचार्य मम्मट ने रस दोषों की संख्या दस वताई है जो कि इस प्रकार है—१. स्वशब्दवाच्यता, २. विभावों और अनुभावों की कष्ट कल्पना, ३. परिपन्थि साङ्गपरिग्रह, ४. रस की पुनः पुनः दीप्ति ५, अकाण्ड प्रथन, ६. अकाण्डच्छेदन, ७. अंगभूत रस की अतिवृद्धि ८. अनुसन्धान (अंगी की विस्मृति) ९. प्रकृति विपर्यय एवं १०. अनंग वर्णन।

---

१. ध्वन्यालोक, हिन्दी टीका (ज्ञानमण्डल, १९६२) पृ० २१२-२१३.

१. स्वशब्दवाच्यता—मम्मट, विश्वनाथ और भिखारी दास प्रभृति आचार्यों के मतानुसार 'रस' का वाचक शब्द के द्वारा कथन न होना चाहिए अपितु उसकी व्यंजना द्वारा प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु जब किसी रस-विशेष के विभावादि की उपयुक्त योजना के स्थान पर कवि स्वयं उस रस का अथवा उसके अङ्गों का कथन कर देता है तब 'स्वशब्दवाच्य' दोष होता है। इसमें रस की अभिव्यंजना अनुभावों द्वारा न करके वाचक शब्द द्वारा उसका कथन कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चंचलनैनी चारु।
कुच कोरनि हियकोरि कै, भर्‌यौ सुरस शृंगार॥
(का० नि० २५)

यहाँ पर शृंगार-रस के प्रसङ्ग में 'शृंगार' का नामोल्लेख कर दिया गया है, अतएव 'स्वशब्दवाच्यता' दोष है।

२. विभावों और अनुभवों की कष्ट-कल्पना—जहाँ विभाव और अनुभाव का निश्चय करने में कठिनाई का अनुभव हो, वहाँ यह दोष होता है। विभावों और अनुभावों की स्पष्ट योजना पर ही रस-परिपाक निर्भर है, अतएव इनकी प्रतीति में बाधा पड़ने से रस में बाधा पड़ती है और रस-दोष हो जाता है। जैसे—

उठति गिरति फिरि फिरि उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति।

यहाँ पर यह स्पष्ट नहीं है कि किस कारण से स्त्री की यह अवस्था हुई है, साधारण व्याधि और विरह की व्याधि का अन्तर स्पष्ट नहीं। विभाव की कष्ट-कल्पना द्रष्टव्य है।

३. परिपन्थि सांगपरिग्रह—मम्मट के 'प्रतिकूल विभावादिग्रह' को विश्वनाथ ने 'परिपन्थिसाङ्गपरिग्रह' नाम प्रदान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रस का विवेचन हो रहा हो उसके विरोधी रस की सामग्री प्रस्तुत की जाये। भिखारीदास ने इसे 'अन्य-रस-दोष' नाम से अभिहित किया है। इसका उदाहरण निम्न है—

इस पार प्रिये मधु है तुम हो।
उस पार न जाने क्या होगा!

यहाँ पर पहली पंक्ति में 'प्रिये' और 'मधु' का उल्लेख शृंगार रस को व्यंजित कर रहा है, पर दूसरी पंक्ति में 'उस पार' का चिन्तन निर्वेद का सूचक है। इस प्रकार शृंगार के प्रसंग में 'उस पार' का वर्णन प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक सिद्ध हो रहा है।

४. रस की पुनः पुनः दीप्ति—यह दोष प्रबन्ध-काव्यों में ही दृष्टिगत होता है। प्रबन्ध-काव्यों में किसी भी रस का परिपाक उसी सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक उसकी आवश्यकता हो। रस की पुनः-पुनः आवश्यक उद्दीप्ति गुण न रहकर दोष बन जाती है। रस के पूर्ण परिपाक के उपरान्त भी उसका वर्णन पाठक अथवा श्रोता के हृदय में अरुचि उत्पन्न करता है। ध्वनिकार ने इस दोष का दृष्टान्त 'परिम्लान-कुसुम' से दिया है, जिससे इसके स्वरूप पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में 'कुमारसंभव' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रति-विलाप इसका उदाहरण है। हिन्दी में गुप्त जी के 'साकेत' का नवम सर्ग और हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के कतिपय स्थल इसके उदाहरण हैं, जिनमें बार-बार विप्रलंभ की दीप्ति द्वारा वैचित्र्य और चमत्कार का हनन होता है।

५. अकाण्ड-प्रथन—'अकाण्ड-प्रथन' दोष वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत रस की अवहेलना करके अप्रस्तुत रस का विस्तार होता है। प्रसंग से असंबद्ध रस का विस्तार दोषों में परिगणित किया गया है। उदाहरण स्वरूप 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अङ्क को देखा जा सकता है। अनेक वीरों के विनाश का प्रसङ्ग प्रारंभ होने पर बीच में ही रानी भानुमती और दुर्योधन का प्रेम-प्रलाप होने लगता है। यहाँ पर शृंगार रस का वर्णन असामयिक है।

६. अकाण्डच्छेदन—ध्वन्यालोककार ने इस रस-दोष को 'अनवसर में रसविच्छित्ति' नाम से सम्बोधित किया है किसी रस के विवेचन में अचानक ही रस-भंग कर देने से यह दोष होता है; जैसे—जैसे संस्कृत में 'महावीरचरित' के

द्वितीय अङ्क में, राम तथा परशुराम के संवाद में जिस समय वीर रस के चरमोत्कर्ष की स्थिति है, राम निम्न कथन कहते हैं—

राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धु सों बात ।
कंकन मोहि छोराइबे, उतै जाहु तुम तात ।।

यहाँ पर राम का "मैं कंकण खोलने जा रहा हूँ" कथन अचानक ही प्रसंग बदल देता है और रस-परिपाक छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

७. अंगभूत रस की अतिवृद्धि—प्रत्येक काव्य अथवा नाटक में किसी एक रस की प्रधानता रहती है और शेष रस गौण रहते हैं । प्रधान रस अंगी कहलाता है और शेष रस अंग कहे जाते हैं । जब कवि प्रधान अथवा अंगी रस की उपेक्षा कर अंग सहायक या गौण रसों के परिपाक में तन्मय हो जाता है और उनका अनावश्यक विस्तार करने लगता है तब अंगभूत रस की 'अतिवृद्धि' नामक रस-दोष होता है । वस्तुतः अंग को अंगी के अधीन ही रहना चाहिए और उसका महत्व इतना न बढ़ना चाहिए कि वह निरंकुश हो जावे और दोषों के मध्य परिगणित कर दिया जाये । इसका उदाहरण देखिये—

दासी सों मण्डन समै, दर्पन मांग्यो वाम ।
वैठि गई सो सामुहे, करि आनन अभिराम ।।

यहाँ पर नायिका अंगी है और दासी अंग । अस्तु, दासी का अति शोभा वर्णन दोष कहा जायेगा । इसी प्रकार भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीव-वध' में हयग्रीव की क्रीड़ाओं और विहारों का इतने विस्तार से वर्णन हुआ है कि नायक विष्णु के क्रियाकलाप उसके समक्ष निष्प्रभ पड़ जाते हैं ।

८. अनुसन्धान (अंगी की विस्मृति)—अवान्तर विषयों के फेर में पड़कर मुख्य रस, पात्र अथवा कथा-प्रसंग को भूल जाना 'रस-दोष' कहलाता है । वस्तुतः यह दोष इससे पूर्ववर्ती दोष का ही परिणाम है । जब अंग की विस्मृति होगी तो स्वाभाविक रूप से अंगी की विस्मृति होगी । उदाहरण के लिए श्री-हर्ष की 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक को देखा जा सकता है । इसमें नायक वत्सराज विषयवर्मा का वृत्तान्त सुनने में इतना तल्लीन हो जाता है कि नायिका सागरिका को एकदम भूल जाता है जिससे नाटिका का प्रतिपाद्य

शृंगार रस विच्छिन्न हो जाता है। 'साकेत' के उत्तरार्द्ध में राम की महिमा का पाठक पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह नायिका उर्मिला को भूल ही जाता है।

६. प्रकृति-विपर्यय—नाटक अथवा काव्य आदि में वर्णित नायक का अपना पृथक्-पृथक् स्वभाव एवं चरित्र होता है जिसका निर्वाह आदि से अन्त तक करना कवि के लिए वांछनीय होता है। ये नायक प्रकृति-भेद की दृष्टि से दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किये गए हैं और चरित्र-भेद की दृष्टि से धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त नामक चार भागों में बाँटे गए हैं। दिव्य का अभिप्राय देवता, अदिव्य का मनुष्य और दिव्यादिव्य का मानव रूप में अवतीर्ण देवरूपों से है। इस प्रकृति-गत औचित्य का निर्वाह कवि के लिए वांछनीय है, अन्यथा रस-विघ्न उपस्थित हो जाता है। 'कुमारसम्भव' में शिव-पार्वती का संभोग वर्णन इस दोष का उदाहरण है। क्योंकि शिव-पार्वती दिव्य प्रकृति के हैं और उनका संभोग-वर्णन माता-पिता के संभोग-वर्णन के सदृश ही अनुचित है। 'मेघनादवध' में राम-लक्ष्मण की भीरुता तथा 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती की सपत्नीकलह आदि भी प्रकृति-विपर्यय दोष के उदाहरण हैं।

१०. अनंग वर्णन—ऐसे प्रसंगों का वर्णन, जिनका मुख्य रस के साथ कोई सम्बन्ध न हो, 'अनंग-वर्णन' दोष कहलाता है। इसका उदाहरण 'कर्पूर-मंजरी' मिलता है जहाँ राजा चण्डपाल स्वयं अपने द्वारा तथा नायिका विभ्रमलेखा द्वारा प्रस्तुत किए गए वसन्त-वर्णन की उपेक्षा कर चारण-वर्णित वसन्त-वैभव की सराहना करता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में रस-दोषों का विवेचन कवि की दृष्टि से तो किया ही गया है, सहृदय की दृष्टि से भी किया गया है। सहृदय की दृष्टि से अर्थात् रस के भोक्ता की दृष्टि से रस-विघ्न का विवेचन 'अभिनव-भारती' में दृष्टिगत होता है। आचार्य विश्वेश्वर ने उसमें वर्णित सात विघ्नों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—१. ज्ञान (प्रतीति) के अयोग्य होना अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव, २. स्वगत (सामाजिकगत) रूप से अथवा परगत (नटगत) रूप से देश-काल विशेष का सम्बन्ध, ३. अपने (व्यक्तिगत) सुखादि के वश (सामाजिक का)

हो जाना ४. प्रतीति के उचित उपायों का अभाव, ५. स्फुट प्रतीति का होना, ६. अप्रधानता, तथा ७. संशय का योग ।

रस काव्य का मूलतत्व होता है, उसकी निष्पत्ति पूर्ण और निर्विघ्न होनी चाहिए, ऐसा होने पर ही काव्य का निर्विघ्न आस्वाद प्राप्त हो सकता है, और तभी काव्य सफल कहा जा सकता है ।

अध्याय | ७

ध्वनि

प्रश्न ५३—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा दीजिए तथा यह भी बतलाइए कि ध्वनि-सिद्धान्त को प्रेरणा कहाँ से मिली ?

व्युत्पत्ति, अर्थ और परिभाषा—संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि–सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि शब्द की निष्पत्ति—'ध्वन्' धातु 'इ' प्रत्यय के संयोग से हुई है। इस ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ—कानों को सुनाई पड़ने वाला नाद है। किन्तु पारिभाषिक रूप में अभिनवगुप्त ने इस शब्द के कई अर्थ माने हैं। तदनुसार ध्वनि के निम्न व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ हैं—

(१) ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(२) ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(३) ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु-व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार-व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(५) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्वद्ध पाँच अर्थों में होता है—१. व्यंजक शब्द, २. व्यंजक अर्थ, ३. व्यङ्ग्य अर्थ, ४. व्यंजना (व्यंजना व्यापार) और ५. व्यङ्ग्य प्रधान काव्य। अभिनवगुप्त ने ध्वनि के इन अर्थों की ओर अपनी टिप्पणी में इस प्रकार संकेत किया है—"सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है।...यह 'काव्य विशेष' का अर्थ है; अर्थ या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द अर्थवाच्य (व्यंजक) अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।"*

ध्वनि का लक्षण एवं उसकी व्याख्या आनन्दवर्धन ने विशेष रूप से की है। उनके अनुसार जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य-विशेष को विद्वान ध्वनि कहते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसजर्नीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

इसकी व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने आगे भी लिखा है कि—"यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनि-रिति।" अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि है।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ है व्यङ्ग्य, परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यङ्ग्य

---

*सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः।...स (काव्य-विशेषः) इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपिवाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्य रूप मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्। हिन्दी ध्वन्यालोक भूमिका : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २३।

वाच्यातिशायी होना चाहिए—वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः (साहित्यदर्पण)। इस प्राधान्य का एकमात्र आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष— 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्योः प्राधान्यविवक्षा।' (ध्वन्यालोक) इस प्रकार ध्वनि का स्पष्ट और संक्षिप्त अर्थ है—"वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य" इसी बात को मम्मट ने इन शब्दों में कहा है—"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

लेकिन एक बात है कि प्रत्येक शब्द का कोई व्यंग्य अर्थ निकाला जा सकता है तो क्या प्रत्येक व्यंग्यार्थ माना जा सकता है ? इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया है कि प्रत्येक व्यंग्य अर्थ ध्वन्यार्थ नहीं है अपितु चमत्कारी व्यंग्य ही काव्य के रूप में प्रशंसा प्राप्त कर सकता है। महाकवियों की वाणी में यह चमत्कारी व्यंग्य अर्थ एक विलक्षण अर्थ ही हुआ करता है— रमणी के लावण्य के समान यह केवल सहृदयों द्वारा अनुभूत होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवाङ्गनासु।।

ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा ध्वनिकार को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। इसके लिए वे वैयाकरणों के ऋण को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि—प्रथम विद्वान् वैयाकरण ही हैं क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वे सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मतानुयायी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य-पद व्यवहार्य को ध्वनि कहा है—"प्रथमेहि विद्वांसो वैयाकरणः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविधानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।" (ध्वन्यालोक १।१३)

वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के सादृश्य के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई है। उनके अनुसार "जिस प्रकार किसी शब्द की पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ (वर्ण) अर्थ का बोध कराने में असमर्थ रहती हैं और उनके स्फोट द्वारा ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्य में केवल वाच्यार्थ काव्यगत

मूल सौन्दर्य को नहीं जाना जा सकता है। काव्य का वास्तविक अर्थ वस्तुतः व्यंग्यार्थ ही प्रकट कर सकता है। इस अकथित अर्थ का बोध कराना अभिधा और लक्षणा नामक शब्द-शक्तियों के वश के बाहर है। इसका ज्ञान मात्र व्यंजना करा सकती है। यह जिस प्रच्छन्न अर्थ का उद्घाटन करती है, उसी में काव्य का सौन्दर्य निहित रहता है। जिस प्रकार किसी घण्टे के बजाये जाने पर पहले कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती हैं और पुनः वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर होती जाती है, उसी प्रकार काव्य में पहले वाच्यार्थ का भान होता है और पुनः सहृदय हृदय को आह्लादकारी गूढ़ व्यंजना का बोध होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यह ध्वनि सिद्धान्त व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त तथा शब्द-शक्तियों के भव्यभवन पर खड़ा हुआ है।

प्रश्न—ध्वनि का काव्य के अन्य तत्वों से साम्य तथा वैष्मय स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—ध्वनि और रस—आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत रस और भाव आदि पर विचार किया है। आनन्द के मत में काव्य का सर्वाधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण तत्व ध्वनि है। ध्वनि काव्य की आत्मा भी है किन्तु रस काव्य की आत्मा नहीं। भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभावादि का कथन होता है, उनके संयोग से परिपक्व रस का नहीं अर्थात् रस वाच्य नहीं होता क्योंकि इससे रसादि की प्रतीति नहीं होती और वह रस-दोष भी हो जाता है। "वास्तव में रस केवल प्रतीत होता है। रस सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति है, जो अर्थवोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष अनुभूति होती है—पारिभाषिक शब्दों में व्यंजन या ध्वनन होता है। इसी को ध्वनिकार रसध्वनि मानते हैं।" यही सर्वोत्तम काव्य है। ध्वनि सिद्धान्त में काव्य के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य के तीन भेद-रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि हैं। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। रस ध्वनि के अभाव में रह नहीं सकता। इसलिए ध्वनि का महत्व रस से अधिक है।

"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। यहाँ मात्र अर्थ का बोध नहीं कराया जाता है। अपितु अनुभूति कराई जाती है। आशय यह है कि रस सहृदय की दृष्टि से संवेद्य है, वाच्य नहीं। संवेदन भाषा-चित्र द्वारा कवि कल्पनाजन्य है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस' के इस संवेद्य रूप को ही 'रसध्वनि' कहा है और यही तत्व काव्य की आत्मा है।"

ध्वनि में अन्य काव्य के तत्वों का समाहार—ध्वनिवादियों ने ध्वनि में काव्य के अन्य सभी तत्वों का समाहार कर लिया है उनके अनुसार रस की भाँति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है और न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का और न वक्रता का ही। यह सब ध्वनि-रूप में उपस्थित रहते हैं।

एक अन्य कारण यह भी है कि गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व प्रत्यक्षतः वाच्यार्थ द्वारा मन को आनन्दित नहीं करते इनका महत्व भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा, वहाँ ये आत्माविहीन तत्व आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अङ्गी के अंग मात्र हैं ऐसा कहा है। आशय यह है कि ध्वनि सम्प्रदाय रस और ध्वनि को विशेष महत्व देता है अन्य काव्यतत्वों को इतना नहीं।

प्रश्न ५५—ध्वनि के भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर:—संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि के भेदों की चर्चा की है।

---

१. लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षित वाच्य ध्वनि)

२. अभिधामूला ध्वनि (विवक्षित वाच्य ध्वनि)

लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि—जहाँ व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन का अभाव रहता है वहाँ पर अवि-

वक्षित वाच्य ध्वनि होती है। ऐसे स्थलों पर व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है इसलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं। लक्षणामूला या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो अन्य भेद भी हैं—१. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और २. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि—जब वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न कर अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य-ध्वनि होती है। मम्मट ने इसका लक्षण लिखा है; —जब शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण के अनुकूल न होकर अपने विशेष अर्थान्तर में परिणत हो जाता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है जैसे—

कौन भाँति रहिहै विरद अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसों आइ के गीधे गीधहिं तारि॥ (बिहारी)

इस दोहे का शाब्दिक अर्थ है कि आप गीध का उद्धार करके लपक गए हैं। इसका लक्ष्यार्थ है कि "निम्न कोटि के व्यक्तियों को तारकर आपको गर्व हो गया है। इसका व्यंग्यार्थ है कि "आपका यश गीध जैसे तुच्छ पापी के उद्धार करने से नहीं है अपितु मुझ जैसे महान् पापी का उद्धार करने पर ही आपकी कीर्ति स्थिर रह सकेगी।" इनमें 'गीध' शब्द में अर्थान्तर संक्रमित किया गया है। अतः इस दोहे में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि है। इस ध्वनि के दो भेद होते हैं—एक पदगत और दूसरा वाक्यगत। पद में केवल एक शब्द का अर्थान्तर में संक्रमण होता है जबकि वाक्यगत में सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ ही बदल जाता है। पदगत-अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि का उदाहरण—

"रोयें क्या अबलायें सदैव ही अबलायें बेचारी।

गुप्तजी

इस उद्धरण में प्रथम अवलाएँ स्त्रियों के अर्थ में हैं जबकि दूसरे 'अवलाएँ' शब्द का मुख्यार्थ बाधित होकर लाक्षणिक अर्थ 'निर्बलता' को व्यक्त करता है। इसका ध्वनिगत आशय यह है कि स्त्रियाँ निर्बल हैं। किन्तु व्यंग्य यह है कि स्त्रियों को समर्थ बनना चाहिए।

वाक्यगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही॥
(भारतीय आत्मा)

इसमें 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य वीर, देश प्रेमी के अर्थ को व्यक्त कर रहा है।

२. अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि—जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार या परित्याग हो जाता है वह अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है। इस ध्वनि में मुख्यार्थ का तिरस्कार होता है, उसको छोड़कर दूसरा अर्थ लगाना पड़ता है।

उदाहरण—

तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग। (बिहारी)

डूबना या तैरना नदी, तालाब आदि में ही सम्भव है किन्तु तंत्रीनाद आदि में नहीं। अतः डूबने और तैरने का यहाँ अर्थ वाच्यार्थ से तिरस्कृत होकर 'सराबोर होना' व्यंग्यार्थ है। इस ध्वनि के भी पदगत तथा वाक्यगत दो भेद होते हैं।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके॥ (प्रसाद)

इस पद में नील कमल में मोती के समान आँसू सजे हुए हैं।" इसमें 'नीलोत्पल' अपने मुख्यार्थ का पूर्णतः त्यागकर नेत्र का अर्थ व्यक्त कर रहा है। अतः वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार है। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य से नेत्रों की विशालता एवं सुन्दरता ध्वनित हो रही है। इसलिए इस उदाहरण में 'पद-गत अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है—

वाक्यगत-अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि

सुबरन फूलन की धरा जोरत है नर तीन।
सूर और विद्या निपुन सेवा में जु प्रवीन॥

इस उदाहरण में 'सोने के फूलों का पृथ्वी पर एकत्र करना' मुख्यार्थ है। किन्तु न तो सोने के फूल की पृथ्वी होती है और न पृथ्वी एकत्र की जा सकती है। यहाँ मुख्यार्थ का बोध हो रहा है। इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि मनुष्य पौरुष, विद्या एवं सेवा के द्वारा मूल्यवान् सम्पत्ति अर्जित कर सकता है किन्तु व्यंग्यार्थ है "वीर, विद्वान् एवं प्रवीण सेवकों का प्रशस्ति-गान।"

अभिधामूला-विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि

"जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात् वाच्यार्थ अभीष्ट हो, तथा वह व्यंग्यनिष्ठ हो, वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है।" जिस ध्वनि के मूल में अभिधा होती है—वह अभिधामूला ध्वनि कहलाती है।[१] अभिधामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—सलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रतीति में जहाँ पौर्वापर्यक्रम रहता है, वहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि होती है। इसमें वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है। इसे अनुरणन-ध्वनि भी कहते हैं। इस ध्वनि के विषय में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि "अनुरणन (अनुस्वान) के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है, वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। वह ध्वनि शब्द, अर्थ, तथा उभय (शब्द एवं अर्थ) की व्यंजना द्वारा उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की कही गई है।[२] ध्वन्यालोककार केवल दो—शब्दशक्तिउद्भव तथा अर्थशक्ति उद्भव ध्वनियाँ मानते हैं, वे उभयशक्ति मूलक भेद स्वीकार नहीं करते हैं, [ध्वन्यालोक

---

१. सा० द० ४।२—की वृत्ति—विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः अतएवात्र वाच्यं विवक्षितम्। अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यंग्यार्थस्य प्रकाशकः यथा प्रदीपो घटस्य।

२. का० प्र० ४।३७-३८, अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्थितिस्तु यः। शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः॥

२।२०] किन्तु साहित्यदर्पणकार इस विषय में मम्मट के अनुयायी हैं और वे तीनों भेद स्वीकार करते हैं, [सा० द० ४।६]। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के तीन भेद होते हैं—

(१) शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।
(२) अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।
(३) शब्दार्थोभय शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ को बोध कराने का सामर्थ्य किसी शब्द विशेष में ही हो (पर्यायवाची शब्दों में नहीं), वहाँ शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि होती है। जैसे—

देख वसुधा का यौवनभार
गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास॥ (पन्त)

इस पद में 'वसुधा का यौवनभार देखकर मधुमास का गुंजित हो उठना' एक बात है, इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ यह है कि 'नायिका का यौवन देखकर नायक पुलकित हो उठता है।' यह हम इस पद में मधुमास के स्थान पर वसन्त आदि शब्द रख दें तो नायक-नायिका का भाव व्यंजित नहीं हो सकता है, अतः इस पद में 'शब्दशक्ति उद्भव-अनुरणन-ध्वनि' है।

इसी प्रकार नीचे के उदाहरण में 'जीवन' शब्द श्लिष्ट (जल और जीवन) है, उसमें भी शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि है—

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर राह बनाता।
जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता॥

आशय यह है कि 'पहाड़ से निकलने वाला जीवन (पानी) निर्मल होता है। यह वाच्यार्थ है। किन्तु व्यंग्यार्थ यहाँ यह है कि 'वही मनुष्य पवित्र और गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी आपत्तियों को झेलकर आगे बढ़ता है।'

शब्दशक्ति ध्वनि के चार भेद हैं—

(१) पदगत वस्तु ध्वनि, (२) पदगत कलंकार ध्वनि, (३) वाक्यगत वस्तु ध्वनि, (४) वाक्यगत अलंकार ध्वनि ।

अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि

जहाँ अर्थ की शक्ति से ध्वनि की प्रतीति होती है, वहाँ अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि होती है । इस ध्वनि में शब्द परिवर्तन होने पर भी पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से भी ध्वनि बनी रहती है । इसके तीन भेद होते हैं—

(१) स्वतः संभवी,
(२) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध,
(३) कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध ।

इन तीनों ध्वनियों के चार-चार अवान्तर भेद होते हैं—

(१) वस्तु से वस्तु ध्वनि,
(२) वस्तु से अलंकार ध्वनि,
(३) अलंकार से वस्तु ध्वनि,
(४) अलंकार से अलंकार ध्वनि ।

इसके बाद प्रत्येक ध्वनि के तीन-तीन अन्य पदगत, वाक्यगत और प्रबन्ध-गत भेद भी होते हैं ।

किन्तु ध्वन्यालोककार ने इन ध्वनियों में से केवल निम्न भेद स्वीकार किये हैं—

(१) कविनिबद्ध प्रौढ़ोक्ति सिद्ध—अर्थ, एवं स्वतः सम्भवी अर्थ तथा प्रत्येक के वस्तुव्यंग्य एवं अलंकार व्यंग्य दो-दो भेद माने हैं (ध्वन्यालोक २।२२-२५) । किन्तु मम्मट ने अर्थशक्ति के तीन भेद स्वीकार कर कवि प्रौढ़ोक्ति से कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्ति को अलग कर दिया है (का० प्र० ४।३९-४१) । हेमचन्द्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट का विरोध किया है ।

अर्थशक्ति उद्भव स्वतः सम्भवी ध्वनि का उदाहरण—

हे महाराज !
ईश्वर की गाज

यहाँ गिरी है विपत बड़ी
पड़ा है अकाल
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल ।

(निराला : अनामिका)

इस उदाहरण में पेड़ों की छाल खाकर पेट भरने से भयंकर अकाल की व्यंजना हो रही है । यदि पेड़, छाल और पेट के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करें, तो भी व्यंग्यार्थ बना ही रहेगा ।

इसी प्रकार—

दमकत दरपन दरप दरि, दीपसिखा दुति देह ।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दसदिसि निस नेह ।।

इस उदाहरण की प्रथम पंक्ति के 'दीपसिखा दुति देह' में उपमा अलंकार, तीसरे चौथे पद में व्यतिरेक अलंकार प्रथम चरण में प्रतीप अलंकार हैं । इन अलंकारों में सौन्दर्य व्यंग्य है । अतः इस पद में स्वतः संभवी-पदगत-अलंकार वस्तु-ध्वनि है ।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध—

सिय वियोग दुख केहि विधि, कहाँ बखानि ।
फूल बान से मनसिज वेधत आनि ।।

'फूलवान' कवियों के संसार में विरह-या प्रेम की अधिकता के सूचक हैं । अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति द्वारा पदगत-वस्तु से वस्तु-ध्वनि है ।

शब्दार्थशक्ति संभव-ध्वनि—

जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की संयुक्त शक्ति द्वारा व्यंग्य की प्रतीति होती है वहाँ 'शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्‌भव अनुरणन-ध्वनि होती है । मम्मट ने इसका केवल एक भेद माना है—"शब्दार्थोभयभूरेक'" ।

उदाहरण

बड़े बंस की जान जिय अधरै रहत लगाई ।
शब्द सुगुन सुन स्याम अब बाजुरि हाथ बिकाई ।।

इस उदाहरण में 'बड़े वंस' शब्द तथा 'अधर लगाई' के अर्थ द्वारा यह ध्वनित होता है कि उच्चकुल की नायिका को नायक ने वशीभूत कर लिया है।

संस्कृत साहित्य में ध्वनि के भेदोपभेदों की विस्तार से चर्चा हुई है। हिन्दी में उसका अनुकरण किया गया है, किन्तु विस्तार के भय से प्रत्येक का सोदाहरण विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अतः हिन्दी साहित्य कोश* के अनुसार उनका विवरण इस प्रकार है—"....ध्वनि के सबसे महत्वपूर्ण भेद ४ हैं—(१) अर्थान्तर संक्रमित, (२) अत्यन्ततिरस्कृत, (३) असंलक्ष्य तथा (४) संलक्ष्य। कुछ और विस्तार में जाने पर इसके प्रमुख भेद १८ ठहरते हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि २ भेद + विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि १६ भेद = १८ भेद। असंलक्ष्यक्रमध्वनि १ भेद + संलक्ष्यक्रमध्वनि १५ भेद = १६ भेद।

शब्दशक्त्युद्भव २ भेद + अर्थशक्त्युद्भव १२ भेद + उभयशक्त्युद्भव १ भेद = १५ भेद। पदवाक्य आदि की दृष्टि से किये गये भेदों को ध्यान में रखते हुए ध्वनि के कुल मिलाकर ५१ शुद्ध भेदोपभेद किये गये हैं।"

प्रश्न ५६—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर काव्य में वाच्यार्थ ग्रहण करते समय जब क्रम लक्षित नहीं होता है, किन्तु यह निश्चित रहता है कि यह वाच्यार्थ है और उसके अनन्तर व्यंग्यार्थ, वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि काव्य कहलाता है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम होते हुए भी निश्चित नहीं होता है। नैयायिकों का 'शतपत्र-भेदनन्याय' प्रसिद्ध है—यदि हम सौ कमल की पंखुड़ियों में एक साथ सुई बेधें तो यह स्पष्ट रूप से नहीं जान सकेंगे कि कब किस पंखुड़ी में सूचिवेध हुआ है। इसी प्रकार इस ध्वनि में होता है। "रस, भाव रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं। भावादिक में भी आस्वादन रूप रसन धर्म का सम्बन्ध

*हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० २६२।

होने कारण 'रस' पद का लक्षणा से प्रयोग होता है।"[1] अभिधामूलाध्वनि में वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थ की पुष्टि करने लगता है। जहाँ व्यग्यार्थ की प्रतीति का क्रम असंलक्ष्य (अलक्षित) रहता है अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति के पूर्वापर का क्रम नहीं जाना जाता, वहाँ असंलक्ष्य ध्वनि होती है। इस ध्वनि में पहले वाच्यार्थ के रूप में विभाव, अनुभाव आदि ज्ञात होते हैं फिर व्यंग्यार्थ के रूप में रस, भाव आदि की व्यंजनाएँ होती हैं। विभावानुभाव से रसादि की प्रतीति का बोध क्रमपूर्वक तो अवश्य होता है— यदि यह बोध क्रमपूर्वक न होता तो इस ध्वनि का नाम असंलक्ष्य अथवा अलक्ष्य न होकर अक्रम होता, किन्तु यह प्रतीति शतपत्र-भेदन-न्याय के सदृश इतनी शीघ्रता से होती है कि इस क्रम को जान सकना सम्भव नहीं होता।"[2] रस के मुख्य होने पर भी भावशान्ति आदि कभी-कभी प्रधानता प्राप्त हो जाते हैं।[3]

रस—रस को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग के अन्तर्गत क्यों रखा गया है, इसका उत्तर यह है कि विभावादि द्वारा जो रस की अनुभूति होती है, उसमें किसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। यद्यपि पूर्वापर सम्बन्ध तो होता है किन्तु वह क्रम प्रतीति नहीं होता है। क्योंकि रस भी ध्वनित होता है, अतः इसे ध्वनि में स्थान दिया गया है। एक प्रश्न यहाँ यह भी होता है कि रसध्वनि और भावध्वनि में क्या अन्तर है—"जहाँ रस का कोई अङ्ग स्थायी भाव या व्यभिचारी भाव विशेष चमत्कारक प्रतीत हुआ करता है, वहाँ भावध्वनि कहलाती है, परन्तु जहाँ प्रधानतया रस ध्वनि होता है, वहाँ रस-ध्वनि ही है, भाव ध्वनि में रसध्वनि के समान उत्कट आनन्द की प्रतीति नहीं होती, इस विषय में सहृदयों का अनुभव प्रमाण है।" साहित्यदर्पणकार के मतानुसार 'भाव' आदि का भी आस्वादन किया जाता है, अतः वे भी औप-

---

१. सा० द० ३।२५६-६० रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिशबलता चेतिसर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८७।

३. का० प्र० मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन॥

चारिक रूप से रस ही हैं—"रसनाद्रसाः रसधर्मयोगित्वाद् भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।" जहाँ वर्णन में रस व्यंग्य होता है, वहाँ पर रसध्वनि होती है।

उदाहरण

लखि ससंक सूनो सदन, मन्दहास गतिमन्द।
चन्द्रमुखी कौ अंक भरि, लूट्यो सुख ब्रजचन्द॥

इस उदाहरण में राधा आलम्बन, ब्रजचन्द्र आश्रय, चन्द्रमा तथा सूना घर आदि उद्दीपन हैं, आलिंगन अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार संयोग शृंगार रस की अभिव्यक्ति हो रही है। अतः इसमें रस-ध्वनि है।

भावध्वनि—"देवतादि विषयक रति आदि स्थायी भावों की वर्णना और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र अभिव्यंजना में भावध्वनि कही जाती है।" आचार्य मम्मट के अनुसार भावध्वनि का लक्षण इस प्रकार है—"जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादि विषयक रति तथा उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव का वर्णन 'भाव' मात्र कहलाता है।* उपर्युक्त लक्षण के अनुसार भाव के तीन भेद होते हैं—

(१) प्रधान रूप से प्रकट होने वाला संचारी।
(२) देवादि विषयक रति।
(३) केवल उद्बुद्ध स्थायी भाव।

(१) उदाहरण

प्रधान रूप से शंका संचारी को प्रकट करने वाले उदाहरण के रूप में सूर का यह पद लिया जा सकता है—

मधुकर! देखि श्याम तन तेरो।
हरिमुख की सुन मीठी बातें डरपत है मन मेरो।

इस पद में मन का 'डरना' शंका संचारी है।

---

१. का० प्र० ४।३५ रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः।

इसी प्रकार विहारी के इस दोहे में 'शंका' संचारी प्रधान रूप से व्यंजित है—

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पटु ढाँकि।
पावक झर-सी झमकि कै, गयी झरोखा झाँकि॥

(६४६)

इस दोहे में लज्जा एवं स्मरण संचारी का वर्णन ही प्रमुख है।

(२) देवादि विषयक रति का उदाहरण

देवादि विषयक रति के रूप में सूर और तुलसी के विनय के पदों को लिया जा सकता है—

(१) चरण कमल बन्दौ हरिराई।
(२) अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान॥

(सू० सा०)

तुलसी का गुरु विषयक रति का एक उदाहरण—

बन्दौं गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।

(रा० च० मा०)

(३) केवल उद्बुद्ध स्थायी भाव का उदाहरण

(१) जो राउर अनुशासन पाऊँ, कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।
काँचे घट ज्यों डारौं फोरी, सकौं मेरु मूलक इव तोरी॥

(परशुराम संवाद : मानस)

(२) कर कुठार में अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही।
उतर देत छाड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे।

(परशुराम संवाद : मानस)

इस दोनों ही उद्धरणों में आलम्बन, उद्दीपन और अनुभावादि के रहने पर भी स्थायी भाव की पुष्टि नहीं होती है।

इस ध्वनि में "भाव और रस की व्यंजना अत्यन्त चमत्कारी और रमणीय होने के कारण सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।"

रसाभास—"रसनिष्पत्ति के लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्य के आंशिक अभाव में जब सहृदय को रस के स्थान पर रस के आभास की प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्था में प्राचीन आचार्यों के द्वारा 'रसाभास' की स्थिति मानी गयी है।" मम्मट ने लिखा है कि 'तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः'। उदाहरण के लिए केशवदास का यह दोहा लिया जा सकता है—

केशव केसनि अस करी जस अरिहूँ न कराहिं ।।
चन्द्रवदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।

इसमें वयोवृद्ध महाकवि केशव की चन्द्रवदनी बालाओं के प्रति अनुराग-वृत्ति की व्यंजना अनौचित्यपूर्ण होने के कारण रसाभास उत्पन्न हो रहा है।

रसाभास के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि एक ही वर्णन किसी सहृदय के लिए रस और दूसरे के लिए रसाभास हो सकता है। "अतः रसाभास के लिए कोई निश्चित नियम बना देना कठिन है।" इसलिए रसाभास की हिन्दी में जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, वे प्रायः अस्पष्ट हैं।

भावाभास—भावव्यंजना के किसी पक्ष में जब अनौचित्य दोष आ जाता है—"तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः" तब वहाँ भावाभास नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि होती है। प्रधान कारण अनौचित्य ही है। यह रसाभास का समानान्तर है। विश्वनाथ ने भावाभास का निम्न लक्षण लिखा है—वेश्या आदि में यदि लज्जा आदि दृष्टिगत हों, तो भावाभास होता है—"भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् (सा० द० ३।२६६। हिन्दी के आचार्यों में पद्माकर ने तो विश्वनाथ के अनुकरण पर ही इसका लक्षण लिखा है। वैसे हिन्दी के काव्याचार्य अनुचित स्थल पर भावप्रकाशन की स्थिति में भावाभास मानते हैं—"भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावाभास।" (भिखारी दास : का० नि० पृ० ४२)। कन्हैयालाल पोद्दार अनौचित्य की अपेक्षा व्यभिचारी आदि की प्रधानता होने पर भावाभास मानते हैं।

उदाहरण

दरपन में निज छाँह संग लखि पीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की ल्याई अँखियन माँहि ॥

इस उदाहरण में क्रोध का सार्थक होना व्यंजित नहीं है।

अन्य उदाहरण

प्रीति करै तू बावरे, अनचाहत के संग।
दीपक के मन कुछ नहीं, जब जल मरै पतंग ॥

(अमीरदास)

इस दोहे में एकाङ्गी भाव का वर्णन है। अतः भावाभास है।

भावशान्ति—"जहाँ पहले से वर्तमान किसी भाव की शान्ति चमत्कार-पूर्वक सहसा हो जाय, वहाँ भावशान्ति की अवस्था मानी जाती है। दूसरे भाव के उदय की अपेक्षा पूर्वस्थित भाव की शन्ति ही अधिक महत्त्व एवं चमत्कारिक होनी चाहिये, अन्यथा 'भावोदय, की प्रधानता के कारण भावशान्ति की स्थिति गौण हो जायगी।"

उदाहरण

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को।

(प्रिय प्रवास)

इस पद में उद्धव को आता देख हर्ष का भाव, कृष्ण के अभाव में विषाद रूप में शान्त हो जाता है; अतः भावशान्ति नामक असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि होती है।

अन्य उदाहरण

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ।
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।

फिरा हमें गांडीव गदा ।
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर ॥
(दिनकर : हिमालय-रेणुका)

इस उदाहरण की अन्तिम दो पंक्तियों में उत्साह भाव के उद्बुद्ध होने से प्रथम दो पंक्तियों का वैराग्य भाव शान्त हुआ है।

भावोदय—जहाँ एक भाव के शान्त होते ही किसी दूसरे भाव का चमत्कारपूर्ण उदय व्यक्त किया जाय, वहाँ भावोदय की अवस्था होती है। किसी शान्त होते हुए भाव के उदय का नाम भावोदय है। हिन्दी के आचार्य वेनी प्रवीन ने भावोदय का लक्षण यह लिखा है—

काहू भाव विभाव तें, भाव उदै जो होइ।
ताही सों सब कहत हैं, भाव उदै कबि लोइ॥

उदाहरण

विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं।
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
किन्तु विना पंखों के विचार सब रीते हैं।
हाय पक्षियों से भी मनुष्य गये बीते हैं।
(मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा)

इस उदाहरण की अन्तिम पंक्ति में विषाद भाव का उदय चमत्कारिक रूप में व्यक्त है अतः भावोदय नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है।

भावशान्ति के दिये गये दोनों उदाहरणों की अंतिम पंक्तियों में 'भावोदय' नामक ध्वनि है। प्रथम उदाहरण में कृष्ण को न पाकर ग्वालों में विषाद का उदय द्वितीय उदाहरण की अन्तिम दो पंक्तियों में उत्साह भाव का उदय हो रहा है।

भावसन्धि—जहाँ पर समान चमत्कारी दो भावों का एक साथ उदय दिखाया जाय, वहाँ भावसन्धि नामक ध्वनि होती है। "इस सन्धिस्थल का चमत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावों की सन्धि हो, वे अविरोधी अथवा एक प्रकृति के ही हों भिन्न प्रकृति के

विरोधी भावों के बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चमत्कारिक भी होते हैं।"

उदाहरण

तब तू मारिबोई करति
रिसनि आगे कहै जो आवत अब लैं भाँडे भरति।

सूरदास के इस पद में प्रेम भाव के अन्तर्गत झुँझलाहट की सन्धि महत्वपूर्ण है।

अन्य उदाहरण

(१) प्रिय विछुरन को दुसह दुख हरष जात प्यौसार।
दुरयोधन लौं देखियत तजत प्राण इहि वार॥
(विहारी—१५)

इस दोहे में सुख-दुःख, हर्ष और विरह के भावों की सुन्दर सन्धि है, अतः भावसन्धि नामक ध्वनि है।

(२) छुटै न लाज न लालचौ, प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे, धरे संकोच सनेह॥

इस दोहे में भी संकोच और स्नेह के भावों की मिलन-सन्धि विद्यमान है। अतः इसमें भावसन्धि नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है।

भावशवलता—जहाँ एक ही क्रम से दो से अधिक चमत्कारकारक समान भावों का उदय वर्णित हो, वहाँ भावशवलता ध्वनि होती है। इसका स्पष्ट विवेचन 'हिन्दी साहित्य कोश' में इस प्रकार है—

"जहाँ एक के पश्चात् एक इस प्रकार श्रृंखलाबद्ध क्रम से अनेक भाव प्रकट हो जायँ अथवा अनेक भावों का एक साथ मिश्रण दिखाई दे, वहाँ भावशवलता मानी जाती है। आगे आनेवाला भाव अपने से पिछले भाव को मर्दित करता हुआ प्रतीत हो, इसी में भावशवलता का चमत्कार निहित रहता है और हिन्दी के अनेक आचार्यों ने इस विशेषता पर वल दिया है। बेनी प्रवीन के अनुसार भावशवलता का लक्षण इस प्रकार है—

एक एक को मरदिकै, उपजत भाव अनेक।
भावसबलता कहत हैं, जिनके बुद्धि विवेक॥
(न० र० त० पृ० ५५)

भिखारीदास का लक्षण इससे कुछ भिन्न है—

बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रकट करै इक रंग।
सबल भाव तासौं कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग॥
(का० नि० ५।५०)

उदाहरण

नन्द व्रज लीजै ठोंक बजाय।
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुलराय॥

सूर के इस पद में उत्सुकता, अधीरता, विरक्ति आदि कई भावों का सम्मिश्रण है।

अन्य उदाहरण

(१) दृग ललके राते भये, रूखे झलके भाय।
नेह भरे लखि लोचनन, सकुचे परसत पाय॥

इस दोहे में नेत्रों के ललकने में उत्सुकता, रीतेभये में उदासीनता, रूखे झलकने में दीनता, तृतीय तथा चतुर्थ चरण में लज्जा आदि भावों का शवलत्व है।

(२) ये श्वापद से हिंसक अधीर।
कोमल शावक वह बालवीर।
सुनता था वह वाणी शीतल।
कितना दुलार कितना निर्मल।
कैसा कठोर है तव हृत्तल।
वह इड़ा कर गई फिर भी छल॥
(प्रसाद: कामायनी)

इस पद में घृणा, गर्व, शंका, वात्सल्य, आश्चर्य आदि अनेक भावों का वर्णन है, अतः भावशबलता नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है।

प्रश्न ५७—गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिये।

उत्तर—जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष-युक्त हो जाता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का दूसरा भेद होता है।[1] इस गुणीभूतव्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही ध्वनि एवं गुणीभूतकाव्य के अन्तर का कारण है—"ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य होता है। उस (व्यंग्य) के गुणीभूत हो जाने पर वाच्यार्थ के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूतव्यंग्य नाम का काव्य भेद माना जाता है।[2] आचार्य आनन्दवर्धन ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्यभेद होता है और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है—"व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि संज्ञितः काव्यप्रकारः गुणाभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता" (३।४२) ध्वन्यालोक)। इसी आशय को विश्वनाथ ने व्यक्त करते हुए लिखा है कि—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अनुत्तम होता है, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है।[3] मम्मट ने ध्वनि काव्य को उत्तम तथा गुणीभूत काव्य को मध्यम काव्य कहा है।[4] किन्तु मम्मट का

---

१. ध्वन्यालोक ३।३५ :

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥

२. वही-वृत्ति व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्य यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुण भावेन वाच्य चारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्य-प्रभेदः प्रकल्प्यते।

३. सा० द० ४।१३ "अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये"

४. का० प्र० १।३ "अतादृशी गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्"

अपना मत है क्योंकि ध्वनिकार ने इन दोनों को पृथक् काव्य का प्रकार माना है। वे ध्वनि को ही सहृदय हृदयों के लिए आह्लादकारी मानते हैं। साथ ही वे गुणीभूतव्यंग्य काव्य को ध्वनि का निष्यन्द मानते हैं।[1] पंडितराज जगन्नाथ गुणीभूतव्यंग्य काव्य को उत्तम काव्य मानते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ का अस्तित्व रहता है। "चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है।" फिर भी यह स्पष्ट है कि ध्वनि की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य काव्य निम्न कोटि के रस का आस्वाद प्रस्तुत करता है, क्योंकि इस काव्य के अन्तर्गत वे अलंकृत सूक्तियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं जिनमें कोई न कोई अलङ्कार रहा करता है अथवा अलङ्कारवादी जिसे अलङ्कार कह सकते हैं। "जिन रचनाओं में व्यंग्य का संस्पर्शमात्र भी रहे तथा जिनमें रूपकादि अलङ्कार हों वे सभी काव्य गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।" आशय यह है कि "गुणीभूतव्यंग्य वस्तुतः वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्य विशिष्ट हुआ करता है। वह ध्वनि का ही एक निष्यन्द है, चाहे व्यंग्यार्थ प्रधान होकर रहे या अप्रधान होकर रहे।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—अगूढ़, अपरांगव्यंग्य, वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्य, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुंदर।[2]

अगूढ़ व्यंग्य—जहाँ सामान्य जनों को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहज हो जाती है, वहाँ अगूढ़ व्यंग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है (अगूढ़म् असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम्'—काव्य प्रकाश बालबोधिनी टीका)

---

१. ध्वन्यालोक तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि···।

२. का० प्र० ५।४५

अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥

उदाहरण

अंगद तुही बालिकर बालक। उपजेउ वंश अनल कुल घालक।
गर्भ न गयेउ वृथा तुम जाये। निजमुख तापस दूत कहाये।
अब कहु कुशल बालि कहँ अहई। बिहँसि वचन अंगद तब कहई॥
(तुलसी : रामचरितमानस)

इन पंक्तियों में रावण अंगद का परिचय पाकर कह रहा है कि हे अंगद तुम्हारा बालि के यहाँ जन्म लेना वृथा हुआ। इससे गर्भ ही नष्ट हो जाता तो अच्छा था, तब तुम्हें तपस्वियों का दूत नहीं बनना पड़ता। खैर, बताओ बालि कहाँ है? इन पंक्तियों में यह व्यंग्य निकलता है कि तू बालि का नालायक पुत्र है। तू अपने पिता के घातक राम का दूत बनकर यहाँ आया है। अतः तुझे लज्जा आनी चाहिए। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट या अगूढ़ है।

अपरांग व्यंग्य—"जहाँ एक व्यंग्यार्थ किसी अन्य व्यंग्यार्थ का अंग होता है, वहाँ अपरांग गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। इसमें रस, भाव, भावाभास आदि एक दूसरे के अंग बन जाते हैं।" जैसे—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि मैं डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।
(भारतीय आत्मा : माखनलाल चतुर्वेदी)

इस उदाहरण में विभिन्न कामनाओं की अभिव्यक्ति में शान्तरस की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु अन्ततः वीर रस में परिणति हुई है। "इसलिए इस कविता में शान्तरस एवं रति भाव की अपरांगता है। प्रधान है वीर विषयक रति भाव एवं शान्तरस गौण है। इसी प्रकार—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस कै, खरे लजाने लाल।।

(बिहारी ६०१)

इस दोहे में कम्प एवं रति का लज्जा भाव इन दोनों भावों की अपरांगता है। रति भाव की लज्जा कृष्ण के सात्विक भाव कंप का अंग है।

वाच्यसिद्धयङ्ग व्यंग्य—जब व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, तब उसे वाच्य सिद्धयङ्ग व्यंग्य कहते हैं। जैसे—

खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेर मार।
काननचारी नैन मृग नागर नरनु सिकार।।

(बिहारी ४५)

इस दोहे में कामदेव ने बड़ी-बड़ी आँखों से चतुर व्यक्तियों का शिकार करना सिखा दिया है। इस दोहे में नेत्रों के ऊपर मृगों के गुण को आरोपित कर दिया है। इस दोहे में जब तक कानों तक पहुँचने वाला अर्थ नहीं किया जायगा, तब तक रूपक बनता ही नहीं है। कानों तक पहुँचा हुआ व्यंग्यार्थ है, उसी से रूपक सिद्ध होता है। "जब तक व्यंग्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती, तब तक वाच्यार्थ उत्पन्न नहीं होता है।"

अस्फुट व्यंग्य—"जहाँ व्यंग्य गूढ़ हो, अच्छी तरह प्रकट न हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है। यह सहृदय हृदय भी कठिनता से समझ पाते हैं।" जैसे—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के।
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ।।

सामान्यतः इन पंक्तियों में प्रकृति-वर्णन प्रतीत होता है किन्तु इन पंक्तियों का गूढ़ाशय यह है कि "युवावस्था के आगमन से अनेक प्रकार की नवीन आशाएँ प्रकट हुईं।"

संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य—"जहाँ पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में से किसमें

चमत्कार अधिक है, यह सन्देह निरन्तर नना रहे वहाँ संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है—

मानहु विधि तन-अच्छ छवि स्वच्छ राखिवे काज।
दृग पग पोंछन को कियो, भूषन पायंदाज ।।
(बिहारी ४१३)

यहाँ वाच्यार्थ है—आभूषण मानो नेत्ररूपी पैरों को पोंछने के लिए पायंदाज हैं और व्यंग्यार्थ यह है कि आभूषण की शोभा शरीर की शोभा के समक्ष नगण्य है। इस दोहे में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों ही चमत्कारपूर्ण हैं। कौन प्रधान है, यह निर्णय करना कठिन है, अतः इस पद में संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि है।

तुल्यप्राधान्य—जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनों समान चमत्कारपूर्ण हों, वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है। जैसे—

दिन दिन दूनी देखिये, भीर सांझ अरु भोर।
प्यारो तेरो वदन लखि, दौरन भौंर चकोर ।।
(काव्यालोक)

इस पद में नायक किसी सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि तुम्हारे मुख सौन्दर्य को देखकर भ्रमर और चकोर दिनरात भीड़ लगाये रहते हैं। यह इस दोहे का वाच्यार्थ है। जब कि व्यंग्यार्थ है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा एवं कमल के समान सुन्दर है। इस उद्धृत पद में व्यंग्यार्थ एवं वाच्यार्थ समान सौन्दर्य वाले हैं।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—"जहाँ पर काकु (कंठ की ध्वनि विशेष) के द्वारा व्यंग्य प्रकट किया जाता है, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है। इसमें ध्वनि के विकार से व्यंग्य प्रकट होता है (काकुध्वर्नेर्विकारस्तस्या आक्षिप्तं झटितिप्रत्यायितमित्यर्थः)। उदाहरण—

है दससीस मनुज नायक।
जाके हनुमान से पायक ।।
(रामायण)

इस पंक्तियों में अंगद रावण से कह रहा है कि जिसके दूत हनुमान जैसे व्यक्ति हैं, वे श्रीराम भी मनुज हैं। काकु से स्पष्ट ध्वनि यह है कि राम मनुष्य नहीं हैं वे दिव्य हैं। अतः काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है।

असुन्दर व्यंग्य—जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कम सुन्दर हो या असुन्दर हो, वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। इसमें वाच्यार्थ अधिक सुन्दर होता है। जैसे—

विहंग सोर सुनि सुनि समुझि, पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग।।

इस पद में प्रिया प्रियतम से मिलने के लिए उत्सुक है, यह व्यंग्य है किन्तु यह व्यंग्य वाच्यार्थ से भी अधिक स्पष्ट है, अतः असुन्दर व्यंग्य है।

———

अध्याय | ८

औचित्य

प्रश्न ५८—क्षेमेन्द्र के औचित्य तत्व का विवेचन कीजिए तथा यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या औचित्य तत्व काव्य की आत्मा का पद ले सकता है ?

उत्तर—औचित्य सम्प्रदाय में काव्य की आत्मा का पद 'औचित्य' को प्राप्त है। जिस प्रकार मानव जीवन में औचित्य का महत्त्व है उसी प्रकार काव्य के जीवन में भी औचित्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। औचित्य की सीमा अति विस्तृत है। क्योंकि प्रत्येक तत्त्व का जो जिसके अनुरूप है, उसी स्थान पर प्रयोग उचित कहलाता है और उचित का भाव ही औचित्य कहा जाता है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किलं यस्य यत्
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

(औचित्य विचार चर्चा ७)

जहाँ पर औचित्य के अनुसार काव्य में कवि कार्य नहीं करता है, वहाँ काव्य उपहासास्पद हो जाता है। काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि के द्वारा काव्यास्वाद और चमत्कार वहीं मिलता है, जहाँ इनका प्रयोग औचित्य-पूर्ण होता है। रस आदि का अनुचित प्रयोग काव्यास्वाद और काव्य सौन्दर्य का घातक होता है। मुनिचन्द्र ने औचित्य के महत्त्व का आकलन करते हुए लिखा है कि "यदि काव्य में एक ओर औचित्य है तो गुण-समुदाय वहाँ विद्यमान है। यदि औचित्य नहीं है तो दूसरी ओर गुण-समुदाय भी सर्वथा व्यर्थ है !"

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी लिखा है कि "काव्य में अलंकार और गुण आदि सभी व्यर्थ हैं यदि उसमें काव्य के जीवित औचित्य का निर्वाह नहीं हुआ है।" (औ० वि० च० ४)। उन्होंने और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "अलंकार अलंकार है, अर्थात् वाह्य शोभादायक तत्त्व है, और गुण भी गुण ही है (सत्य, शील आदि की तरह), किन्तु रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन अथवा आत्मा तो औचित्य ही है—

अलङ्कारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
(औ० वि० च० ५)

"लौकिक अलकार में अलंकारत्व इसीलिए है कि वह अंगों की शोभा वढ़ाता है। यदि वह अंगों की शोभा नहीं वढ़ा पाता तो, स्वयं कितना भी सुन्दर क्यों न हो, अलंकार नहीं कहा जा सकता। सुवर्ण-निर्मित हार तभी मनोहर है जब वह ललना के वक्षस्थल पर रहकर अंग की शोभा वढ़ाता है। यदि वही नितम्ब पर लटकाया जाय तो वह केवल हारत्व को ही नहीं खोता अपितु उस ललना के अल्हड़पन को दिखलाकर उसको हास्यास्पद वना डालता है। इसी तरह काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि का जव औचित्यपूर्ण विन्यास होता है तभी वे शोभादायक होते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव औचित्य-वाद के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि यदि कोई रूपवती ललना अपने गले में मेखला, नितम्ब पर हार, हाथों में नूपुर और चरणों में केयूर पहने तो कौन उस पर नहीं हँसेगा? वैसे ही यदि कोई व्यक्ति शरणागत पर वीरता और शत्रु पर करुणा दिखावे तो कौन उसकी मूर्खता की खिल्ली नहीं उड़ायेगा? अतः औचित्य के विना न तो अलंकार वैचित्र्य पैदा करते हैं और न गुण ही सौन्दर्य वढ़ाते हैं"—

उचित स्थान विन्यासादलंकृतिरलंकृति।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।
(औ० वि० च० ६)

कण्ठे मेखलया नितम्ब-फलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर-पाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुणा ।
(औ० वि० च० ७-८)

अतः औचित्य काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है । यह काव्य के प्रत्येक अंग में रहना चाहिए क्योंकि जहाँ पर उसका अभाव होता है, वहीं वह रसभंग का कारण बनता है । आनन्दवर्धन ने भी लिखा है कि "अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और दूसरा कोई कारण नहीं है, तथा औचित्य से बढ़कर रस का परम रहस्य नहीं है ।"

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।
(ध्वन्यालोक ३।१४ की कारिका की वृत्ति से उद्धृत)

इस विवेचन के आधार पर हमारा विचार यह है कि क्षेमेन्द्र की इस औचित्य विषयक विचारधारा की मूल-प्रेरणा आनन्दवर्धन की विचारधारा ही है क्योंकि क्षेमेन्द्र के विचार आनन्दवर्धन से प्रभावित हैं । वैसे तो आनन्दवर्धन से पहले भी रुद्रट, भट्टलोल्लट, दण्डी, भामह और भरतमुनि तक ने काव्य और नाटक में औचित्य, के महत्त्व को स्वीकार किया था । यही नहीं, क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे, अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के । इस शिष्य-परम्परा से भी सिद्ध है कि क्षेमेन्द्र की विचारधारा मौलिक नहीं है वे केवल इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता ही हैं । उन्होंने काव्य के प्रत्येक पात्र, शब्द, पद, रीति, वृत्ति, गुण, वर्ण, लिंग, वचन, कारक, वाक्य, रस, भाव. अलंकार, प्रबन्ध, विषय आदि में औचित्य कें अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है ।

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और क्षेमेन्द्र 'रस' के महत्त्व को स्वीकार करते हैं । क्षेमेन्द्र की रस-सिद्धान्त में पूर्ण आस्था थी । "अभिनवगुप्त ने औचित्य से संवलित रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया था ।" क्षेमेन्द्र ने ध्वनि को महत्त्व न देकर केवल रस को मान्यता प्रदान की है, रस को काव्य का आत्म-

तत्त्व भी स्वीकार किया है और बाद में औचित्य को रस का जीवित या रस-सिद्ध काव्य का जीवित सिद्ध किया है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥
(औ० वि० च० ३)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों की व्यापक चर्चा करते हुए लिखा है कि काव्य के समस्त शरीर में जीवनभूत औचित्य की स्थिति प्रधान रूप से जहाँ-जहाँ होती है, वह इस प्रकार हैं—

पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, देश, काल, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था विचार, नाम आशीर्वचन-औचित्य के इन सत्ताईस भेदों का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इन भेदों का विस्तार से लक्षण-उदाहरण-पूर्वक विवेचन किया है। किन्तु वे इन भेदों के अतिरिक्त औचित्य के अनन्त भेद भी स्वीकार करते हैं, और विस्तार के भय से उनका उल्लेख नहीं करते हैं "अन्येषुकाव्याङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयं औचित्यं उत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि, आनन्त्यात् न प्रदर्शितानि इति अलं आतिप्रसङ्गेन।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी औचित्य तत्त्व पर विचार किया गया है। "पाश्चात्य साहित्य समीक्षण में औचित्य बाह्य सौन्दर्य का साधन है, भारत में वह कला का प्राण अन्तरंग तत्त्व है, दोनों की तुलना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। अरस्तू ने Poetics तथा Rhetoric में इसकी बड़ी मार्मिकता से समीक्षा की है। उनकी दृष्टि में गद्य को अलकृत करने तथा ऊर्जस्वी बनाने का मुख्य साधन 'रूपक' का प्रयोग है। औचित्य से सज्जित रूपक गद्य का भूषण है परन्तु अनौचित्य से सम्पन्न रूपक गद्य का दूषण है।...अरस्तू की सम्मति में औचित्य रचना का एक महनीय तत्त्व है जिसका अवलम्बन रचना

को महनीय, प्रभावशाली तथा उत्तेजक बनाने में सर्वथा समर्थ होता है।" लांगिनस ने अपने On the Sublime नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में औचित्य तत्व पर विचार किया है, काव्य के लिए औचित्य को वे एक अनिवार्य तत्व मानते हैं, काव्य कला की चरम कसौटी भी वे औचित्य को ही मानते हैं। उनका मत है कि "शब्दौचित्य का विधान काव्य में सौन्दर्य शक्ति, प्रभाव, महत्व तथा भव्यता का उत्पादक होता है।"

होरेस भी औचित्य के महत्व को स्वीकार करता है। उसका आग्रह है कि कवियों को औचित्य का संरक्षण करना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि औचित्य काव्य का एक महत्वपूर्ण अनिवार्य तत्व है, यह काव्य का अन्तरंग तत्व है, इसका काव्य के आत्मतत्व रस के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, इसके अभाव में निर्दोष काव्य की कल्पना भी सम्भव नहीं है। औचित्य तत्व काव्य को प्राणदायिनी शक्ति प्रदान करता है। अतः इसका महत्व स्वयं सिद्ध है।

प्रश्न ५६—काव्य के विभिन्न तत्वों के साथ औचित्य तत्व के साम्य-वैषम्य का निरूपण कीजिए।

उत्तर—औचित्य एवं रस—औचित्य और रस का सम्बन्ध प्राण और आत्मा का है। रस सिद्ध होने पर ही औचित्य महत्वपूर्ण तथा आनन्द-विधायक होता है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि "जैसे मधुमास अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार रस के साथ औचित्य का मणिकांचन योग होने से रुचिर-रस-सहृदय के हृदय में आह्लाद को अंकुरित करता है। जिस प्रकार मधुर, तिल आदि लौकिक रस उचित मात्रा से मिलाये जाने पर अपूर्व आस्वाद पैदा करते हैं, वैसे शृङ्गार आदि रस औचित्य पूर्ण ढंग से परस्पर काव्य में संयोजित होने पर अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करते हैं। रसों के परस्पर संयोजन में औचित्य के निर्वाह होने पर ही चमत्कार आता है" अन्यथा रस-सांकर्य वैरस्य को उत्पन्न करता है—

क्षेमेन्द्र से पहले आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने औचित्य और रस के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की थी। आनन्दवर्धन ने "काव्यस्यात्मा स

एवार्थः" कारिका के द्वारा प्रतीयमान रस को काव्य की आत्मा मानते हुए औचित्य को रस योजना में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका मत है कि "औचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का प्रयोग ही रस का परम रहस्य है।" आनन्द के अनुसार निर्भ्रान्त मत यह है कि रस और औचित्य का अटूट सम्बन्ध है।

आनन्दवर्धन ने विभावौचित्य के प्रसङ्ग में विचार करते हुए शृङ्गार रस चित्रण में भी प्रकृत्यौचित्य को महत्वपूर्ण माना है। वे परम्परागत इतिवृत्त के प्रकृत रस के प्रतिकूल वर्णन के त्यागने का आग्रह भी करते हैं। उसका स्पष्ट मत यह है कि "कविकल्पित कथानक का संविधान अभीष्ट रस के समुचित ही होना चाहिए। काव्य में औचित्य का अनुसरण करने से ही अनवसर में विस्तार और विच्छेद, अंग का अतिविस्मरण, अंगी का अननुसंधान आदि रसदोष होते हैं। काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य-विधान का ऐसा ध्यान रखना चाहिए जिससे रस-प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा न हो" (ध्वन्यालोक ३।१०-१४)

रस औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अभिनवगुप्त ने भी विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार औचित्य तत्व काव्य की आत्मा रस-ध्वनि का प्रमुख सहायक होता है। अतः औचित्य संवलित रस-ध्वनि काव्य है—"उचित शब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सुजयति। तदभावेहि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः।

(ध्वन्यालोकलोचन २।६ की वृत्ति)

निष्कर्ष यह है कि औचित्य और रसध्वनि का पारस्परिक सम्बन्ध ही काव्य का आत्मतत्व है। रसध्वनि के अभाव में औचित्य का महत्व बहुत ही अल्प हो जाता है और औचित्य के बिना रस भी सहृदय को पीड़ादायक होता है। अतः इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध काव्य सौन्दर्य का विधायक होता है।

औचित्य और अलंकार—अलंकार और औचित्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। "जैसे अलकार्य के रहने पर ही अलंकार का महत्व है, क्योंकि मृतशरीर पर आभूषण व्यर्थ ही नहीं होता, अपितु वैरस्य उत्पन्न करता है,

वैसे ही अलंकार्य के अस्तित्व में भी औचित्यपूर्ण ही अलंकार का विधान शोभा-दायक होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि संन्यासी के शरीर पर अलंकार उसको हास्यास्पद ही बनाता है।" इससे स्पष्ट है कि औचित्य अलङ्कारत्व का विधायक है। अतः रसादि के अनुकूल अलङ्कार का स्वाभाविक वर्णन होना चाहिए, अलङ्कार विधान के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अलङ्कार का संयोग जहाँ अनायास ही हो जाता है वहीं अलङ्कार ध्वनि काव्य का अलङ्कार होता है—

इसीलिए आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में लिखा है कि "काव्य के आत्मभूत ध्वन्यमान शृङ्गार रस में विशेष रूप से विप्रलम्भ-शृंगार में यमक, शब्दश्लेष, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध आदि का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि ध्वन्यात्मक शृङ्गार में उचित रूप से प्रयुक्त होने पर ही रूपकादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त करता है" और अपने नाम को चरितार्थ करते हैं

आनन्दवर्धन ने औचित्य और अलङ्कार के सम्बन्ध को निम्न पाँच सूत्रों के द्वारा स्पष्ट किया है। उनकी कारिकायें निम्न हैं—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥

(ध्व० २।१८-१९)

अर्थात्—

(१) अलङ्कार का विधान रस आदि तत्वों के अंगरूप में होना चाहिए।

(२) अलङ्कार कभी अंगी रूप में नहीं होना चाहिए।

(३) अलङ्कार का उचित स्थान पर मुख्य वस्तु के अनुकूल ग्रहण और त्याग होना चाहिए।

(४) आदि से अन्त तक अलङ्कार के विधान का अत्यन्त आग्रह नहीं होना चाहिए।

(५) यदि अलङ्कार का विधान यत्नपूर्वक भी किया गया है तो भी वह अंग रूप में ही होना चाहिए।

आशय स्पष्ट यह है कि अलङ्कार की चकाचौंध में रस आदि आत्मतत्व की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। अलङ्कार और रस का सन्निवेश औचित्य की सीमा में होना चाहिए। जैसे संसार में लौकिक अलंकार उचित रूप में प्रयुक्त होने पर अलंकारधारी के सौन्दर्य को बढ़ाता है, वैसे ही काव्य में रसादि अलंकार्य को अलंकृत करने के लिए अलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग होना चाहिये। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य के बिना अलंकार सौन्दर्य का वर्द्धक नहीं होता, उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर ही वह अलंकार है, शोभादायक है—

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।

(औ० वि० च० ६ की वृत्ति)

यही औचित्य और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध का रहस्य है।

औचित्य और रीति—औचित्य विचार चर्चा में क्षेमेन्द्र ने काव्य के प्रत्येक अङ्ग में औचित्य के सन्निवेश का आग्रह किया है—'काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्'। ध्वन्यालोककार ने भी संघटना या रीति के साथ प्रतिपादित औचित्य के सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण माना है। आनन्दवर्धन के अनुसार "पद-रचना जब सम्यक् अर्थात् औचित्यपूर्ण होने से रसानुकूल होती है तो 'संघटना' कहलाती है।' संघटना में अपूर्व सौंदर्य लाने के लिये ही उन्होंने वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य और विषयौचित्य को उनका नियामक माना है। वक्ता का अर्थ है कवि या कविनिबद्ध काव्य, नाट्य आदि का पात्र। वाच्य का अर्थ है प्रतिपाद्य विषय तथा विषय का तात्पर्य है काव्य का प्रभेद अर्थात् मुक्तक, युग्मक का सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, खण्डकाव्य, महाकाव्य, दृश्यकाव्य, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, कथा, आख्यायिका आदि। आशय यह है कि 'संघटना के साथ औचित्य के निर्वाह की

उद्भावक चर्चा आनन्दवर्धन ने की थी, उन्होंने औचित्यतत्व के द्वारा रीति या संघटना या नियन्त्रण भी किया था।

काव्य की विविध विधाओं में औचित्य की अवहेलना किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं हो सकती; क्योंकि वीररस में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग, शान्तरस के प्रवन्ध में श्रुतिकटु दीर्घसमास पदावली का प्रयोग क्या उचित है ? सुकुमार वर्ण्य-विषय के लिए कोमलकान्त पदावली और ओज और शौर्य पूर्ण पुरुषविषय के लिए कठोर रचना ही स्वाभाविक और श्रेयस्कर होती है।

आशय यह है कि काव्य के रचना-विधान में औचित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। आनन्दवर्धन ने "रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ के औचित्य-पूर्ण प्रयोग से निर्मित उपनागरिकता आदि शब्दवृत्ति और कैशिकी आदि अर्थ-वृत्तियों में भी औचित्य की स्थिति आवश्यक मानी है

इस औचित्य का निर्वाह न होने पर काव्य के दोषपूर्ण होने की सम्भावना है। अतः रीति और औचित्य का शरीर और प्राण का सम्बन्ध है।

औचित्य और ध्वनि—क्षेमेन्द्र रचित 'औचित्य-विचार-चर्चा' का उपजीव्यग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। उनके तर्कों का आधार भी ध्वन्यालोक की प्रतिपादन-शैली है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है, किन्तु आनन्दवर्धन ने औचित्य से संवलित रसादि-ध्वनि को काव्य को आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है। औचित्य और ध्वनि-तत्वों की पारस्परिक तुलना से यह निष्कर्ष सिद्ध है कि "रसादि-ध्वनि अपने आपमें सिद्धि होने के कारण काव्य में आत्म स्थानीय है परन्तु औचित्य अपने आपमें सिद्ध न होकर साधन रूप है।...इसीलिए रसादि-ध्वनि को लेकर ही औचित्य का भी महत्व है अन्यथा औचित्य का अपने आपमें कोई भी महत्व नहीं है। रसादि ध्वनि के

साथ ही औचित्य अपना सम्बन्ध जोड़ता है। आत्मा के विना जीवन जैसे असं-भव है उसी प्रकार रसादि-ध्वनि के विना औचित्य असंभव है।"

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि रस-ध्वनि और औचित्य पर-स्पर पूरक हैं, रस-ध्वनि यदि अंगी है, सिद्धि है, तो औचित्य अंग और साधन रूप।

औचित्य और वक्रोक्ति—औचित्य और वक्रोक्ति का भी अन्य काव्य-तत्वों के समान परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के समान ही औचित्य और विभिन्न वक्रताओं का सम्बन्ध जोड़ा है, जो कि इस बात का प्रमाण है कि इन दोनों काव्य-तत्वों में परस्पर सम्बन्ध है। कुन्तक ने औचित्य की आवश्यकता का वक्रता के विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। कभी-कभी तो वे वक्रत्व और औचित्य में एकता का प्रतिपादन भी करते हैं। उन्होंने लिखा है कि पदों का औचित्य उनका नाना प्रकार के भेदों से युक्त वक्रभाव है—"पदस्य तावदौचित्यं बहुविध-भेद-भिन्नोवक्र-भावः।" कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में औचित्य का स्पष्ट उल्लेख न करके भी उसकी ओर संकेत किया है, वे शब्द और अर्थ का औचित्यपूर्ण सहभाव ही काव्य स्वीकार करते हैं। यही नहीं, कुन्तक ने अपने सुकुमार आदि तीनों मार्गों में औचित्य की स्थिति आवश्यक मानी है। औचित्य की परिभाषा में कुन्तक ने लिखा है कि "जिस स्पष्ट वर्णन के द्वारा स्वभाव के महत्व का पोषण होता है वही उचिता-ख्यान का जीवित स्वभावानुरूप वर्णन का प्राण औचित्य है

कुन्तक के मत में जो उचिताख्यान है, वही क्षेमेन्द्र का उचित का भाव औचित्य है। अतः इन दोनों में साम्य है।

कुन्तक ने अपनी वक्रताओं की पर्याप्त व्याख्या की है, उस व्याख्या के आधार पर हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि कुन्तक की पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि की वक्रताओं तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य में पर्याप्त साम्य और निकट

है। किन्तु ऐक्य नहीं। क्योंकि कुन्तक ने औचित्य को विभिन्न वक्रताओं का आधार माना है, वक्रोक्ति की वक्रता की सिद्धि में औचित्य साधन है अतः उन्हें एक नहीं माना जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि रस रूप आत्मतत्व की सिद्धि में वक्रोक्ति और औचित्य समान रूप से साधन हैं। इन दोनों के द्वारा आनंद रूप परम लाभ की उपलब्धि होती है, अतः दोनों ही समान रूप से महत्व-पूर्ण हैं।

*

अध्याय | ६

आलोचना

प्रश्न ६०—आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति लिखकर उसकी परिभाषा लिखिए।

उत्तर-व्युत्पत्ति—आलोचना के अर्थ को व्यक्त करने के लिए हिन्दी में कई शब्द प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से तीन विशेष प्रसिद्ध हैं—आलोचना, समालोचना और समीक्षा। इस शब्दों के प्रयोग की स्थिति परिवर्तनशील रही है, कभी आलोचना शब्द वहुप्रचलित था, किन्तु आज समालोचना और समीक्षा शब्द का अधिक प्रयोग हो रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों शब्द समानार्थक हैं किन्तु मूलतः तीनों में सूक्ष्म अन्तर है, वे विभिन्न अर्थों के सूचक हैं। आलोचना शब्द 'लोच् (लोचृ या लुच्) धातु से बना है—आ+लोच्+अन+आ=आलोचना अथवा आ+लोच्+ल्युट् (अन)=आलोचन। 'लोच्' या 'लोचृ' का अर्थ है देखना। इसलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है—"आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियां आलोचना।" इस आलोचना शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति—लुच्यते अनेक इति लोचनम्' भी की जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'आलोचना का शब्दार्थ है किसी वस्तु को या किसी पदार्थ को विशेष मर्यादित या नियन्त्रित दृष्टि से देखना'—कुछ व्यक्ति इस शब्द का अर्थ केवल गुण कथन या केवल दोषानुसंधान ही समझ बैठे हैं। इसी दोष के निराकरण के लिए उपसर्ग को जोड़ा जाने लगा, सम् उपसर्ग के जुड़ने से निष्पन्न समालोचना शब्द का अर्थ संतुलित दृष्टि से किसी रचना के गुण-दोनों का विवेचन है। इसी गुण-दोष विवेचन के अर्थ में एक शब्द 'समीक्षा'

भी प्रचलित है। संस्कृत की व्युत्पत्ति के अनुसार समीक्षा शब्द का अर्थ है—'जिसमें रचना की अन्तर्व्याख्या और अवान्तरार्थों का विच्छेद किया गया है'—'अन्तर्भाष्य अवान्तरार्थ विच्छेदश्च समीक्षा' इस प्रकार इन तीनों शब्दों के अर्थ के परीक्षण के बाद हम कह सकते हैं कि जब विद्वान् बाह्य गुण-दोष कथन की अपेक्षा कवि या लेखक अतः प्रकृति की खोज करने में प्रयत्नशील हुआ तभी समालोचना और समीक्षा शब्द का प्रचार हुआ, वैसे तीनों शब्द ही समानार्थक हैं।

समालोचना की परिभाषाएँ—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का मत है कि 'आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोषों की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य-क्षेत्र में की गई हो या ललित कला के क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में समाविष्ट हैं—(Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or the fine arts It involves the formation and expression of judgment.)

वर्सफील्ड आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना है"—Criticism is the exercise of jud-gement in the province of art and literature. मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "आलोचक को तटस्थ भाव से वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अनुभव और प्रचार करना चाहिए। आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है तटस्थता। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसे आलोचना मार्ग में प्रवृत्त करती है।"

प्रभाववादी समीक्षक कार्लाइल ने लिखा है कि "आलोचना पुस्तक के प्रति उद्भूत आलोचना की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।"

हिन्दी के समीक्षकों में डा० श्यामसुन्दरदास आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।...यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।"

आलोचना के कार्य और प्रभाव का विवेचन करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है—

"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।

इस प्रकार आचार्यों की परिभाषा तथा आलोचना के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि आलोचना साहित्य में 'सत्साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन तथा असत् साहित्य के निर्माण का जहाँ एक ओर निराकरण करती है वहीं वह साहित्यकारों की निरंकुशता पर भी प्रतिबन्ध लगाती हैं तथा साहित्य और पाठकों के सम्बन्ध को सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है।'

प्रश्न ६१—आलोचक के कर्त्तव्य का निर्धारण कर उसके गुणों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर—आलोचक पहले भावक है। वह सहृदतापूर्वक काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करता है। किन्तु आज के आलोचक के महत्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं, आलोचक या भावक का तिहरा उत्तरदायित्व होता है, उसका कवि और लेखक के साथ पहला सम्बन्ध जुड़ता है, वह सहानुभूति और ईमानदारी से उनकी काव्य परिस्थितियों का मूल्यांकन करता है, फिर उसका सम्बन्ध कृति से जुड़ता है, वह उसका अध्ययन करता है और फिर आलोचक का सम्बन्ध समाज और सामाजिकों से है। "कवि और लेखक का वह प्रेरक और मार्गदर्शक है, कृति के गुणों का विज्ञापन और दोषों का विवेचन और दिग्दर्शन कराके उसका महत्व प्रचार करना उसका प्रमुख कार्य है और समाज को कृति और कवि के संबंध में वास्तविक ज्ञान कराना, सत्कृतियों के पठन की प्रेरणा जाग्रत करना और उनके लेखकों के प्रति सम्मानभाव जगाना, उसका सर्वप्रधान उत्तरदायित्व है।"

इस विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि समालोचक कवि और पाठक के बीच में माध्यम का कार्य करता है। अतः "उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वासपात्र और

प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है लोक-व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिए अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिए भी।" समालोचक के अन्य कर्तव्य सद्कृतियों को पढ़ने के लिए प्रेरित करना, साहित्य में उठने वाली विभिन्न असद्वृत्तियों को नियन्त्रित करना, उचित मार्ग का दर्शन, जनरुचि को परिष्कृत करना आदि हैं।

आलोचक के गुण

आलोचक और आलोचना का विशिष्ट महत्व है, अतः आलोचक के अन्दर कुछ विशिष्ट गुण होने चाहिए। हमारी दृष्टि से कवि के प्रति सहृदयता और श्रद्धा, प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि, निष्पक्षता, तुलनात्मक दृष्टिकोण, प्रेषणीयता, पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान, शब्द-शक्तियों का ज्ञान, साहित्यिक आलोचना के मानदण्डों का परिचय, विद्वत्ता आदि कुछ महत्वपूर्ण गुण हैं, जिनका आलोचना में होना परम आवश्यक है।

प्रश्न ६२—आलोचना के विभिन्न प्रकारों का विस्तार से विवेचना कीजिए।

उत्तरः—आज हिन्दी में प्रचलित आलोचना की पद्धतियाँ पाश्चात्य ही हैं। तथापि हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में संस्कृत आलोचना की भी अपनी अनेक पद्धतियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) आचार्य-पद्धति, (२) टीका-पद्धति, (३) शास्त्रार्थ-पद्धति, (४) सूक्ति पद्धति, (५) खण्डन-पद्धति, (६) लोचन-पद्धति, आदि।

आलोचना के प्रकार

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आलोचना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु स्थूल रूप में वे दो प्रकार की हैं—

(१) सैद्धान्तिक आलोचना।
(२) व्यावहारिक आलोचना।

डा० श्यामसुन्दरदास ने समालोचना के चार प्रमुख भेद माने हैं—

(१) सैद्धान्तिक समीक्षा।

(२) निर्णयात्मक समीक्षा ।
(३) आत्मप्रधान प्रभाववादी ।
(४) व्याख्यात्मक समीक्षा ।

व्याख्यात्मक समीक्षा के कुछ अन्य भेद इस प्रकार हैं—

(१) ऐतिहासिक आलोचना ।
(२) तुलनात्मक आलोचना ।
(३) मनोवैज्ञानिक आलोचना ।
(४) प्रगतिवादी आलोचना ।

उपर्युक्त आलोचना-पद्धतियों का सामान्य विवेचन इस प्रकार है ।

(१) आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचना—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मप्रधान आलोचना का स्थान सर्वप्रथम हमारे समक्ष आता है । आत्मप्रधान आलोचना में आलोचक विषय की विवेचना में इतना तल्लीन या विमुख हो जाता है कि विषयवस्तु की अपेक्षा भाव-सागर में स्वयं गोते खाने लगता है । उसकी वह आलोचना, आलोचना की अपेक्षा एक साहित्यिक कृति बन जाती है । इस आलोचना में भावना या भावुकता का महत्त्व विशेष हो जाता है और बुद्धितत्त्व का कम । अंग्रेजी आलोचना में प्रभाववादी समीक्षा को विशेष महत्व प्राप्त हैं । वहाँ पीटर इस आलोचना-पद्धति का विशेष समर्थक रहा है । हिन्दी साहित्य में पद्मसिंह शर्मा एवं आधुनिक युग में जैनेन्द्र को प्रभाववादी समीक्षक कहा जा सकता है । प्रभाववादी समीक्षक "एक प्रकार की साहित्यिक सदसद् विवेक बुद्धि में विश्वास रख अपनी रुचि को अन्तिम प्रमाण मानते हैं ।" इस आलोचना-पद्धति की प्रथम विशेषता यह है कि इस पद्धति का आलोचक नियम या सिद्धान्तों की अपेक्षा स्वच्छन्दता का सहारा लेता है, इस स्वच्छन्दता में कृति को पढ़कर उस पर जो प्रभाव पड़ता है तदनुरूप उसका विश्लेषण होता है । इस विश्लेषण में उसकी शैली भावात्मक हो जाती है तथा कल्पना अपनी रंगीनियों के साथ आविर्भूत होती है । विचारतत्व की अपेक्षा भावतत्व की इसमें प्रधानता रहती है । स्पिनगार प्रभाववादी आलोचना के स्वरूप को व्यक्त करते हुए लिखता है कि "किसी कृति को देखकर जिन भावों और प्रभावों की

अनुभूति होती है उन्हें उसी तरह से प्रगट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का कार्य होता है"—

To have sensation in the presence of the work of art is to express them. That is the function of a criticism for an impressionist critic.

प्रभाववादी समीक्षा प्रत्येक देश के साहित्य में खोजी जा सकती है क्योंकि मनुष्य हृदय पर पड़े प्रभावों से प्रभावित होता है। इन्हीं प्रभावों को आलोचक अपने शब्दों में व्यक्त कर देता है। हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में इस शैली का बोलवाला था। श्री पद्मसिंह शर्मा द्वारा कृत विहारी की आलोचना इसी कोटि की है। वे लिखते हैं—

"विहारी सतसई के दोहे तो शक्कर की रोटी हैं जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठे हैं।" इसी प्रकार सूर की प्रशंसा में लिखित यह दोहा भी इसी शैली का उदाहरण है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥

इसी प्रकार एक अन्य गद्य का उदाहरण देखिए—

"वाह रे अन्धे कवि सूरदास! तुमने क्या कमाल किया है। तुमने वह रूप और भाव-सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया, जो लोग अपनी खुली आँखों से भी नहीं देख पाते।'

आलोचक रुचि का महत्व भी इस पद्धति में विशेष रहता है। इस प्रभाववादी समीक्षा में आलोचक की रुचि क्रियमाण रहती है। इस कोटि के आलोचक की रुचि जितनी ही विश्व रुचि के अनुकूल होती है आलोचना उतनी ही सही होगी। यदि आलोचक की रुचि वैयक्तिक विचारों से विकृत है तो आलोचना दूषित होगी।

निष्कर्ष यह है कि (१) इस आलोचना में आलोचक का दृष्टिकोण प्रधान होता है, अतः यह विषयी प्रधान आलोचना होती है। (२) इसमें नियमों की अपेक्षा स्वच्छन्दता का सहारा लिया जाता है। (३) इसमें भावों की अपेक्षा

वाणी का विलास ही ज्यादा होता है। (४) इसमें एक पक्षीय निंदा और प्रशंसा विशेष होती है। अतः महफिली दाद और वाहवाही का प्राधान्य होता है।

(२) सैद्धान्तिक आलोचना—'सैद्धान्तिक आलोचना' आलोचना की एक विशिष्ट पद्धति है। इसमें "बहुत सी एक सी कृतियों का अध्ययन कर जब आलोचक आलोचना के मापदण्ड के रूप में किन्हीं सामान्य नियमों का निर्धारण करता है, तो उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं।"

इस पद्धति के आलोचक की रुचि परिष्कृत होती है, वह नियमों के अनुसार कार्य करता है, अतः इसकी आलोचना की कसौटी उसके निर्धारित मानदण्ड होते हैं। अतः इसमें हम समालोचना का शास्त्रीय पक्ष स्पष्ट होता हुआ पाते हैं। इसमें उचितानुचित के विवेक को महत्व प्राप्त है। निश्चय ही लेखक को इसमें बहकने का स्थान नहीं रहता है।

इस आलोचना का विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? काव्य का उद्देश्य क्या है ? आदि पर इसमें विचार किया जाता है। हडसन ने लिखा है कि "आलोचक का कार्य केवल यही नहीं हैं कि वह किसी के औचित्य और अनौचित्य का निर्देश करे, उसका कर्तव्य है कि वह उन सिद्धान्तों और नियमों को खोज निकाले, जिनके आधार पर उस काव्यकृति का निर्माण किया गया और उन नियमों को सिद्धान्तों के रूप में निश्चित कर दे।"

प्लेटो और अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लेकर कालरिज, एडीसन, वर्ड्सवर्थ, रिचर्ड्स, क्रोचे, इलियट आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और हमारे यहाँ संस्कृत में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर जगन्नाथ के रसगंगाधर तक निर्मित समस्त संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और ग्रन्थकार इसी कोटि के समालोचक हैं। "हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ, श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', शुक्ल जी का 'चिन्तामणि', सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण' गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं।"

(३) निर्णयात्मक आलोचना—हडसन ने निर्णयात्मक आलोचना को

विशेष महत्वपूर्ण माना है। निर्णयात्मक आलोचक कुछ निश्चित नैतिक और साहित्यिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर अपना निर्णय दिया करता है।" इसमें सैद्धान्तिक आलोचना की उपेक्षा न होकर उसका पालन होता है तथा सृजन भी। निर्णयात्मक आलोचक किसी भी आलोच्य कृति और उसके सिद्धान्तों पर विचार कर अपना निर्णय अवश्य देता है। इस समालोचना में समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है। वह निर्णय देता है। कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू कर उसकी रचना की परीक्षा करता है। उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था' के रूप में स्पष्ट होती है। यूरोप में कुछ समय तक अरस्तू के वाक्य और नियम ईश्वरीय सिद्धान्त समझे जाते रहे थे और भरत, मम्मट और विश्वनाथ हमारी आलोचना के आधार रहे हैं। इस आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। परन्तु कुछ आलोचक शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा कर कृति के पढ़ने से अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। इसमें आलोचक की अपनी भावानुभूति प्रवल रहती है। निर्णायिक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है। ऐसे आलोचक उच्चकोटि के माने जाते हैं। केवल शास्त्रीय नियमों पर आधारित आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता: क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति रोकने वाली होती है।

निर्णयात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचना का अन्तर—

हडसन निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर को स्पष्ट करता हुआ लिखता है कि "व्याख्यात्मक आलोचक के समान निर्णयात्मक आलोचना करने वाला वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और प्रदर्शन नहीं करता, वल्कि उसके आदर्श स्वरूप की ओर संकेत करता है—

"To express what is not what conceivably ought to be."

केलेट ने निर्णयात्मक आलोचना को यंत्रवत आलोचना कहकर, इसकी निन्दा की है— "निर्णयात्मक समालोचना एक प्रकार से यंत्रवत हो जाती है

क्योंकि आलोचक एक निश्चित आलोचना-कसौटी पर आलोच्य-वस्तु को कसा करता है।"

Nothing is less satisfactory than an arid mechanism merely measuring criticism.

संस्कृत एवं हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना को महत्व प्राप्त रहा है। आज भी अनेक प्राचीन निर्णयात्मक उक्तियाँ काव्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त हैं जैसे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।

तथा—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास ।। आदि।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचार था। महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धु की आलोचनाएँ प्रायः इसी कोटि की हैं। बिहारी और देव के प्रसंग में जो वादविवाद था, वह भी इसी आलोचना के कारण था। आज के युग में निर्णयात्मक आलोचना की अपेक्षा व्याख्यात्मक आलोचना को विशेष महत्व दिया जाता है। पीटर ने लिखा है कि "किसी भी साहित्यिक कृति का निर्णय देते समय उस युग और व्यक्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिनमें उस कृति की सृष्टि हुई थी—

Every intellectual product must be judged from the point of view of its age and the people in which it was produced.

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए आलोच्य कृति के ऐतिहासिक पक्ष का विवेचन भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही कृति और कृतिकार के साथ न्याय होगा अन्यथा अन्याय होने की सम्भावना रहती है।

(४) व्याख्यात्मक आलोचना—व्याख्यात्मक आलोचना नियमों के बन्धनों से मुक्त और साहित्यिक कृतियों की बन्धनरहित व्याख्या का एक प्रयास है। "किसी भी कलात्मक कृति में प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभवजन्य

अभिव्यक्ति, ये तीन बातें प्रमुख स्थान ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से व्याख्याता का प्रधान उद्देश्य कृति को उसके वास्तविक रूप में देखकर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना है, जो काफी कठिन कार्य है। आलोचक को कलाकार या साहित्यिक की कृति में पूर्णतः लीन होकर उसके उस अनुभव का उद्घाटन करना पड़ता है जिससे उस कृति की रचना हुई। रूढ़ि, आलोचक के पूर्वाग्रह, निरोध, भावुकता, सैद्धान्तिक आसक्ति, रचनाकौशल सम्बन्धी पूर्वकल्पनाओं आदि बातों से व्याख्यात्मक आलोचना में बाधा पड़ती है। व्याख्यात्मक आलोचना का आश्रय ग्रहण करने वाले आलोचक को अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिए और निष्कपटतापूर्वक व्याख्या करने की क्षमता रखनी चाहिए। व्याख्या वास्तव में कलाकार के भावलोक का फिर से सर्जन करती है और आलोचना ऐसे भावलोक पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है, साथ ही कृति के साथ ऐक्य प्राप्त कर आनन्द का अनुभव प्रदान करती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना का आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्यागकर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचन करता है। आज की आलोचना में व्याख्या एक विशिष्ट गुण है। हडसन ने लिखा है कि **"आज का आलोचक आलोच्य वस्तुओं को समझने के लिए उसकी व्याख्या करने के लिए जितना उत्सुक रहता है उतना उसके गुण-दोषों के कथन के लिए नहीं।"**

वस्तुतः व्याख्यात्मक आलोचना समस्त आलोचनाओं की मूल है। डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में लिखा है कि **"इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप ज्ञान वांछनीय है जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है।"**

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक न्यायाधीश की अपेक्षा वह स्वयं अन्वेषक होता है। अतः वह ईमानदारी से आलोचना करता है। व्याख्यात्मक

आलोचना का प्रारम्भिक रूप संस्कृत के भाष्यों और टिप्पणियों में मिलता है। जैमिनी का 'मीमांसादर्शन' इसका प्राचीनतम उदाहरण है।

व्याख्यात्मक आलोचना पर विचार करते हुए मौल्टन ने तीन तथ्यों की ओर संकेत किया है: (१) "व्याख्यात्मक आलोचना आलोच्य वस्तुओं में किसी प्रकार का उत्तम, मध्यम भेद नहीं स्वीकार करती। भले ही वह वर्ग भेद स्वीकार कर ले। (२) व्याख्यात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना के समान निश्चित नियमों के पालन में विश्वास करती है और निश्चित कसौटी पर कसी जाती है। (३) व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को परिवर्तनशील मानती है। निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर मानती है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक इसी कोटि के आलोचक हैं।

बाबू गुलाबराय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना-पद्धतियों को भी स्वीकार करते हैं—(१) ऐतिहासिक, (२)मनोवैज्ञानिक, (३) तुलनात्मक और (४) प्रगतिवादी।

(५) ऐतिहासिक आलोचना—ऐतिहासिक आलोचना में साहित्यकार के युग, उसकी परिस्थितियाँ और परिवेश को देखकर प्रभाव का मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार का आलोचक "परिस्थितिजन्य प्रभावों के प्रकाश में ही आलोच्य-वस्तु की आलोचना करता है। इस कोटि के आलोचकों ने लोक-गाथा, भाषाविज्ञान तथा शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की सफल चेष्टा की है। इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसन्धान है और इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आलोचक साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियों पर किसी एक लेखक के व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।"

यह आलोचना-पद्धति कवि की परिस्थितियों और परिवेश पर ही केन्द्रित होने के कारण पूर्ण नहीं है अपितु एकपक्षीय है।

(६) तुलनात्मक आलोचना—इस पद्धति में साहित्यिक प्रभावों की खोज की जाती है। तुलनात्मक आलोचना में केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही

तुलना नहीं रहती, अपितु विचारों और प्रकारों की दृष्टि से भी तुलना रहती है। "वास्तव में तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करने वाला आलोचक व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान देता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का भी अवलोकन करता है। एक ही देश की विभिन्न साहित्यिक धाराओं का अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इस सबमें वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजने की चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणाली में सफल होने के लिए आलोचक का बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कला का मूल किसी रूप में स्वीकार करे, किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिए कि उसका प्रधान कर्त्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है, निर्णय देना उसका कार्य नहीं। साथ ही इस बात पर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। यह बात विषय के अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिव्यंजना-प्रणाली के सम्बन्ध में भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आंतरिक बातों की तुलना का प्रयास करती है तो और भी दुरूह हो जाती है। परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहास के बदले इसमें फिर विचारों के इतिहास पर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचना में साहित्य अभि-व्यंजना का साधनमात्र ही नहीं, मनुष्य के भावों और विचारों का प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतना का दर्पण है। एक ही कवि के कई ग्रन्थों के आधार पर विषय की पारस्परिक रूप में तुलना हो सकती है अथवा एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं की तुलना हो सकती है और अन्त में एक ही भाषा के या अन्य भाषाओं के तद्विषयक कवियों और ग्रन्थों से तुलना हो सकती है—विषय, भाव, भाषा शैली आदि सभी दृष्टियों से। हिन्दी में देव और बिहारी की तुलना कुछ दिनों तक बड़ी धूमधाम से होती रही।"[1]

तुलनात्मक आलोचना-पद्धति के भी अपने गुण-दोष हैं। इसमें मूल्य या स्थान निर्धारण की भावना के कारण, रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात की भावना से किसी भी कवि के साथ अन्याय किया जा सकता

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृ० १२८

है। यह आलोचना-पद्धति उसी समय श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब कि आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति के विवेचना करे।

(७) **मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति**—यह पद्धति बीसवीं शती की देन है। आलोचना में कवि के जीवन और काव्य तथा काव्याङ्गों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितयों और प्रभाव को कृति के आधार के रूप में देखा जाता है। निश्चय ही कुछ काव्य-कृतियों की रचना का आधार मनोवैज्ञानिक होता है, उनमें कवि या साहित्य-कार अपने पात्रों के मन को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। "ऐसी कृतियों की आलोचना भी स्वभावतः मनोवैज्ञानिक ही होगी। किन्तु यह आलोचना वस्तु की आलोचना होगी, उससे पद्धति की सूचना नहीं मिलती। जब पद्धति मनोवैज्ञानिक कही जायगी तो कवि के आन्तरिक जीवन; वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावों में कृति का आधार देखा जायगा। जब तक कला-कार का अध्ययन पूर्ण न हो जायगा, तब तक कला का अध्ययन पूर्ण न हो सकेगा। जब कला कलाकार की मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब हो तो आलोचक पहले कला का मूल स्रोत ही खोजता है। मूल का ज्ञान हो जाने पर शाखाओं का ज्ञान स्वयं हो जायगा। ऐतिहासिक आलोचना में देश और जीवन की वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव परखा जाता है, तो मनोवैज्ञानिक पद्धति में कलाकार की आन्तरिक परिस्थितियों का और जीवन-चरितात्मक आलोचना में कलाकार के निजी जीवन से सम्बन्धित वाह्य परिस्थितियों का मूल्य आँका जाता है। इस कार्य में अब मनोविश्लेषण-शास्त्र से विशेष सहायता ली जाने लगी है"...यह पद्धति समकालीन साहित्यकार के साहित्य के अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी है। किन्तु पुराने कवि की रचना में गहनतम मानव-स्वभाव वाले अंशों की सहायता से, जहाँ कलाकार की आत्मानुभूति विशेष रूप से व्यक्त होती है, उसके मन को समझने की भी यह चेष्टा करती है।

इस आलोचना-पद्धति से साहित्य-निर्माण की समस्या के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है। "मानव जाति के आदिम जीवन में कला के जन्म पर यह

पद्धति प्रकाश डालती है। यद्यपि आधुनिक काल में यह पद्धति विशेष रूप से लोकप्रिय हुई है, तो भी एक यह प्रश्न सामने आता है कि इस मनोवैज्ञानिक छान-बीन से स्वयं साहित्यिक रस और आनन्द प्राप्त करने में कहाँ तक सहायता प्राप्त होती है ? उत्तर सम्भवतः वहुत उत्साहजनक नहीं होगा। वास्तव में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रचार साहित्य पर आधुनिक वैज्ञानिक युग की छाप का प्रमाण है। मनोविज्ञान साहित्यिक आलोचना का एक अंगमात्र हो तो अधिक स्वाभाविक होगा।"[१]

इस आलोचना-पद्धति के अपने कुछ गुण-दोष भी हैं। इसमें मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी विवेचना में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि कृति की उपेक्षा हो जाती हैं। प्रभाववादी आलोचक तो प्रभाव को काव्यात्मक शैली में व्यक्त कर देते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचक अन्तर्मन की गुत्थियाँ सुलझाने में कृति के रहस्य की ओर से उदासीन रहते हैं। इन आलोचकों की भाषा-शैली प्रभाववादियों से भी अधिक दुरूह होती है।

(८) प्रगतिवादी आलोचना—"यह आलोचना पद्धति इसी शताब्दी को देन है। सन् १९२८ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति के वाद कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष साहित्य के मूल्यांकन के आधार निश्चित हुए और अर्थ उसका आधार वना...। कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्वद्ध होने के कारण यह आलोचना-प्रणाली भौतिकवादी आलोचना के नाम से अभिहित की जाती है। इसे मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना भी कहते हैं। कभी-कभी इसके लिए सामाजिक यथार्थवादी आलोचना अथवा सोवियत समीक्षा-पद्धति नाम भी प्रयुक्त मिल जाता है किन्तु मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित हैं।"[२]

इस आलोचना-पद्धति में साहित्य को वर्ग की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्श और विचारधाराओं को महत्व दिया जाता है। यह आलोचना अपेक्षा

---

१. हिन्दी साहित्यकोश भाग १ पृ० १३१
२. वही पृ० १३०

कृत अधिक स्पष्ट होती है। किन्तु समाजवादी आलोचक राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं। अतः साहित्य की उपेक्षा हो जाती है। लेकिन इस आलोचना से एक लाभ यह है कि "जनजीवन से दूर रहकर मनमाने ढङ्ग से साहित्य-सृजन करने वाले लेखक और कवियों की ऊल-जलूल, आडम्बरपूर्ण थोथी रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है क्योंकि यह उनकी कलई खोलकर रख देती है।" इधर प्रगतिवादी आलोचना में पर्याप्त सन्तुलन आता जा रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि (१) यह पद्धति राजनीति के रङ्ग से प्रभावित है; (२) विदेशी मार्क्सवादी दार्शनिकता की अनुचरी है; (३) रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नहीं देखते, अपितु स्वरचित मान्यताओं के आधार पर समीक्षा करते हैं; (४) आये दिन टीटोवाद, ट्राटस्कीवाद, मार्क्सवाद, स्टालिनवाद आदि शब्द तथा दैनिक राजनीति का इसमें प्रवेश होता रहता है; (५) साहित्यिक परम्परा का इसमें निर्माण नहीं होता है; (६) पढ़े-पढ़ाये मतवाद का प्रचार होता है तथा (७) तथ्य प्रायः एकाङ्गी रहते हैं। इस आलोचना पद्धति से नवयुवकों में क्रान्ति की भावना जाग्रत होती है। इसमें साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है अतः साहित्य में जो काल्पनिकता, पलायनवादिता और प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ पल्लवित हो रही थीं, उनको आघात लगता है।

इन आलोचना-पद्धतियों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में शुक्ल पद्धति, सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी आदि पद्धतियों का विकास हुआ है। निरन्तर एक विशाल आलोचना-साहित्य का निर्माण हो रहा है, और भारत में आलोचना शास्त्र अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ रहा है। इसका भविष्य उज्ज्वल है।

*

अध्याय | १०

काव्य के रूप एवं विधाएँ

प्रश्न ६३—महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए और उसके तत्वों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का उल्लेख कर आधुनिक काल के संशोधित लक्षणों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर—काव्य शब्द व्यापक अर्थ को अभिव्यक्त करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के दो प्रमुख भेद मान्य हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। शैली के भेद से श्रव्यकाव्य के तीन भेद किये गये हैं—पद्य, गद्य और मिश्र (चम्पू)। पद्य काव्य को आकार की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तककाव्य कहते हैं। प्रबन्धकाव्य के दो भेद प्रसिद्ध हैं—महाकाव्य एवं खण्डकाव्य। डा० त्रिगुणायत ने एक तीसरे 'प्रबन्ध-पद्य' काव्य रूप को भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार—"समस्त प्रबन्ध रचनाएँ इन दोनों विभागों के अन्तर्गत नहीं आ पातीं। बहुत से ऐसे प्रबन्धकाव्य शेष रह जाते हैं जिनमें न तो महाकाव्य के वैधानिक लक्षण मिलते हैं और न खण्डकाव्य की विशेषताएँ ही उपलब्ध होती हैं। ऐसे प्रबन्ध अधिकतर लिखे तो महाकाव्य की रचना की दृष्टि से जाते हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से सफल महाकाव्य नहीं होते।" इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य के तीन भेद होते हैं।

भारतीय दृष्टि से महाकाव्य की परिभाषा—भारतीय काव्यचिन्तकों ने महाकाव्य के स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन कर अपने लक्षण निर्धारित किये हैं। महाकाव्य के नाम से स्पष्ट संकेत मिलता है कि काव्य के इस अङ्ग में "जीवन का अत्यन्त व्यापक चित्रण, उदात्त मानवीय अनुभूतियों के रूप में प्रकट किया जाता है।"

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम भामह ने महाकाव्य के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया है—

"महाकाव्य सर्गवद्ध होता है। वह महानता का महान् प्रकाशक होता है। उसमें निर्दोष शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें विचारविमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय—ये पाँच संधियाँ हों। वहुत गूढ़ न हो, उत्कर्षयुक्त हो। चतुर्वर्ग-आदेश होने पर भी प्रधानतः अर्थ उपदिष्ट हो। लोक-स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक् चित्रण हो। नायक के कुल, वल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष जताकर और किसी के उत्कर्ष के लिए नायक का वध नहीं करना चाहिए।"

(काव्यालंकार १।२०—२२)

भामह के वाद दण्डी ने महाकाव्य के स्वरूप और उसके लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया है। दण्डी के अनन्तर आनन्दवर्धन, भोज और विश्वनाथ ने महाकाव्व के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का जो स्वरूप प्रस्तुत किया हैं, उसमें पूर्वोक्त समस्त आचार्यों की मान्यताओं का समाहार किया गया है, वह परिनिष्ठित महाकाब्य का स्वरूप इस प्रकार है—

"(१) महाकाव्य सर्गवद्ध होता है, किन्तु

(क) सर्ग न छोटे होने चाहिए और न अधिक वड़े।

(ख) सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए, किन्तु किन्हीं के अनुसार वे तीस से अधिक भी न होने चाहिए—'अष्ट सर्गान्नतु न्यूनं त्रिशत्सर्गाच्च नाधिकम्'।

(ग) सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना रहती है।

(घ) सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन आवश्यक है।

(ङ) एक ही सर्ग में कई छन्दों का प्रयोग कभी-कभी हो सकता है। सर्ग का नामकरण भी होना चाहिए।

(२) काव्य का एक नायक होता है; उसमें निम्न गुण होने चाहिए— (क) शूरवीर, (ख) उच्चकुलोत्पन्न, (ग) क्षत्रिय, (घ) धीरोदात्त आदि गुणों से सम्पन्न।

(३) रस—महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त में से एक रस अंगी (मुख्य) होना चाहिए। अन्य रस अंग रूप में होने चाहिए।

(४) वृत्त—महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक, लोकप्रसिद्ध और सज्जनाश्रित होनी चाहिए।

(५) फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

(६) वस्तु-संगठन और नाट्य-सन्धियाँ और सन्ध्याङ्गों की योजना आवश्यक है।

(७) मंगलाचरण-ग्रन्थारम्भ में नमस्क्रिया अथवा वस्तुनिर्देश आवश्यक है।

(८) कहीं-कहीं सज्जन-प्रशंसा और खलनिन्दा की आवश्यकता है।

(९) प्रकृतिवर्णन—संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन तथा जीवन के प्रसंगों की रमणीय योजना होनी चाहिए।

(१०) महाकाव्य का नाम कवि, नायक अथवा वस्तु के आधार पर होना चाहिए।"

भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किये गये हैं किन्तु इनमें से कुछ तत्व ऐसे हैं जो अन्तरङ्ग और अनिवार्य हैं तथा कुछ गौण। कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं किन्तु उनका यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उदाहरण के लिए चरित्र-चित्रण, संवाद आदि।

निश्चय ही महाकाव्य एक प्रवन्ध रचना है, इसमें जीवन का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा—पश्चिम में काव्यशास्त्र विषयक चिन्तन अरस्तू के समय से प्रारम्भ हो गया था। अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं

१. महाकाव्य में अनुकरण होना चाहिए और यह अनुकरण समाख्यानात्मक होना चाहिए, क्योंकि महाकाव्य में कथा प्रस्तुत की जाती है।

२. उसमें छः पद वाले वीरछन्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि यह सबसे अधिक भव्य और गरिमामय होता है।

३. उसकी कथा-वस्तु में अन्वितियों का संघटन रहना चाहिए। कार्य की अन्विति का संघटन (यूनिटी ऑव ऐक्शन) तो नितान्त आवश्यक है। अतएव कथावस्तु का आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध होना चाहिए।

४. उसमें अवान्तर कथाओं का प्रयोग हो सकता है, किन्तु उनसे मुख्य कथा का पोषण होना चाहिए। उनके कारण एकतानता भी दूर होती है।

५. कथानक को इतिहास से ग्रहण करना चाहिए, परन्तु उस कथानक को इतिहास का रूप नहीं देना चाहिए। क्योंकि इतिहास में तो अनेक व्यक्तियों और अनेक (कभी-कभी असम्बद्ध) घटनाओं का वर्णन रहता है, पर महाकाव्य में एक व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का उल्लेख होता है और ये व्यक्तिगत घटनाएँ ऐसी हों, जो हमारे संवेदन को प्रबुद्ध कर सकें। अतएव 'महाकाव्य' में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना का भी प्रचुर पुट रहता है।

६. महाकाव्य में अनेक वस्तुओं, परिस्थितियों और भावों के विस्तृत वर्णन विद्यमान रह सकते हैं, पर ऐसे सभी वर्णनों में स्वाभाविकता सदा बनी रहनी चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि कवि असम्भव घटनाओं के वर्णन से दूर ही रहे।

७. महाकाव्य में जीवन के विविध चित्र होते है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जीवन की रोचक झाँकी है।

८. महाकाव्य सरल अथवा जटिल शैली में लिखा जा सकता है। "जहाँ कार्य की गति रुक जाय और विचार या चरित्र का अभिव्यंजन न हो, वहाँ भाषा अलंकृत होनी चाहिए; इसके विपरीत अत्यधिक कान्तिमयी पदावली चरित्र और विचार को ही आच्छन्न कर लेती है।"

९. महाकाव्य के पात्र महान् होने चाहिए। उनमें अद्भुत तत्व के लिए अधिक अवकाश रहता है।

१०. महाकाव्य का लक्ष्य या उद्देश्य श्रोता का मनोरंजन है और इसका कारण कलात्मक अनुकृति है ?"

फ्रांसीसी समीक्षक लबस्सु महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के चित्रण का एक पद्यबद्धरूपक मानता है। डेवनाट अर्वाचीन घटनाओं की अपेक्षा प्राचीन घटनाओं को महाकाव्य का आधार स्वीकार करता है क्योंकि प्राचीन घटनाओं में चित्रण की स्वतन्त्रता रहती है। लुकन प्राचीन घटनाओं की तुलना में अर्वाचीन घटनाओं को महाकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि चित्रण की सजीवता में अर्वाचीन घटनाएँ अधिक समर्थ होती हैं। रेसाँ मध्यम-मार्ग का अवलम्बन कर न अति प्राचीन न अति नवीन घटनाओं को महाकाव्य का विषय कहता है।

'कविता के सिद्धान्त' नामक कृति में सी० एम० गेले का मत है,...."महा-काव्य किसी ऐसे महिमामंडित कथानक या व्यापार के गरिमापूर्ण कथा-प्रबन्ध की वह सात्विक अभिव्यक्ति है जो किन्हीं वीर पात्रों और अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा सर्वाधिष्ठात्री की नियति के नियंत्रण में घटित होता है।"

W. M. Diction ने महाकाव्य के विषय में लिखा है कि "महाकाव्य एक ऐसे नायक का चित्रण करता है जो किसी देश अथवा किसी आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है और जो उसकी विजय के साथ विजयी होता है। वह कोई महान् अथवा महत्वपूर्ण व्यापार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी प्रकार उसके पात्र भी महान् अथवा महत्वपूर्ण होते हैं। सारी रचना में एक गरिमा होती है। नाटक की तुलना में महाकाव्य के व्यापार की गति मन्द होती है। उसमें घटना-बाहुल्य होता है।...मानव जीवन की जितनी ही विस्तृत भूमिका का उसमें ग्रहण होता है, उतनी ही सफलता महाकाव्य को मिलती है।"

पाश्चात्य आलोचक वाल्टर पेटर ने महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—(१) महाकाव्य में सुसंगठित, गम्भीर एवं प्रसिद्ध कथा हो। (२) महाकाव्य के पात्र उदात्त चरित के हों, (३) महाकाव्य की कथा में मानव जीवन की

१. काव्यशास्त्र की रूपरेखा पृ० २०४,

आस्थायें तथा जीवन का व्यापक चित्रण हो। (४) कलात्मक दृष्टि से भाषा-शैली व छन्दविधान अशिथिल हो। (५) महाकाव्य का उद्देश्य भी महान् होना चाहिए।

प्राच्य एवं पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों का साम्य—वैषम्य

प्राच्य एवं पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों को देखने पर उनमें पर्याप्त साम्य लक्षित होता है, जो अन्तर है वह सामान्य ही है। वह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) भारतीय काव्यशास्त्र महाकाव्य में शृङ्गार, वीर और शान्त रस में से किसी एक रस को अंगी रस के रूप में महत्व देता है जब कि पाश्चात्य काव्यशास्त्री वीर रस को महत्व देते हैं।

(२) पाश्चात्य महाकाव्य में जातीय भावना के विकास का आग्रह स्पष्ट लक्षित होता है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।

(३) पाश्चात्य महाकाव्य में आद्यन्त एक छन्द के प्रयोग का विधान है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग का आग्रह है।

(४) भारतीय महाकाव्य में नायक और उसके कार्यकलाप को विशेष महत्व प्राप्त है जबकि पाश्चात्य काव्यशास्त्र जातीय भावना को विशेष महत्व प्रदान करता है।

कलाकार युगसापेक्ष काव्य का सृजन करता है, वह तदनुरूप काव्य का रूप विधान भी करता है, जैसा कि डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—

"...नवनिर्माण के युग में काव्य के किसी रूप की आवश्यकता है, तो वह केवल महाकाव्य है। गीतिकाव्य में तो केवल व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकर्ष रहता है। महाकाव्य में किसी भी कथावस्तु द्वारा राष्ट्र के जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं का सरस भाषा के माध्यम से प्रतिपादन किया जा सकता है; उसमें जन-जीवन के लिए मंगलमय संदेश रहता है, जो फुटकर कविताओं में नहीं रह सकता।"

आज के इस बौद्धिक युग में महाकाव्य की प्राचीन एवं अर्वाचीन मान्यताओं में परिवर्तन आ गया है। जैसा कि बाबू गुलाबराय जी ने लिखा है कि "आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों

और भावों का अधिक विस्तार रहता है।" यही कारण है कि आधुनिक महाकाव्यों में चारित्रिक गूढ़ता, लौकिक बुद्धिवाद, विषयवस्तु की महत्ता, नवीन उद्भावनाएँ, मानवतावादी व्यापक दृष्टिकोण, शब्द-शक्तियों में से लक्षणा-व्यंजना का महत्व, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर चरित्रचित्रण आदि तत्व विशेष मुखरित दृष्टिगत होते हैं। रवि बाबू का यह दृष्टिकोण ही आज के महाकाव्यों में अधिक स्वीकृत हुआ है कि—

"एक व्यक्ति की कवित्वशक्ति ने समस्त जातीय संस्कारों को जब काव्य का बाना पहना दिया तभी प्रकृत महाकाव्य की सृष्टि होती है।...गरिमा विशेषत्व है।"

इसीलिए डा० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्य के जो लक्षण निश्चित्त किये हैं उनमें उद्देश्य और प्रेरणा को महत्व देते हुए भी गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व को विशेष स्थान दिया है उनका मत है कि—

"गुरुत्व कवि के उच्च विचारों से आता है, गाम्भीर्य उसकी संयत और गम्भीर भावाभिव्यक्ति से उत्पन्न होता है और महानता उसकी घटनाओं, शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति से उत्पन्न होती है।" इस कथन से महाकाव्य के आन्तरिक एवं वाह्य तत्वों का संकेत मिल जाता है। डा० सिंह ने प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारकों के महाकाव्य के लक्षणों के अध्ययन के अनन्तर महाकाव्य की निम्न परिभाषा निर्धारित की है—

"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह, या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपाङ्ग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है। जिसमें यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित

रूप से जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है; और जिनकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"

आशय यह है कि महाकाव्य के तत्वों को हम इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं—कथावस्तु, पात्र-चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल-वातावरण, रस एवं भाव, उद्देश्य, भाषाशैली, इन्हीं तत्वों में प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त काव्य-शास्त्रियों के निर्धारित तत्वों का समाहार हो जाता है। निश्चय ही उदात्तता, विराटता तथा गौरव-गरिमा महाकाव्य के महत्वपूर्ण तत्व है, जिसमें सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की अजस्र धारा प्रवाहित होती है और होनी चाहिए।

प्रश्न ६४—खण्डकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर : संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में खण्डकाव्य का व्यापक विवेचन नहीं मिलता है। भामह एवं दण्डी ने खण्डकाव्य का उल्लेख भी नहीं किया है, जब कि महाकाव्य का व्यापक विवेचन किया है। रुद्रट ने प्रबन्धकाव्य के दो विभाजन महाकाव्य और लघुकाव्य के नाम से किये हैं। हेमचन्द्र भी खण्ड-काव्य का उल्लेख नहीं करते हैं। आचार्य विश्वनाथ पहले व्यक्ति हैं, जो खण्ड-काव्य का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करते हैं—एक कथा का निरूपक पद्यबद्ध सर्गमय ग्रन्थ जिसमें सब सन्धियाँ न हों काव्य कहलाता है। काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है—

> ...काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
> एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्य र्जितम्।
> खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च॥

(सा० द० ६।३ २८-२९)

इस लक्षण में 'एक देश' शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे विश्वनाथ का क्या आशय है? उसके आशय का अनुमान डा० त्रिगुणायत के अनुसार इस प्रकार है।

(१) उसमें जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।

(२) उसमें महाकाव्य के लक्षण संकुचित रूप में स्वीकार किये जाते हैं।
(३) रूप और आकार में खण्डकाव्य से छोटा होता है।
(४) कुछ अन्य विशेषताएँ—प्रभावान्विति, वर्णन, प्रवाह आदि।

खण्डकाव्य एवं महाकाव्य का अन्तर :

आकार-प्रकार की दृष्टि से खण्डकाव्य एवं महाकाव्य में वही अन्तर है जो कहानी और उपन्यास अथवा एकांकी और नाटक में है। खण्डकाव्य भी प्रवन्धकाव्य का एक भेद है, इसलिए उसमें भी प्रायः वही तत्व रहते हैं, जो महाकाव्य में। किन्तु महाकाव्य में विस्तार होता है, जबकि खण्डकाव्य में संकोच। खण्डकाव्य की कथा जीवन के किसी एक पक्ष, एक घटना या प्रसंग-परिस्थिति से सम्बद्ध रहती है। इसमें प्रासंगिक कथाएँ बहुत कम या नहीं भी होती हैं। कथा में उतार-चढ़ाव के लिए भी अधिक क्षेत्र नहीं होता है। इसके अतिरिक्त मार्मिक प्रसंगों का चयन, कथा की व्यवस्थित एवं संगठित योजना, उत्सुकता और स्वाभाविकता आदि गुण होते हैं। कथा इतिहास की या काल्पनिक हो सकती है।

खण्डकाव्य में पात्र कम होते हैं और उनके चरित्र का विकास भी व्यापक धरातल पर नहीं हो पाता। फिर भी चरित्र की स्पष्ट एवं सजीव रेखाएँ स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विकसित होनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त संवाद तथा देशकाल वातावरण की भी संक्षिप्त, रोचक, स्वाभाविक और परिस्थित्यनुकूल योजना होनी चाहिए। रस एवं भाव का विस्तार खण्डकाव्य में कम होता है फिर भी उसमें एक मुख्य रस होता है।

खण्डकाव्य का उद्देश्य महाकाव्य के समान महान् होना चाहिए। "जीवन के आदर्शों और सत्प्रवृत्तियों से खण्डकाव्य को भी प्रेरणापूर्ण बनाना चाहिए। चाहे महाकाव्य जैसी विराटता, महानता, गौरव-गरिमा इसमें न आ पावे, फिर भी उदात्त मानवीय संवेदनाओं का खण्डकाव्य में भी प्रकाशन होना ही चाहिए।"

खण्डकाव्य की भाषा-शैली में कलात्मकता और गरिमा होनी चाहिए। उसमें सरलता, सजीवता स्वाभाविक अलङ्करण एवं प्रवाह होना चाहिए। भावानुकूल छन्दविधान भी उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है।

हिन्दी साहित्य के खण्डकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त के पंचवटी, यशोधरा, 'सिद्धराज', 'जयद्रथवध', रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', निराला का 'तुलसीदास' आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

प्रश्न ६५—मुक्तक काव्य के लक्षण व स्वरूप का विवेचन करते हुए मुक्तक काव्य की सामान्य विशेषताएँ निर्धारित कीजिए।

उत्तर—भारतीय काव्य में प्रबन्ध की दृष्टि से श्रव्य-काव्य के दो भेद माने गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से महाकाव्य और खण्ड-काव्य का विवेचन कर चुके हैं। प्रबन्धकाव्य में पूर्वापर-सम्बन्ध रहता है जबकि मुक्तक में पूर्वापर सम्बन्ध का सर्वथा अभाव रहता है। मुक्तककाव्य में भावात्मकता का प्राधान्य रहता है। इसमें कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों का प्राधान्य रहता है। मुक्तक एवं प्रबन्धकाव्य के भेद को स्पष्ट करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि "प्रबन्ध कवि की किसी महती इच्छा, इतिवृत्तविधायिनी बुद्धि और शिल्प-कुशल चेतना का परिणाम है किन्तु मुक्तक कवि की सद्यःस्फुरित भावुकता, समाज-चेतना और भाव-विधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति।"

परिभाषा—मुक्तक शब्द की निष्पत्ति—मुक्त+कन् से होती है। मुक्त धातु का अर्थ है बन्धन-रहित अथवा स्वतन्त्र।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'मुक्तक' काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। वे इस प्रकार हैं—"मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं रखता—"मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः" अग्निपुराणकार के अनुसार मुक्तक वह है जो एक ही श्लोक में चमत्कारक्षम हो—'मुक्तकं श्लोकः एवैकश्चमत्कारक्षमं सताम्'। वामन ने प्रबन्ध की अपेक्षा अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य को हीन कोटि का काव्य माना है। उनका कथन है कि जैसे अग्नि का एक कण नहीं चमकता वैसे ही मुक्तक भी अकेला शोभित नहीं होता —"नानिबद्धं चकास्ति एकतेजः परमाणुवत्" (का० सू० १।३।२९)। इसके विपरीत आनन्दवर्धन मुक्तक में प्रबन्ध के समान रसोद्बोध की क्षमता

करते हैं—"मुक्तकों में रस-निबन्धन में आग्रहशील कवि के लिए रसाश्रित औचित्य नियामक तत्व है। प्रबन्ध के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाये जाते हैं'—

इसके बाद उन्होंने उदाहरणार्थ अमरुक कवि को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—अमरुक के श्लोकों में शृङ्गार रस का प्रवाह प्रवन्धकाव्यों के समान ही है—"यथाह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।" आनन्दवर्धन की स्थापना का समर्थन करते हुए अभिनवगुप्त ने, लिखा है कि—"मुक्तक उसे कहते हैं जो पूर्वापर निरपेक्ष होकर भी रसास्वादन में समर्थ हो'—

"पूर्वापरनिरपेक्षेणाऽपि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की मान्यता का समर्थन किया है। निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि मुक्तक में रसोद्वोध की क्षमता नहीं होती। मुक्तक में रससंचार कराना अधिक कठिन कार्य है क्योंकि प्रवन्ध में विभावादि की योजना जितनी सरल और सहज होती है उतनी मुक्तक में नहीं। दूसरा तथ्य यह है कि प्रवन्ध का कथाप्रवाह भी रसानुभूति में सहायक होता है पर मुक्तक का रचयिता उस सुविधा को प्राप्त नहीं कर सकता। जहाँ तक रसानुभूति की वात है दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु यह भी निश्चित है कि प्रभाव की गम्भीरता, व्यापकता तथा स्थायित्व की दृष्टि से प्रवन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी यही है कि "मुक्तक में प्रवन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसङ्ग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनमें हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रवन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक

रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।"[1]

आचार्य शुक्ल मुक्तक की तीन विशेषताओं पर बल देते हैं—

(१) एक रमणीय मार्मिक खंड-दृश्य का सहसा आनयन।

(२) चयन, संयम और मंडन की प्रवृत्ति,

(३) कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

'बिहारी की काव्य-कला' के लेखक ने सफल मुक्तक की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) "मुक्तक में प्रत्येक छन्द अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम होना चाहिए।

(२) मुक्तक में सरसता होनी चाहिए। प्रबन्ध की धारा में तो नीरस पद्य भी उसी प्रकार सरस हो जाते हैं जिस प्रकार पवित्र-सलिला भागीरथी की पावन जलधारा में मलिन जल भी पूत प्रभाव ग्रहण कर लेता है। किन्तु मुक्तक में भाव-प्रवाह के अभाव में नीरसता फौरन खटकने लगती है। अस्तु, उसे सरस होना चाहिए।

(३) मुक्तककार को व्यंग्य प्रयोग में प्रवीण होना चाहिए। उसके पास प्रबन्धकार की भाँति विस्तृत क्षेत्र न होकर अत्यन्त संकीर्ण परिधि रहती है जिसमें उसे अभिधा की अपेक्षा व्यंजना का ही संबल ग्रहण करना पड़ता है।

(४) मुक्तक-रचना की सफलता के लिए मुक्तककार में कल्पना की समाहार, शक्ति होनी चाहिए। वह अपने भावों को मधुर-मंजुल कल्पना से आवेष्ठित कर जितने ही हृदयग्राही ढंग से उपस्थित करेगा, उसकी मुक्तक रचना उतनी ही सफल होगी।

(५) मुक्तककार को अभिव्यंजना के प्रधान माध्यम अर्थात् शब्दों के प्रयोग

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २९८-९९

में दक्ष होना चाहिए। गिने-चुने शब्दों में सफलतापूर्वक भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए उसकी भाषा में समासगुण का आधिक्य रहना चाहिये।

(६) मुक्तक रचनाकार में मार्मिक दृश्यों का चयन करने की क्षमता होनी चाहिए। असीमित जीवन-क्षेत्र से उसे ऐसे मार्मिक दृश्य चुन लेने चाहिए जिनका सजीव चित्र वह अपने छंद की छोटी सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके।

(७) मुक्तक का वृत्तांश ऐसा होना चाहिए कि पाठक उस तक शीघ्र पहुँच सके। डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार "जहाँ प्रसङ्ग के आक्षेप में कठि-नाई पड़ती है। या नाना प्रकार के प्रसंगों का आक्षेप सम्भाव्य होता है। वहाँ मुक्तक उत्तम नहीं कहा जा सकता है।"

(८) सफल मुक्तक में नाद-सौन्दर्य होना चाहिए।

(९) मुक्तक में रसमग्न करने की क्षमता होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर मुक्तककाव्य की परिभाषा इन शब्दों में निर्धा-रित की जा सकती है—

"मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खंडदृश्य अथवा संवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमें नैरन्तर्यपूर्ण कथा-प्रवाह नहीं होता, जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक, व्यापक कम होता है। तथा जो स्वयं पूर्ण अर्थ-भूमि-सम्पन्न अपेक्षाकृत लघुरचना होती है।" अथवा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "जिस रचना का लगाव पूर्वापर किसी दूसरी रचना से नहीं होता वह अनुबन्धहीन स्वतः अर्थद्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कह-लाती है।"

प्रश्न ६६--गीतिकाव्य की परिभाषाएँ लिखकर उसके स्वरूप और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः—गीतकवि के अन्तस्तल से निःसृत होने वाली वह मनोहर निर्झ-रिणी है जिसमें संगीत की लोल लहरियों की थिरकन और भावों की मधुरिम तरंगावलियों का नर्तन समाविष्ट रहता है। निःसन्देह काव्य-कला अपने

कोमलतम स्वरूप को लेकर गीतिकाव्य में ही अवतरित हुई है। गीतिकाव्य का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द लिरिक (Lyric) है जिसका सम्बन्ध वीणा के सदृश एक वाद्य यन्त्र से है। इसीलिए कुछ लोगों ने लिरिक का अनुवाद वैणिक भी किया है। वैणिक या लिरिक का मूल अर्थ तो वीणा से सम्बद्ध है परन्तु प्रायः उन सभी गेय पदों के लिए गीतिकाव्य शब्द प्रयुक्त किया जाता है जिनसे भावातिरेक के साथ निजीपन का प्राधान्य रहता है। वस्तुतः संगीत यदि गीत का कमनीय कलेवर है तो निजी भावातिरेक उसमें स्पन्दित होने वाला प्राण-तत्व, है जिसके अभाव में गीत निर्जीव एवं निष्प्राण हो जाता है। यह भावातिरेक सुखात्मक या दुःखात्मक दोनों ही हो सकता है। गीतिकाव्य की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए महादेवी वर्मा ने इस प्रकार इसकी परिभाषा की है—"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

गीतिकाव्य की परिभाषाएँ अनेकों प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने अपने मतानुसार की हैं। हडसन के अनुसार "शुद्ध गीतिकाव्य में एक ही भाव, एक ही उमंग भावावेश के साथ संक्षिप्त रूप में व्यंजित होती है। विस्तार उसके प्रभाव को कम कर देता है।" हरवर्ड रीड के अनुसार "सूक्ष्म अनुभूतिमय रचना को गीतिकाव्य कहा जाता है।" राइस के शब्दों में "भाव या भावात्मक विचार के लयमय विस्फोट को गीतिकाव्य कहते हैं।" हीगेल का कथन है कि "जब विश्व-हृदय में प्रविष्ट होकर कवि अपनी अनुभूति को चित्तवृत्तियों के अनुरूप मधुर कोमलकान्त पदावली में व्यक्त करता है तब गीत को जन्म मिलता है।"

डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार "गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है बाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भाव से रंजित करता है। उसमें शब्द-साधना के साथ स्वर (संगीत) की साधना होती है।"

उपर्युक्त प्राच्य-पाश्चात्य मतों के पर्यावलोकन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि "गीतिकाव्य या प्रगीत कवि की वह निजी सुख-दुःखमयी तीव्र संकल्पा-

त्मक भावानुभूति का कोमल शब्दावली में संक्षिप्त खण्ड उच्छ्वास है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय एवं संगीतात्मक होता है।"

गीतिकाव्य के तत्व—गीतिकाव्य के निम्नलिखित सात तत्व हैं—

१. भावप्रवणता—मानव का हृदय-तल असंख्य भावों और अनुभूतियों का क्रीड़ास्थल है। प्रेम, करुणा, हर्ष एवं विषाद आदि भाव उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं। कवि अपने गीतों में अन्तरतम के इन्हीं मूल भावों को वाणी प्रदान करता है। हृदय की सुख-दुःखात्मक वृत्तियाँ ही गीतिकाव्य का विषय बनती हैं। गीत में हृदय की कोमल भावनाओं का सहज स्वाभाविक स्फुरण होता है। कवि के अन्तर की अनुभूति जब घनीभूत होकर अपनी तीव्रता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है तभी गीतिकाव्य का जन्म होता है। करुणा के भाव को गीति का स्रोत माना गया है। क्रौंच पक्षी के करुण-क्रन्दन को सुन आदिकवि के मुख से स्वतः कविता फूट पड़ी थी। कवि पन्त ने भी लिखा है।

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥"

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेली ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है—

"Our sweetest songs are those
That telleth saddest thought.

इन उद्धरणों का यह अभिप्राय नहीं है कि गीत केवल करुणा से ही अनुस्यूत होता है, अपितु इनका तात्पर्य यह है कि गीत भावावेश के तीव्रतम चरम बिन्दु का परिचायक है। भावप्रवणता गीतिकाव्य का सर्वप्रधान तत्व है। गीत में वर्णित भाव जितना अधिक गहन एवं उदात्त होगा, गीत उतना अधिक उत्कृष्ट कोटि का कहा जायेगा।

२. आत्माभिव्यक्ति—गीतिकाव्य का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व आत्माभिव्यक्ति है। गीत-सृजन के मूल में चूँकि कवि की निजी सुखःदुखमयी अभिव्यक्ति रहती है अतएव इसका स्वरूप आत्माभिव्यक्तिपरक बन जाता है। परन्तु विशे-

षता यह है कि यह अभिव्यक्ति आत्मपरक होते हुए भी सबकी अनुभूति बन जाती है। गीत का आस्वादन करने वाला प्रत्येक पाठक और श्रोता कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। गीत-रचना स्वान्तः सुखाय होते हुए भी परान्तः सुखाय हो जाती है। गीतिकार के गीतों का 'मैं' व्यक्ति विशेष के भावों का अभिव्यंजक न रहकर समस्त काव्यास्वादकों के भावों का सूचक बन जाता है। इसी में गीतकार की सफलता निहित है। यदि वह निजीपन की झोंक में गीत को स्वान्तः सुखाय तक ही सीमित रखता है, तो उसकी अभिव्यक्ति सफल नहीं कही जायेगी। "गीतिकार की दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती हैं। रस्किन के शब्दों में गीतिकाव्य की निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहज शुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकता से मुक्त विचार, ये ही गीतिकाव्य की वास्तविक विशेषताएँ हैं।" गीति की संगीतात्मकता इसी का अनिवार्य परिणाम कही जा सकती है। ब्रूनेतियर ने कहा है, "गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है।"

(हिन्दी साहित्य कोश, पृ० २६०)

३. सौंदर्यमयी कल्पना—गीति-काव्य आत्मा की अनुभूति का व्यक्त रूप है, गीतिकार अपनी खण्ड अनुभूतियों को मार्मिक सौन्दर्यमयी कल्पना के द्वारा व्यक्त करता है। वह रूप-विधान, बिम्ब, प्रतीक, उपमान आदि के प्रयोग से अपनी कृति में अपूर्व सौन्दर्य का सृजन करता है। इस काव्य-सृष्टि में सौन्दर्यमयी कल्पना महत्वपूर्ण योगदान करती है।

४. संक्षिप्त आकार—गीतिकाव्य में खण्ड अनुभूतियों को व्यक्त किया जाता है, यह अनुभूति संक्षिप्त होती है, अतः सघन और मार्मिक होती है। यदि भावना का अधिक विस्तार होगा तो भाव की सघनता और तीव्रता कम होने का डर रहता है। कल्पना के कृत्रिम प्रयोग से जब कवि अनुभूति का वर्णन-विस्तार करने लगता है तो गीतिकाव्य की आत्मा को हानि पहुँचती है।"

५. संगीतात्मकता अथवा गेयता—गीतिकाव्य संगीतात्मक होता है,

अतः गेयता या स्वर तथा शब्दों की संगीतात्मकता उसका प्रधान स्वर है। इसके लिए कवि कोमलकान्त पदावली को अपनाता है। साथ ही यह ज्ञातव्य है कि यह संगीतात्मकता भावों की उपज है न कि तबले की थाप। "गीति का सहज स्वाभाविक रूप उसकी संगीतात्मकता और गेयात्मकता में ही सुरक्षित रहता है। उसकी प्रभाव-शक्ति भी इससे बढ़ती है। संसार के श्रेष्ठ गीत गेय ही हैं और रहेंगे।"

६. भावान्विति और समाहित प्रभाव—गीतिकाव्य में किसी एक मार्मिक अनुभूति को शब्दबद्ध किया जाता है, अतः उसमें एकसूत्रता और एक ध्येय रहता है। अतः वह समाहित प्रभाव को उत्पन्न करता है। जिस गीत में जितनी प्रभावान्विति होगी, वह उतना ही सुन्दर और मार्मिक होगा' यह प्रभावान्विति ही गीतिकाव्य को एक स्वतन्त्र और पूर्ण रचना का पद प्रदान करती है। "गीति-रचना की प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें संवेगात्मक एकता या भाव-संतुलन सुरक्षित रहे। जिसमें किसी एक ही विचार, भाव या परिस्थिति का चित्रण सम्भव है।......गीति की भावमूलक एकता में उसके आकार की लघुता का गुण भी निहित है। किसी एक तीव्र अनुभूत भाव की स्थिति अधिक देर तक विकासशील नहीं रह सकती। यदि उसे बढ़ाया जायगा तो उसमें पुनरुक्ति, उपदेशात्मकता, वर्णनात्मकता और परिणामस्वरूप प्रभाव-हीनता आ जायगी। कवि की आत्मनिष्ठ तीव्र भावानुभूति अखण्ड और सुसंहत रूप में गीति के लघु आकार में ही सुरक्षित रह सकती है। प्रेरणाप्राप्त सौंदर्य-कल्पना से प्रसूत गम्भीर मनोवेग की अभिव्यक्ति में गति की तीव्रता भी स्वाभाविक है।" और समाहित प्रभाव भी।

७. कलात्मक कोमलकांत पदावली—गीतिकाव्य कवि की स्वानुभूति-जन्य सौंदर्यमयी कल्पना है, अतः उसे शब्दबद्ध करने के लिए कोमलकांत पदा-वली की नितांत आवश्यकता होती है। क्योंकि "गीति-काव्य में कोमल भावनाओं के अनुरूप मसृण, कोमल, सुन्दर, प्रवाहात्मक एवं कलात्मक भाषा-शैली होती है।" इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के गीति-काव्य के इतिहास में विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा आदि का नाम लिया जा सकता है किन्तु इस

दृष्टि से छायावादी कवियों का कार्य ज्यादा उल्लेखनीय है। "भाषा की लाक्षणिक व्यंजना–शक्ति, सुन्दर मूर्त–अमूर्त-विधान; स्वाभाविक अलंकरण, नई सौन्दर्य-सृष्टि, नयी उपमान-योजना आदि सभी कलात्मक प्रसाधनों का विकास गीति-काव्य ने अपने छायावादी काल में कर लिया था।"

पाश्चात्य समीक्षा में गीतिकाव्य की जो विशेषताएँ हैं उनमें संगीतात्मकता और आत्माभिव्यक्ति, अर्थात् "अन्तर्निहित संगीतात्मकता और तीव्र अनुभूतिपूर्ण स्वानुभूलकता को गीतिकाव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। उन्हीं के परिणामस्वरूप गीति में सरस उद्रेक, नवोन्मेष, सद्यःस्फूर्ति, स्वच्छता, अनाडम्बर आदि विशेषताएँ आ जाती हैं।"

६७—गीतिकाव्य के विभिन्न भेदों का सामान्य वर्णन करते हुए लोकगीति तथा साहित्यिक गीत का अन्तर स्पष्ट कीजिए। साथ ही मुक्तक काव्य और गीति अन्तर का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर:–**गीतिकाव्य के भेद**—गीतिकाव्य के विभाजन के अनेक आधार हैं—जैसे, भाषा, देश, वर्ण्य-विषय और विधान आदि। हम यहाँ वर्ण्य विषय के आधार पर गीतिकाव्य के रूप-भेदों का नामोल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं—वीर गीत, शोक गीत, चतुर्दशपदी; व्यंग्य गीत, रूपक गीत, राष्ट्रीय गीत, उपालम्भ गीत, विचारात्मक गीत, आदि।

वीर गीत (Ballads)—किसी वीर व्यक्ति के चरित्र को आधार बनाकर लिखा गया गीत 'वीर गीत कहलाता है। इस प्रकार के गीतों में प्रायः कथा और संगीतात्मकता का मिश्रण होता है। इस प्रकार के गीतों की भाषा प्रसाद और ओज गुण सम्पन्न होती है। किन्तु इन्हें कुछ आलोचक गीतिकाव्य में स्वीकार नहीं करते क्योंकि इनमें प्रबन्धात्मकता होती है। फिर भी राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गये अनेक गीत इस कोटि में सहज आ जाते हैं, उन्हें हम राष्ट्रीय गीत' या 'वीर गीत' कह सकते हैं।

करुण गीत (Elegy)—ग्रीक में विशेष प्रकार के छन्द विधान को ही 'इलेजी' कहा जाता है। अतः 'इलेजी' छन्द में निर्मित गीत ही 'एलेजी, कहा जाने लगा है। इन गीतों में करुणा का प्राधान्य होता है जहाँ अपने प्रिय का

निधन या उसके अनिष्ट की कल्पना होती है। प्रसाद का 'आँसू' निराला की 'सरोजस्मृति' आदि इसके उदाहरण हैं।

सम्बोध गीत (Ode)—गीत में किसी वस्तु या प्राणी को सम्बोधित कर अपनी भावाभिव्यक्ति की जाती है। जैसे पंत की 'छाया', 'भावी पत्नी के प्रति', निराला की 'यमुना के प्रति'।

चतुर्दशपदी (Sonnet)—इस यह गीत चौदह पंक्तियों का होता है। इसमें प्रेम, विरह आदि कोमल भावनाओं के आधार पर गीत लिखे जाते हैं। हिन्दी में इन गीतों को विशेष महत्व नहीं मिला है। हाँ, प्रभाकर माचवे ने 'नारी के प्रति' आदि चतुर्दशपदियाँ अवश्य लिखी हैं।

व्यंग्य गीत (Satire)—'व्यंग्य गीत' उन गीतों का नाम है जिनमें किसी वस्तु, स्थान, प्राणी या तथ्य पर व्यंग्य या कटाक्ष किया जाता है। आधुनिक काल में भारतेन्दु, निराला तथा प्रगतिवादी कवियों ने काफी व्यंग्य गीत लिखे हैं। निराला की 'कुकुरमुत्ता' तथा 'मालपूये' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं।

उपालम्भ गीत—व्यंग्यपूर्ण उपालम्भों से युक्त कविता उपालम्भ गीत के अन्तर्गत आती है। सूर के पद इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

रूपक गीत—जिन गीतों में रूपकों या अन्योक्तियों से अप्रस्तुत के द्वारा अर्थ व्यंजित होता है, उन्हें 'रूपक गीत' कहते हैं। छायावादी कवियों ने ऐसे अनेक गीत लिखे हैं।

लोक गीत एवं साहित्यिक गीत—'लोकगीत' भी गीतों के अन्तर्गत आते हैं। इनमें जन-जीवन के दर्शन होते हैं। किन्तु साहित्यिक गीत और लोक गीतों में अन्तर होता है—

(१) "लोक गीतों में निजीपन होता है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है इसी के द्वारा वैयक्तिक रस की अपेक्षा जन रस उत्पन्न होता है। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन रहता है। (२) लोक गीतों का सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि से रहता है किन्तु साहित्यिक गीत सदैव गाये जाते हैं। (३) लोक गीतों

के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में व्यक्त भी रहता है किन्तु साहित्यिक गीतों में प्रायः नाम व्यक्त ही रहता है।"

लोक गीतों और साहित्यिक गीतों में साम्य भी पर्याप्त होता है— (१) "लोक गीतों में भी साहित्यिक गीतों की सी कल्पना रहती है। (२) लोक गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण-महाभारत से सम्बन्धित अनेक लोक गीत हैं। (३) लोक साहित्य और शिक्षित लोगों के साहित्य में आदान-प्रदान होता रहता है। जायसी के पदमावत की कथा का पूर्वार्द्ध लोक साहित्य से ही निर्मित है।" बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "साहित्यिक गीतों का उदय लोक गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं।"

गीतिकाव्य एवं मुक्तककाव्य—गीतिकाव्य मुक्तककाव्य से भी भिन्न है। इन दोनों का सामान्य अन्तर इस प्रकार देखा जा सकता है—"एक मुक्तक विषय प्रधान है दूसरा गीति विषयी-प्रधान। एक में कवि पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति करता है तो दूसरे में कवि स्वयं पात्र बन बैठता है। एक वस्तु-परक है तो दूसरा भाव-परक। एक परिस्थिति विशेष का चित्रण करता है तो दूसरा भाव विशेष का। एक का कवि तटस्थ दर्शक है तो दूसरे का स्वयं भोक्ता।" मुक्तक काव्य की शैली अपेक्षाकृत स्थिर, परिमार्जित, कृत्रिम तथा असहज होती है। जबकि प्रगीत की अपेक्षाकृत तरल, स्वाभाविक, सहज और अकृत्रिम होती है।"

प्रश्न ६८—(१) निबन्ध शब्द की व्याख्या करते हुए निबन्ध की एक परिभाषा दीजिए।

(२) निबन्ध के तत्वों का विवेचन कर विभिन्न शैलियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। साथ ही निबन्ध के विभिन्न प्रकारों का परिचय दीजिए।

(३) निबन्ध, प्रबन्ध तथा लेख का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—महत्व—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' वामन की इस उक्ति को देखकर शुक्ल जी ने कहा था कि "यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे

होता है।" आचार्य शुक्ल के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गद्य का सर्वाधिक विकसित और प्रभावशाली रूप निवन्ध है। भाषा की दृष्टि से भी गद्य का यह रूप परिपक्व और उन्नततम है।

निवन्ध शब्द का अर्थ एवं प्रयोग—इस शब्द का मौलिक अर्थ वाचस्पत्यम् कोश में नि+वन्ध (वाँधना)+घञ् (संग्रह) रोकना किया गया है। जटाधर के अनुसार इस शब्द की निष्पत्ति नि+वन्ध (वाँधना+अच्) से हुई है तथा इनका अर्थ नीम का वृक्ष और उसके सेवन से कोष्ठ-रोग रोध है।

प्राचीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में हुआ है—

(१) याज्ञवल्क्य स्मृति में निबन्धोद्रवमेय—रूप में।

(२) हेमचन्द्र ने संग्रह-ग्रन्थ, मूत्ररोध रूप रोग, वन्धन के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

(३) निबन्धयासुरी मवा (१६।५) भी वाँधने की क्रिया के अर्थ में आया है।

(४) 'हिन्दी साहित्य कोश' में "निवन्ध का प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रों को संवारकर वाँधने या सीने की क्रिया के लिए भी होता था, किन्तु कालान्तर में अर्थ-संकोच के रूप में केवल साहित्यिक कृति के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा।"

(५) "संस्कृत में निवन्ध का समानार्थी किन्तु अधिक व्यापक शब्द प्रवन्ध है, जिसका मूल अर्थ प्र+वन्ध (वाँधना)+अच्. सन्दर्भ या ग्रन्थ रचना है। आधार (कथा-विषय) पर कल्पना से ग्रन्थ रचना करना भी प्रवन्ध कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय या कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण प्रवन्ध कहलाता है।" इसी अर्थ के रूप में गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है—

"नानापुराणनिगमागम···भाषानिवन्धमतिमञ्जुलमातनोति।"

निवन्ध एवं प्रवन्ध शब्दों का अर्थ प्रायः समान ही सन्दर्भ, ग्रन्थ रचना, कल्पना-प्रसूत कथा, परम्परानुमोदन, कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण, आख्यान, कथा, काव्य आदि है। इसीलिए शुक्ल जी के विस्तृत कवि सम्बन्धी लेख उन्हीं के आधार पर 'प्रवन्ध' कहे जाते हैं।

निबन्ध के पर्याय के रूप में प्रबन्ध के अतिरिक्त लेख, सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में इनका विवेचन करते हुए लिखा गया है कि "लेख मूल अर्थ में समस्त लिखी सामग्री के लिए आता है, किन्तु वास्तव में यह उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक ढंग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढंग से प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजी का आर्टिकल कह सकते हैं। सन्दर्भ का अर्थ पिरोना, प्रसंग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना, संकलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ है, जिसमें किसी ग्रन्थ के दुरूह स्थलों का अर्थ दिया गया हो। यह लेख से कम व्यापक है। निबन्ध के पर्याय के रूप में यह वह गद्य रूप है, जिसमें किसी विषय के किन्हीं प्रसङ्गों पर विचार प्रकट किये जाते हैं। रचना का मूल अर्थ कृति के लिए होता है। निबन्ध के अर्थ में यह किसी विषय या वस्तु पर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदि की दृष्टि से लेखक की गद्यात्मक अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी का 'कम्पोजीशन' इसके समान अर्थ रखता है।"[1]

हिन्दी में 'निबन्ध' से जिस साहित्यिक विधा की अभिव्यक्ति होती है, वह वस्तुतः लैटिन के 'एक्सेजियर', फ्रेंच के 'एसाइ' और अंग्रेजी के 'एसे' का पर्यायवाची शब्द है। 'इसका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग अथवा परीक्षण होता है।'

निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ विद्वानों ने की हैं। प्रत्येक विद्वान् ने किसी एक या दो तत्वों को महत्व दिया है। इसीलिए एक परिष्कृत और सर्वसम्मत परिभाषा न तो उपलब्ध ही है और न सम्भव ही। फिर भी हम विभिन्न परिभाषाओं को उद्धृत कर विचार करेंगे। चूंकि आधुनिक हिन्दी-निबन्ध साहित्य पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है, अतः पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं—

मोन्टेन—"ये मेरी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्यान्वेषक का दावा नहीं करता, प्रत्युत स्वयं को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ"—

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४५४

'These essays are an attempt to communicate a soul.' वे पुनः निबन्धों को अपने व्यक्तित्व का चित्र भी कहते है—'I am the subject of my essays because I am self, am the only person-whom I know thoroughly.

डा० जानसन के अनुसार "निबन्ध मस्तिष्क की एक शिथिल विचारतरंग है। जो अनियन्त्रित, क्रमहीन, अपरिचित और अपरिपक्व रचना है, यह नियमवद्ध एवं क्रमवद्ध रचना नहीं है"—"A loose sally of mind, an irregular indigested piece; not a regular and orderly performance, जानसन की निवन्ध की परिभाषा से निवन्ध के एक गुण आवेग की सूचना मिलती है।

क्रैवल ने उपहासात्मक शब्दों में निवन्ध की यह परिभाषा दी है—" निवन्ध लेखन–कला का वहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञान–वृद्धि की जिज्ञासा। निवन्ध-लेखन उसको भी अनुकूल पड़ता है और उस पाठक को भी भाता है, जो विविधता तथा हल्की रचना में आनन्द लेता है।

आवोर्म्स का कथन है कि "निवन्ध सामयिक विषय पर हल्का-फुल्का अनौपचारिक लेख है"—'Essay is a light gossipy article on a topical subject.

जी० वी० !ेस्टले का मत है कि—निवन्ध मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल अभिव्यक्ति है—'Essay is a genuine expression of the original person ality.

लेवो महोदय का मत है कि "निबन्ध का अर्थ एक ऐसा लघुकाय शिथिल-वन्ध है, जिसमें दार्शनिक और सामाजिक किसी विषय पर वैयक्तिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया गया हो।

हेनरी मोर्ले महोदय 'वैचारिक विषय का विश्लेषण' निबन्ध का प्रमुख गुण मानते हुए लिखते हैं कि—

'The History of essay writing begins with Montaigue and then passes to Bacon. Each used the word essay in its

true sense, as an essay or analysis of some subject of thought.

इसी प्रकार के अन्य अनेक पाश्चात्य विद्वान् निवन्धों में विषय की गम्भीरता का विश्लेषण स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि जहाँ विचार ठूँस-ठूँस कर भरे जावें वही सफल निवन्ध होता है। इसका प्रतिपादन करते हुए लॉक्स लिखता है कि "ponderous volume close packed with philosophic matter. हर्वर्ट रीड कलाओं को कलाकार की मानसिक वैयक्तिक उत्पत्ति मानते हुए लिखता है कि—In a way all the arts are personal, in that they depend on the particular distinct and mental habit of the writer.

हडसन निवन्धों में वैयक्तिकता को महत्व देते हैं—'The true essay is essentially personal. इसके अतिरिक्त रचयिता के चिन्तन और चरित्र-चित्रण को भी वे महत्व देते हैं।

निवन्ध के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण विचारणीय है, क्योंकि निवन्ध को 'मस्तिष्क का उन्मुक्त, अनियमित तथा अपरिपक्व मौज स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि निवन्ध में सीमावद्धता, विषय का विस्तार और गहराई भी अपेक्षित है। न ही निवन्ध को केवल वैयक्तिक विधा स्वीकार किया जा सकता है, यदि ऐसा होगा, तो वर्ण्य-विषय की गम्भीरता तिरोहित हो जायगी। आज का निवन्ध साहित्य काफी विकसित हो चुका है, उसकी मान्यताओं में भी थोड़ा परिवर्तन आ चुका है, उपर्युक्त पाश्चात्य विचारकों की मौलिक मान्यताओं को स्वीकार कर भी आज का निवन्धकार वर्ण्य विषय को विशेष महत्व देने लगा है।"

हिन्दी साहित्य के निवन्धकारों ने 'निवन्ध' की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे भी विचारणीय हैं—डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार निवन्ध की परिभाषा निम्न है—"निवन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तृत एवं पाण्डित्यपूर्ण विचार किया गया हो।

निवन्ध विषय पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा

है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।[1]

किन्तु वे व्यक्तिगत विशेषता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "व्यक्ति-विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना दी जाय उनकी अनुभूति से प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।[2]"

डा० नगेन्द्र के अनुसार "निबन्ध उस कलात्मक गद्य लेख को कहते हैं, जिनमें वैयक्तिक दृष्टिकोण तथा आत्मिक ढंग से विषय का प्रवाहपूर्ण वर्णन हो, और जो अपने संक्षिप्त आकार में स्वतः पूर्ण हो।"

श्री जयनाथ नलिन निबन्ध में अनुभूतियों के साथ सरलता और सजीवता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार निबन्ध "किसी विषय पर स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित, गद्यात्मक प्रकाशन है।[3]"

बाबू गुलाब राय के शब्दों में "निबन्ध उस रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[4]

बाबू जी की परिभाषा से मिलती-जुलती परिभाषा डा० भगीरथ मिश्र की भी है—"निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५०५ सं० १९९९
२. वही पृ० ५०५
३. हिन्दी निबन्धकार पृ० १०
४. काव्य के रूप पृ० २३६

स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।"[1]

प्राच्य एवं पाश्चात्य अधिकांश निबन्धकारों ने निबन्ध में वैयक्तिकता एवं स्वच्छन्दता को स्वीकार किया है किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि लेखक अमर्यादित हो, अनावश्यक कल्पना की उड़ान करता रहे। निबन्ध के क्षेत्र में, उसकी परिभाषा आदि में वैविध्य है, सीमारेखा का अभाव है। इस विषय में 'हिन्दी साहित्य कोश' में विवेचन करते हुए लिखा गया है कि—

"निबन्ध के लक्षणों मे स्वच्छन्दता, सरलता तथा आडम्बरहीनता तथा घनिष्टता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है। परन्तु ये लक्षण विभिन्न लेखकों की कृतियों में कितने विभिन्न रूपों में मिलते हैं इसे स्मरण रखना आवश्यक है। निबन्धकार की स्वच्छंदता उच्छृंखलता नहीं है। उसकी अनियमितता में भी एक नियम है और उसकी अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था है; जान पड़ता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्तु वास्तव में ऐसा भ्रम पैदा करने के लिए उसे स्वतः अपनी मौलिक पद्धति खोजनी पड़ती है, अतः निबन्ध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है कि उसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। इसी प्रकार सहज सरल आडम्बरहीन आत्माभिव्यक्ति के लिए एवं परिपक्व और विचारशील गम्भीर व्यक्तित्व की अपेक्षा है। यद्यपि उसकी कृति में प्रायः रचना की परिपक्वता का अभाव-सा दिखाई देता है; परन्तु पाठक के साथ लेखक की निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। इसके अभाव में सफल कथात्मक निबन्ध रचना सम्भव नहीं, लेकिन बिना किसी संकोच के लेखक अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेने के लिए आमन्त्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी उसका निबन्ध पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयता के साथ निबन्ध-लेखक पाठकों को अपने पाण्डित्य से अभिभूत नहीं करना चाहता और अधिकाधिक ऋजु और उदार रूप में

१. काव्यशास्त्र पृ० ७७

प्रकट होता है। निबन्ध की वैयक्तिक आत्मनिष्ठता भी इसी आत्मीय दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है। स्वभावतः इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। अनेक ऐसे निबन्ध-लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ निर्वैयक्तिक कही गयी हैं और वे विषय-वस्तु पर तटस्थ रूप में विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में निबन्ध-लेखक की आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता व्यक्ति-सापेक्ष्य है। उसकी मात्रा में न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा सम्भव नहीं है। निबन्ध-लेखक की विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढ़ता का परिचय देती है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा (मूड) में लिखा जाता है। इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावतः नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखक के किसी विषय-सम्बन्धी विचारों का संक्षेप या सार होता है, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोण से किसी विशेष मनोदशा के अन्तर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निबन्ध का आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता।"[१]

उपर्युक्त विवेचन तथा विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध के निम्न गुण निर्धारित किये जा सकते हैं—

(१) एकसूत्रता निबन्धों का सर्वस्व है।

(२) निबन्धों में व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व का प्राधान्य होता है।

(३) प्रतिपादन में आत्मीयता।

(४) प्रभावपूर्ण भावात्मकता।

(५) तथ्यात्मक दार्शनिक वैज्ञानिकता का अभाव।

(६) स्वतः पूर्णता एवं संक्षिप्तता।

(७) निबन्ध में शैली के परिष्कार एवं उसे प्रभावात्मक बनाने के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता और कुछ अलंकारों का प्रयोग भी हो सकता है।

इसीलिए 'साहित्य विवेचन' के लेखक-द्वय निबन्ध की निम्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४४६

"निबन्ध गद्यकाव्य की वह विधा है, जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप-जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है ।"

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में श्रेष्ठ निबन्ध वही है जिसमें "विचार ठूँस-ठूँस कर भरे जावें" जहाँ "गूढ़ विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े" तथा जिसमें "विचारों की वह गूढ़गुम्फित परम्परा...जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े ।"[1]

शैली की दृष्टि से विचार करने पर हम डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में कह सकते हैं कि एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता, प्रवाहपूर्णता एवं आवश्यक संगति निबन्ध शैली के अपने गुण हैं । "तथ्य यह है कि निबन्ध को एक विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व इसी शैली द्वारा प्राप्त होता है ।"

निबन्ध के प्रकार—निबन्धों के चार भेद हो सकते हैं । अधिकांश विद्वान् चार प्रकार के निबन्ध मानते हैं—वर्णनात्मक, कथात्मक या विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक । डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार "प्रथम दो कल्पना-प्रधान, तीसरा भाव-प्रधान और चौथा विचार-प्रधान होता है ।"[2]

वर्णनात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों में "किसी घटना या पदार्थ का वर्णन रहता है," ये विवरण-प्रधान, चित्रात्मक और गद्यदृश्यों से परिपूर्ण होते हैं तथा "ये निबन्ध भावप्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षोभ को अंकित करने वाले रूप-विधान का भाव लिये होते हैं ।"

विचारात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में मनोविज्ञान, दर्शन आदि की विभिन्न मान्यताओं की विवेचना एवं साहित्यिक विधाओं की आलोचना होती है । इन्हें विवेचनात्मक निबन्ध भी कहा जाता है ।

१. हि० सा० इ०, पृ० ५०६
२. काव्यशास्त्र, पृ० ४७

भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निवन्धों में भावुकता एवं मनोवेगों का प्राधान्य होता है। भले ही वह रागात्मक हो या व्यंग्यात्मक। इस प्रकार के निवन्धों पर विचार करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि "भावात्मक निवन्धों का उद्देश्य भावोद्रेक या रस संचार है। निवन्ध का यह सबसे प्रभावशाली रूप है, प्रेम, करुणा, हास्य, वीरता आदि के भावों का चित्रण करने वाले निबन्ध बड़े ही प्रभावपूर्ण होते हैं। भावात्मक निवन्धों की तीन शैलियाँ देखी जाती हैं—धारा शैली, विक्षेप या तरंग शैली और प्रलाप शैली। धारा शैली में मन्थर गति से संयत शब्दावली में भाव का धाराप्रवाह प्रकाशन होता है। विक्षेप या तरंग शैली में भावों का प्रकाशन कहीं वेग से होता है कहीं मन्थर गति से। भावों का प्रकाशन तरंग, मौज या मस्ती में होता है। प्रलाप शैली अति भावावेश की उच्छृंखल अवस्था में होता है, इसमें लेखक भावों के प्रकाशन में एक व्याकुलता और छटपटाहट का अनुभव करता है और भावों की अनर्गल अभिव्यक्ति भी पुनरुक्ति के कारण इस शैली में होती है।"

विवरणात्मक निबन्ध—इन निवन्धों में कथा या समय के आधार पर गतिशील वर्णन रहता है। वर्णन का सम्बन्ध देश से है और विवरण का सम्बन्ध काल से। "अतः विवरणात्मक निवन्धों में वर्ण्य-विषय स्थिर रूप से नहीं वरन् गतिशील रूप में रहता है, वह प्रगति, समय और स्थान दोनों ही में हो सकती है। समय की प्रगति कालक्रम में और स्थान की प्रगति यात्रा आदि के रूप में देखी जाती है।" इन निवन्धों को डा० भगीरथ मिश्र कथात्मक निवन्ध भी कहते हैं।

निबन्धों की शैली—निवन्धों की अनेक शैलियाँ हो सकती हैं, किन्तु विचारात्मक निवन्धों की शैली (१) व्यासात्मक और (२) समासात्मक होती है। भावप्रधान निवन्धों की शैली (३) धारा शैली, (४) तरंग शैली तथा (५) विक्षेप या प्रलाप शैली होती है।

भारत में संस्कृत-साहित्य में निवन्धों के उदाहरण मिलते हैं, जहाँ दार्शनिक समस्याओं का विवेचन होता था किन्तु हिन्दी में प्रचलित निवन्ध पाश्चात्य निवन्ध के तत्वों से प्रभावित हैं। हिन्दी साहित्य का निवन्ध साहित्य गौरवशाली लेखकों से गौरवान्वित है।

प्रश्न ६६—कहानी की परिभाषा एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहानी के तत्वों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—आज की लोकप्रिय साहित्यिक विधाओं में कहानी को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। "साहित्य की समस्त विधाओं में यही एक ऐसी विधा है जो पाठक का चरम अनुरंजन करने के साथ-साथ एक चिरन्तन रस का उद्घाटन करने में भी प्रयत्नवान रहती है। मेरा विचार तो यह है कि लोक-कल्याण भावना और लोक-रंजन तत्व का जितना सुन्दर समन्वय इस विधा में होता है उतना साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं।"

कहानी की परिभाषा आज तक सर्वसम्मत नहीं हो सकी है क्योंकि अभी यह विकसनशील विधा है, कहानी की प्रगति क्षण-क्षण में निरन्तर नवीनता प्राप्त कर रही है, अतः उसका स्वरूप 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' वाला है। इसीलिए आलोचक उसके स्वरूप को रूपायित करने में अभी सफल नहीं हो सके हैं—अतः यही कहना समुचित प्रतीत होता है कि—

> लिखन बैठी जाकी सवी गहि गहि गरव गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

फिर भी विद्वानों ने प्रयास किया है, उस प्रयास की झलक पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों की दृष्टि में दर्शनीय है—

(१) हडसन—'लघुकथा में केवल एक ही मूल भाव रहता है।"

(२) वेल्स—कहानी को आकार में अधिक से अधिक इतना बड़ा होना चाहिए कि वह सरलता से बीस मिनट में पढ़ी जा सके।"

(३) एडगर एलर पो—"कहानी वह गद्यकथा है जो आधे घण्टे से लेकर दो घंटे में समाप्त हो जाती है।"

(४) एलेरी—सक्रियता पर जोर देते हुए लिखते हैं कि "कहानी घुड़दौड़ के समान है जिसमें प्रारम्भ और अन्त का विशेष महत्व होता है—A short story is just like a horse-race. It is the start and finish which count most.

(५) सर ह्यूफ़ वाल्पोल—"कहानी कहानी होनी चाहिए, अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का ऐसा लेखा-जोखा होना चाहिए जो घटना और आकस्मिकता से परिपूर्ण हो; उसमें क्षिप्र गति का ऐसा अप्रत्याशित विकास हो जो कुतूहल के द्वारा सार और सन्तोष को पूर्ण अवस्था तक ले जाये।"

(६) सर एलब्राइट—"आधुनिक कहानी का लक्ष्य केवल वास्तविक अथवा तर्कपूर्ण क्रम के द्वारा जीवन की यथाघटित घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं है, वरन् जीवन के एक छोटे अंश का स्पष्ट और कलापूर्ण चित्र चित्रित करना है, जिससे (लेखक की) पूर्व निर्धारित घटनाएँ हृदयस्पर्शी बन सकें और घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्ध और वातावरण की एकता को प्रकट करें।"

(७) एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—"अन्त में स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में कहानी का वर्णन करते हुए इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि वह संक्षिप्त, अत्यधिक संगठित तथा पूर्ण कथा रूप है।"

भारतीय विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषाएँ निम्न हैं—

(१) प्रेमचन्द—"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी भाव को पुष्ट करते हैं।"

(२) प्रसाद—"सौंदर्य की एक झलक का चित्रण करना और उसके द्वारा रस की सृष्टि करना ही कहानी का उद्देश्य है।

(३) रायकृष्ण दास—"कहानी मनोरंजन के साथ-साथ किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है तथा "आख्यायिका में सौंदर्य की एक झलक का रस है।

(४) श्यामसुन्दरदास—"आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।"

जैनेन्द्रकुमार—"कहानी तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश में रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ

होती हैं और हम उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है।

(६) अज्ञेय—"कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वयं एक अधूरी काहानी, एक शिक्षा है, जो उम्र भर मिलती है, और समाप्त नहीं होती।"

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार—'घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है। साहित्य के सभी अङ्गों के समान रस उसका आवश्यक गुण है।

(८) गुलावराय—"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आधुनिक कहानियों की विशेषताएँ निम्न हैं—

"आकार लाघव, पात्रों की न्यूनता, कार्य-स्थान-काल की एकता, जीवन की घटना अथवा स्थिति विशेष का मार्मिक चित्रण, कहानी पर यथार्थ का आवरण, घटना अथवा परिस्थिति की सरलता, एक भावना एक घटना का प्रभावपूर्ण चित्रण, संकेतात्मक चरित्र-चित्रण, उद्देश्य की स्पष्टता, व्यक्तित्व प्रधान शैली, नाटकीय कथनोपकथन, परोक्ष रूप से मानवीय सन्देश, मानव-मन का मनोवैज्ञानिक चित्रण, औत्सुक्य, मानव के शाश्वत संघर्ष की व्यंजना कला त्मक शैली आदि।"[1]

कहानी की इन विशेषताओं के आधार पर निम्न तत्व निर्धारित किये गये हैं—

(१) कथावस्तु, (२) पात्र तथा चरित्र चित्रण, (३) कथोपकथन या संवाद (४) वातावरण अथवा देशकाल, (५) भाषा शैली, (६) उद्देश्य।

(पालि साहित्य का इतिहास पृ० ८०)

१. लेखक का पालिसाहित्य का इतिहास पृ० ८०

कथावस्तु—कथावस्तु कहानी का महत्वपूर्ण तत्व है किसी समय विना कथावस्तु के कहानी की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी किन्तु आज विना कथावस्तु के भी कहानियों का सृजन हो रहा है। डा० गुलाबराय का कथन है कि "विल्कुल आधुनिक कहानी में घटना चक्र का महत्व घटता जा रहा है। घटनाएँ भाव और विचारों को आश्रय देने के लिए अर्गला (अरगनी) का सा काम देती हैं और कहीं-कहीं वे एक विन्दु की खूँटीमात्र रह जाती हैं।' फिर भी कथावस्तु कहानी का महत्वपूर्ण अङ्ग है। इस अङ्ग का चयन मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र से हो सकता है। विशेतः इतिहास, पुराण, पत्र पत्रिका, दैनिक जीवन साहित्य और कल्पना से कथावस्तु का ग्रहण होता है। कथावस्तु की सफलता के लिए निम्न विशेषताओं का होना आवश्यक है—(१) संवेदना, (२) संघर्ष, (३) कौतूहल, (४) औत्सुक्य और करुणा, (५) कथा-नक का किसी सत्य के उद्घाटन में समर्थ होना, (६) कथानक का खंडों में विभाजन और संक्षेप। इन विशेषताओं से सम्पन्न कथानक सुन्दर प्रभावशाली कहानी के सृजन में योगदान दे सकता है। कथावस्तु का विभाजन आरम्भ, मध्य और अन्त के रूप में होता है।

आरम्भ—कहानी का आरम्भ कई प्रकार से किया जा सकता है; उदाहरण के लिए—१. परिचयात्मक भूमिका, २. कोरा परिचयात्मक आरम्भ, ३. नवीन ढंग का आकस्मिक आरम्भ, ४. प्रकृति चित्रण, ५. नाट-कीय कथोपकथन, ६. इतिवृत्तात्मक, ७. कौतूहलोत्पादक आरम्भ। किन्तु कहानी का आरम्भ कलात्मक होना चाहिए, नाटकीय होना चाहिए तथा उसे उत्सुकता जाग्रत करने में समर्थ होना चाहिए। यदि आरम्भ सुन्दर और रसात्मक हो तो कहना ही क्या ?

मध्य—कहानी के मध्य भाग का सम्बन्ध किसी समस्या या संघर्ष से अवश्य होना चाहिए। इस संघर्ष या समस्या का प्रस्तुतीकरण कलात्मक रूप में होना चाहिए। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कहानी में संवेदना धीरे-धीरे स्पष्ट हो तथा कहानी के प्रति पाठक का औत्सुक्य प्रति पल बढ़ता चले। कहानी की वस्तु का विकास प्रवाहपूर्ण ढंग से हो और उसकी रोचकता

कहीं भी क्षीण न हो। कहानी का अधिकांश कथ्य इस भाग से स्पष्ट हो जाना चाहिए।

अन्त—कहानी के विकास की यह अन्तिम अवस्था है। कहानी का अन्त प्रारम्भ के अनुरूप सन्तुलित होना चाहिए। इसकी निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए—(१) कथ्य की पूर्णता का द्योतक, लघु प्रसारगामी, सरल तथा आकस्मिक। डा० जगन्नाथ शर्मा ने लिखा है कि "जितना भी विवरण कहानी में प्रसरित रहता है उसका सारा सौंदर्य पुंजीभूत होकर अन्त में आकर एक विशेष प्रकार की संवेदनशीलता को स्फुरित करता है। सिद्धांत की दृष्टि से इसी को प्रभावान्विति और समष्टि प्रभाव माना जाता है।" कहानी का चरम सौंदर्य उसके अन्त में निहित रहता है, अतः यह कहानी का महत्वपूर्ण तत्व है। जैसा कि एक आलोचक ने लिखा है कि "कहानी का डङ्क उसकी पूँछ में चमकता है जिस प्रकार विच्छू का डङ्क उसकी पूँछ में होता है। ठीक उसी प्रकार कहानी का सारा रहस्य, उसका समस्त प्रभाव उसके अन्त में निहित रहता है।"

शीर्षक—कहानी का शीर्षक औत्सुक्योत्पादक, लघु और नवीन होना चाहिए। डा० जगन्नाथ शर्मा ने लिखा है कि "शीर्षक में प्रतिपाद्य बोधकता अनिवार्य है।" इसी प्रकार चार्ल्स बैरेट ने लिखा है कि "शीर्षक विषयानुकूल, निश्चयबोधक, आकर्षक नवीन एवं लघु हो"—A good title is apt specific, attractive and new and short. कहानी का शीर्षक निश्चित रूप से अच्छा होना चाहिए। "शीर्षक वही होता है जो कहानी की प्रकृति के अनुरूप हो।"—Keep the title in the proper proportion to the nature and interest of the story. (मेकानोची)

कहानी के शीर्षक अनेक प्रकार के हो सकते हैं :

(१) भावात्मक उदाहरणार्थ व्रतभंग, अवलम्ब
(२) तथ्योद्बोधक ,, एक गौ, डाकू
(३) ऐतिहासिक ,, स्वर्ग के खण्डहर

(४) नामवाची ,, काबुलीवाला
(५) सम्बन्धवाची ,, जीजी, माँ।

इसी प्रकार कुछ शीर्षक—

अ. एक शब्द वाले (रोज, शरणागत);

ब, दो शब्द वाले (एथेन्स का सत्यार्थी, शतरंज के खिलाड़ी);

स. वाक्यात्मक (दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी) हैं।

किन्तु शीर्षक का कथावस्तु से सम्बन्ध होना चाहिए, बनावट तथा अस्वाभाविकता उसमें नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शीर्षक की सफलता पर ही कहानी की सफलता निर्भर रहती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—आधुनिक कहानियों में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व प्राप्य है। "चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध पात्रों से होता है। कहानी के पात्रों की संख्या न्यूनातिन्यून होना वांछनीय है। कहानीकार अपने पात्रों के चरित्र का विकास क्रमबद्ध नहीं करता। वह पूर्वनिर्मित चरित्र के ऐसे अंश पर प्रकाश डालता है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक उठे। कहानीकार यदि किसी पात्र के चरित्र में परिवर्तन करता है तो एक साथ करता है, क्रमशः नहीं। कहानी के पात्र सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण होने चाहिए, कहानी के पात्र कल्पना-लोक में जन्म लेकर भी अपने व्यक्तित्व के अनुकूल कार्य-कलाप करते हैं।"

चरित्र-चित्रण में सबल और निर्बल दोनों ही पक्षों के चरित्र होने चाहिए। तभी उसमें स्वाभाविकता सुरक्षित रह सकती है। प्रायः कहानी में चरित्र दो प्रकार के होते हैं—वर्गगत और व्यक्तिगत। इनमें भी कोई देवपात्र होता है तो कोई असुर और कोई मानव।

चरित्र-चित्रण करने की दो शैलियाँ हैं—(१) प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक; (२) परोक्ष या अभिनयात्मक। चरित्र-चित्रण करने के निम्न साधन हैं—१. वर्णन, २. संकेत, ३, कथोपकथन, ४. घटना, ५. विश्लेषण और ६. अन्तर्द्वन्द्व आदि।

कथोपकथन या संवाद—यह तत्व कहानी का प्राण है। संवाद कहानी

में चरित्र का चित्रण, वर्णन में रोचकता तथा प्रवाह और कथावस्तु को विकास की ओर ले जाने का कार्य करते हैं। संवाद कहानी को अधिकाधिक संवेद्य बनाते हैं। वे एक विशेष प्रकार के वातावरण का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। संवाद कहानी में स्वाभाविकता भी लाते हैं।

सफल संवादों के निम्न गुण हो सकते हैं—

(१) गतिशील, सरल, लाक्षणिक, आकर्षक शब्दावली में लिखित होने चाहिए। (२) वे लघु, मार्मिक, स्वाभाविक और मौलिक भी होने चाहिए। (३) संवाद पात्र और परिस्थिति के अनुकूल तथा मनोवैज्ञानिक होने चाहिए। (४) हास्य, व्यङ्ग, मुहावरे और लोकोक्तियों से सम्पन्न संवाद प्रभावशाली होते हैं। (५) संवाद जिज्ञासोत्पादक होने चाहिए। (६) अपने में पूर्ण तथा उद्देश्य या कथ्य को प्रकट करने में सफल होने चाहिए। (७) संवादों की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे सक्रियता और सजीवता के साथ-साथ कहानी में एक अनिर्वचनीय सौंदर्य-विधान करने की क्षमता रखने वाले हों। (८) कहानी के संवादों में स्वगत कथन तथा सैद्धांतिक विवेचनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

आज अनेक कहानियाँ बिना संवादों के भी लिखी जा रही हैं, जैसे जोशी की 'प्लेनचेट' कहानी।

वातावरण—देशकाल—"कहानी में सजीवता और स्वाभाविकता लाने वाले तत्वों में वातावरण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वातावरण से विरहित कहानी ठीक उसी तरह प्रभावहीन लगेगी, जिस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले पात्र का नग्न रंगमञ्च पर दैनिक वस्त्रों में अभिनय करना लेशमात्र भी प्रभावोत्पादक नहीं होता। वातावरण वास्तव में दर्शक के मस्तिष्क पर पड़ने वाला वह प्रभाव है जो देशकाल और व्यक्ति की पारस्परिक अनुरूपता से उत्पन्न होता है।" इस तत्व के अन्तर्गत कहानी में देशकाल का चित्रण, वेशभूषा, साज-सज्जा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार, प्रकृति-वर्णन, नगर-वर्णन, ऋतु-वर्णन, काल-वर्णन आदि का समावेश होता है।

वातावरण कहानी में (१) हमारी इन्द्रियों को प्रभावित कर उद्दीप्त

करता है। (२) वह हमारी सौंदर्यानुभूति की वृत्ति को सन्तुष्ट करता है; (३) वह हमारी सहानुभूति को जाग्रत करता है तथा (४) कहानी में आकर्षण उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी के प्रारम्भ का यह अंश लिया जा सकता है—

"आर्द्रा नक्षत्र आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़ जिसमें दुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने में स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चमरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई दिया और उत्साह का समुद्र हिलोरें लेने लगा।"

वातावरण एवं देशकाल के अन्तर्गत संकलन-त्रय-स्थान, समय और कार्य की एकता का समावेश भी होता है। यूनानी एवं फ्रेंच कहानीकारों ने इनको विशेष महत्व प्रदान किया है किन्तु आज की कहानी में इनका प्रयोग अनिवार्य नहीं माना जाता, किन्तु कार्य की एकता का सिद्धांत अत्यावश्यक है।

भाषा-शैली—कहानी की भाषा वातावरण, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। स्वच्छ, सरल, व्यवहारिक, स्पष्ट, शुद्ध, गतिशील, सरस तथा गम्भीर और भावपूर्ण स्थलों पर परिवर्तनशील भाषा कहानी के सौदर्य की वृद्धि करती है। शैली आकर्षक, हास्य-व्यङ्ग और विनोद से युक्त होनी चाहिए। लोकोक्ति एवं मुहावरों से युक्त भाषा-शैली सुन्दर मानी जाती है।

आज की कहानी में निम्न शैलियाँ प्रचलित हैं—

(१) आत्मचरित शैली, इसमें पात्र स्वयं बोलता है।

(२) ऐतिहासिक या अन्य पुरुषवाचक शैली, यह वर्णनात्मक शैली है।

(३) संवादात्मक—दो पात्रों के वार्तालाप के द्वारा कहानी लिखी जाती है।

(४) पत्रात्मक—दो या कई पत्रों के द्वारा लिखी जाती है। इसमें आदि और मध्य पत्र द्वारा तथा अन्त में कहानीकार उपसंहार कर देता है।

(५) डायरी की भाँति यह कहानी लिखी जाती है। जैसे, भगवती प्रसाद बाजपेयी की 'सूखी लकड़ी।'

(६) मिश्र शैली—इस रूप में कई शैलियाँ मिलकर कहानी को पूर्ण करती हैं।

आज की कहानी प्राचीन कहानियों की भाँति एक राजा और रानी की कहानी नहीं है। वह साहित्य की महत्वपूर्ण विधा तथा नाटकीय आख्यान है। अतः उसमें नाटक की-सी सजीवता और कलात्मकता अपेक्षित है जो कि शैली की श्रेष्ठता और सफलता पर ही निर्भर है।

उद्देश्य—साहित्य की प्रत्येक विधा किसी न किसी उद्देश्य या लक्ष्य को लेकर लिखी जाती है। अतः कहानी भी सोद्देश्य ही लिखी जाती है। कहानी का ध्येय केवल मनोरंजन करना ही नहीं है, उसका ध्येय जीवन के तथ्यों का विश्लेषण तथा मानव-मन का निकट से अध्ययन भी है। 'कहानी का उद्देश्य अधिकांशतः व्यंजित रहता है। कभी-कभी यह उद्देश्य स्पष्ट भी हो जाता है। 'उसने कहा था' में प्रेम और आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। अलबम (सुदर्शन) में याचक के स्वाभिमान की रक्षा उसका उद्देश्य है। कभी-कभी कहानी का उद्देश्य गूढ़ भी रहता है। कभी-कभी कहानी का उद्देश्य उसके अन्तिम वाक्य में निहित रहता है। अज्ञेय की कहानी 'शत्रु' का अन्तिम वाक्य—"जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते रहते हैं।"

कुछ कहानीकार कहानी में उद्देश्य तत्व को विशेष महत्व प्रदान करते हैं और कुछ इसको इतना महत्व नहीं देते। वास्तव में कहानी हमारी समस्याओं को हल नहीं करती अपितु वह मात्र मार्ग-दर्शन करती है।

प्रश्न ७०—उपन्यास शब्द का प्रयोग और अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा लिखिए।

उत्तर—'उपन्यास' शब्द की निष्पत्ति उप+नि+आस+अच् धातु तथा प्रत्यय आदि के योग से हुई है। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ समीप में रखना है। अमरकोष में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—"उपन्यासः प्रसादनम्"---इसका अर्थ उस रचना से है जो मानव आत्मा को प्रसादित-आनन्दित करे। नाट्यशास्त्र में उपन्यास शब्द का प्रयोग 'प्रतिमुखसन्धि' के

भेद के रूप में हुआ है—"उपपत्तिकृतोह्यर्थः उपन्यासः प्रसादनम्" इसका अर्थ है कि किसी अर्थ को समुचित रूप में प्रस्तुत करना उपन्यास कहलाता है। दशरूपककार धनंजय इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं "उपन्यासस्तु सोपायम्" अर्थात् युक्तिपूर्वक वीज का उद्‌भेद करने वाली प्रतिमुख सन्धि का एक भेद 'उपन्यास' है। अमरकोषकार उपन्यास को वाङ्मुख कहते हैं—"विवाये व्यवहार स्यात् उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्"। मनुस्मृतिकार के अनुसार उपन्यास का अर्थ विचार है---"विश्व जन्वमिमं पुण्यमुपन्यासं संनिवोधत्"। कालिदास इस शब्द का प्रयोग अभिव्यक्ति के अर्थ में करते हैं—"आत्मनः उपन्यासपूर्वकम्"। इसी प्रकार संस्कृत के 'मालतीमाधव' नामक नाटक तथा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में 'कथन' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्यिक विधा के रूप में प्रयोगकर्ता का इस परम्परा से परिचय रहा होगा। क्योंकि आज का उपन्यास मनोरंजन का साधन है, जीवन को युक्तियुक्त रूप में पाठकों के सम्मुख रखता है। इसका यह नाम पूर्णतः सार्थक है।

अंग्रेजी में उपन्यास शब्द के लिए नॉविल शब्द का प्रयोग मिलता है। यह नॉविल शब्द इटेलियन के 'नॉवेला' से निकाला है। अँग्रेजी में इस शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी से होने लगता है।

नॉविल शब्द की व्याख्या करते हुए शिलपे ने लिखा है कि "नॉविल शब्द से एक नवीन प्रकार की प्रकथन-प्रधान रचना का बोध होता है जिसमें आधुनिकता और सत्य दोनों की प्रतिष्ठा पाई जाती है।"

भारत की प्रान्तीय भाषाओं में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। तमिल भाषा में उपन्यास शब्द का अर्थ व्याख्यान या भाषण है। मराठी में नॉविल के अर्थ में ही 'नवलकथा' शब्द का प्रयोग होता है। डा० सुकुमार सेन के अनुसार 'उपन्यास' शब्द का वर्तमान अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग १९ वीं शताब्दी के मध्य भूदेव मुकर्जी ने किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवदी ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "उपन्यास वस्तुतः नवल अर्थात

नया और ताजा साहित्यांग है परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने कथा, आख्यायिका आदि शब्दों को छोड़कर अँग्रेजी नॉविल का प्रतिशब्द उपन्यास माना था, उसकी सूझ की प्रशंसा किये विना नहीं रहा जा सकता। जहाँ उसने इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह साहित्यांश पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है, वहाँ इसके शब्दार्थ [उप—निकट, समीप + न्यास = रखना] ने यह भी सूचित किया है कि इस विशेष साहित्यांश द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इसलिए यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता, तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ विल्कुल वेमेल नहीं कहा जा सकता।"

परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा देना यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि उसका संकेत तो दिया ही जा सकता है। परिभाषाकार प्रायः उपन्यास की विशेषता और गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा देते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार उपन्यास—"मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" प्रेमचन्द के अनुसार—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।" बाबू गुलाब राय का मत है कि "उपन्यास कार्य-कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार उपन्यास "गद्य साहित्य का अन्यतम रूप है जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्यों की हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति की, चाहे वह सच्ची हो या कल्पित।" डा० भगीरथ मिश्र का मत है कि "युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी

प्रस्तुत करने वाला गद्य-काव्य उपन्यास कहलाता है।" अज्ञेय के अनुसार—"उपन्यास व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्वकरण है।" प्रसिद्ध अँग्रेजी साहित्यकार एच० जी० वेल्स उपन्यास को एक रिक्त मस्तिष्क और रिक्त समय के लिए उपयोगी मनोरंजन की वस्तु मानते हैं—**Harmless opiate for vacant mind and vacant hours.** किन्तु 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार—"उपन्यास वह बड़े आकार का गद्यमय आख्यान या वृत्तान्त है, जिसके कथानक में ऐसे पात्र और कार्य चित्रत होते हैं, जो वास्तविक जीवन के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं।" निश्चय ही उपन्यास जीवन के सत्य का उद्घाटन कर मस्तिष्क का मनोरंजन करता हुआ उसे उदात्त बनाता है। श्री नलिन-विलोचन शर्मा ने लिखा है कि "हिन्दी उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी भाषा-क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है।

उपन्यास आज के जीवन की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। इसमें जीवन का व्यापक, उदात्त, मार्मिक, मनोरंजनपूर्ण किन्तु यथार्थ चित्रण होता है।

विद्वान उपन्यास के छः तत्व स्वीकार करते हैं—(१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) भाषा-शैली, (५) देशकाल और (६) उद्देश्य। उपर्युक्त तत्व वही हैं जो कहानी और नाटक के हैं।

प्रश्न—उपन्यास के प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—पाश्चात्य विद्वान् श्री हडसन ने उपन्यास-कला का तात्विक विवेचन करते हुए और उपन्यास की रचना के आधारभूत मूल तत्वों का निरूपण करते हुए कथावस्तु चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, भाषा-शैली और जीवन दर्शन या उद्देश्य को उपन्यास के मूल तत्व माना है। उन्हीं छः तत्वों को पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अब उपन्यास के मूल तत्वों के रूप में ग्रहण कर लिया है।

कथावस्तु—कथावस्तु उपन्यास का मूल आधार है। बिना कथा के कोई उपन्यास चल ही नहीं सकता; क्योंकि उपन्यास मानव जीवन को लेकर चलता

है और मानव के जीवन में घटित घटनाएँ तथा उनके संदर्भ में मनुष्य के क्रियाकलाप और मनोभाव ही कथा का स्वरूप-निर्माण करते हैं। यही कथा उपन्यास का मूल आधार बनती है।

कथावस्तु के युग एवं काल, विषय एवं समस्या तथा कथा-संविधान की दृष्टि से सामान्यतः तीन वर्ग किए जा सकते हैं।

युग एवं काल की दृष्टि से उपन्यास की कथावस्तु के तीन भेद किए जा सकते हैं—भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य की कथावस्तु। भूतकाल की कथावस्तु पर आधारित दो तरह के उपन्यास होते हैं—ऐतिहासिक एवं पौराणिक। इतिहास को आधार बनाकर हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। भविष्य की कल्पना करके भी कुछ उपन्यास हिन्दी में लिखे गए हैं जैसे जैनेन्द्र का उपन्यास 'जय वर्धन'। वर्तमान काल को आधार बनाकर तो आमतौर पर उपन्यास लिखे ही जाते हैं।

विषय एवं समस्या की दृष्टि से उपन्यास अनेक प्रकार के होते हैं; क्योंकि मानव-जीवन से सम्बन्धित विषय और उसके जीवन की समस्याएँ अनन्त हैं, फिर भी सामान्यतः ऐतिहासिक एवं सामाजिक दो विषयों में हम उन्हें विभाजित कर सकते हैं। सामाजिक वर्ग के उपन्यास आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले, मध्यवर्ग या उच्च वर्ग के जीवन पर आधारित आदि कई प्रकार के होते हैं। उन सब में अलग-अलग जीवन की अलग-अलग समस्याएँ ली जाती हैं; किन्तु मोटे तौर पर समस्या की दृष्टि से वैयक्तिक एवं सामाजिक दो वर्ग किए जा सकते हैं। वैयक्तिक वर्ग में व्यक्ति की अपनी निजी समस्याओं को कथा का आधार बनाया जाता है जैसे जैनेन्द्र के उपन्यास तथा सामाजिक वर्ग में ऐसी समस्याओं का चित्रण होता है जो पूरे समाज की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जैसे प्रेमचन्द के उपन्यास। यद्यपि इन दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में कथा का आधार व्यक्ति ही होते हैं, किन्तु सामाजिक वर्ग के उपन्यासों में व्यक्ति-पात्र प्रतिनिधि-पात्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

कथा संविधान की दृष्टि से दो प्रकार की कथाएँ होती हैं—आधि-

कारिक कथा एवं प्रासंगिक कथाएँ। आधिकारिक कथा पूरे उपन्यास में आरम्भ से अन्त तक एक ही होती है। यह उपन्यास के नायक के जीवन से सम्बद्ध होती है। इसे मूल कथा भी कहते हैं। प्रासंगिक कथाएँ एक या अनेक हो सकती हैं। इनका उपयोग आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाना, उसके घटना चक्रों में तारतम्य और शृंखला प्रस्तुत करना और नायक के जीवन की मूल समस्याओं और उसकी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करना होता है। यह प्रासंगिक कथाएँ मूल समस्या के अतिरिक्त समाज की अन्य समस्याओं पर भी प्रकाश डालने का काम करती हैं।

हडसन ने उपन्यास की कथावस्तु की सामान्य विशेषता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "वह उपन्यास वास्तव में श्रेष्ठ है जो आकार में बड़ा, विस्तृत और गम्भीर रूप से उन घटनाओं पर आधारित होता है जो जीवन के संघर्ष को प्रभावित करती हैं।"

मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "जीवन के ठोस सत्यों पर आधारित उपन्यास की कथा श्रेष्ठ होती है।

हैमिल्टन के अनुसार उपन्यास की कथा सुसम्बद्ध और शृंखलाबद्ध होनी चाहिए।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की कथावस्तु को विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—"कोई उपन्यास सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक सुनाई है या नहीं, अनावश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है। जहाँ-जहाँ कहानी मर्मस्पर्शी हो सकती है वहाँ-वहाँ उसने उसे उचित रीति से सम्हाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया। प्रसंगवश आई हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा है जिससे पाठक का जी ही ऊब जाय और सौ बात की एक बात यह है कि शुरू से अन्त तक सुनने वाले की उत्सुकता जागृत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा।"

इस प्रकार कथावस्तु उपन्यास-रचना का मुख्य आधार और प्रमुख तत्व है। इसके अभाव में उपन्यास का ढाँचा ही नहीं खड़ा हो सकता।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण पात्रों के क्रिया-कलापों से सम्बद्ध रखता है। पात्रों के क्रिया-कलाप ही घटनाओं का कारण बनते हैं और घटनाओं का शृङ्खलाबद्ध संयोजन कथावस्तु का रूप ग्रहण करता है। पात्रों के बिना कथा का अस्तित्व नहीं हो सकता। पात्रों के चरित्र ही घटनाओं में तथा उससे सम्बन्धित अन्य पात्रों के सम्बन्धसूत्रों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार उपन्यास में आने वाले हर पात्र की अपनी चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। जो घटनाएँ कथा का अंग बनती हैं उन्हीं के संदर्भ में पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट होती चलती हैं। उपन्यास में चरित्र-चित्रण की अनेक विधियाँ प्रयोग में आती हैं। उन्हें निम्न प्रकार देखा जा सकता है :—

(१) कभी उपन्यासकार अपनी ओर से विभिन्न पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करता है।

(२) कभी अन्य पात्रों के माध्यम से अन्य पात्रों का चरित्र उभरता है।

(३) कभी पात्रों के आपसी सम्बन्धों के माध्यम से पात्रों का चरित्र उभरता है।

(४) तो कभी-कभी किसी पात्र द्वारा किए गए किसी काम या कही गयी कोई बात की प्रतिक्रिया में किए गए काम या कही गयी बात से चरित्र उभरता है।

(५) और कभी पात्र स्वयं अपने मनोविश्लेषण द्वारा अपनी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करता है।

चरित्र के प्रकार

चरित्र की दृष्टि से विद्वानों ने तीन प्रकार के चरित्र माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम पात्र आदर्श पात्र होते हैं। मध्यम पात्र वह होते हैं जो अच्छाई-बुराई के बीच झकोले खाते हैं और अच्छाई-बुराई से संघर्ष करते हुए अच्छाई की ओर बढ़ते हैं। अधम पात्र वह हैं जो निरन्तर बुराई में ही डूब रहते हैं। उत्तम पात्रों में अच्छाई का अंश अधिक और बुराई का अंश कम होता है।

उपन्यास के पात्र जीवन के विभिन्न वर्गों और स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और अपनी चारित्रिक विशेषताओं के साथ-साथ अपने वर्ग और स्तर की चारित्रिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार पात्रों का चरित्र-चित्रण दो विधियों से किया जाता है।—एक तो विश्लेषात्मक या साक्षात् विधि द्वारा और दूसरी अभिनयात्मक या परोक्ष विधि द्वारा। पहली विधि में लेखक अपनी ओर से पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करता है और दूसरे प्रकार की विधि में पात्रों के अपने कथन तथा कार्य-व्यापार के माध्यम से चरित्र उभरता है।

चरित्र-चित्रण में कथावस्तु की अनुकूलता, स्वाभाविकता, मौलिकता, सजीवता पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति आदि गुण और विशेषताएँ होनी चाहिए। क्योंकि पात्रों के साथ ही पाठक की संवेदना का साधारणीकरण होता है। वह पात्रों के साथ सजीव भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हीं के रूप में अपनी कल्पना कर उन सारी स्थितियों का स्वयं भोक्ता बन जाता है।

वस्तुतः कथा-वस्तु और चरित्रों का विकास एक दूसरे पर आश्रित ही नहीं वरन् सहायक और पूरक भी है।

कथोपकथन—कथोपकथन उपन्यास का तीसरा महत्वपूर्ण तत्व है जो उपन्यास के स्वरूप गठन में मुख्यतः चार काम करता है—कथावस्तु को आगे बढ़ाता है; पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट करता है; घटनाओं में शृङ्खला तथा सम्बन्ध स्थापित करता है तथा उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

कथोपकथनों द्वारा उपन्यासकार उपन्यास में वर्णित घटनाओं तथा दृश्यों को अपेक्षित रूप तथा सजीवता और मर्मस्पर्शिता उत्पन्न करता है एवं कथा का विस्तार करता है।

पात्रों के आपसी कथोपकथन के द्वारा ही पाठक पात्रों के मनोभावों और उनके अलग-अलग स्वभावों से परिचित होता है और उनके प्रति अलग-अलग

मनोभावों का निर्माण करता है।

विभिन्न पात्रों के आपसी विरोधी मतों को व्यक्त करने वाले कथोपकथनों के द्वारा ही उपन्यासकार उपन्यास के उद्देश्य और विचार को स्पष्ट करता है ।

कथा तथा उसके विकास में पात्र की उपयुक्त भूमिका के प्रति उपयुक्ता, पात्रों की अपनी विशेषताओं, जीवन-स्तर आदि की अनुकूलता, सम्बद्धता, स्वाभाविकता एवं सहजता, सजीवता, संक्षिप्तता एवं उद्देश्य को उभारने की क्षमता आदि कथोपकथन के अनेक गुण हैं ।

देश, काल या वातावरण—उपन्यास में देश काल के महत्व को स्पष्ट करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है—"देश काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय । जहाँ देशकाल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वह उससे जी ऊबने लगता है, लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा-सूत्र को ढूँढ़ने लग जाते हैं । देशकाल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए, न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए ।...देशकाल वातावरण का बाहरी रूप है । वातावरण मानसिक भी हो सकता है । आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम भी करने लग जाता है । प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों की मानसिक स्थिति या मूड को निश्चित करने में सहायक होते हैं । प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता है और उपन्यास में में काव्यत्व भी ले आता है जैसे किसी के मरते समय दीपक बुझ जाना, सूर्य का अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बन्द हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है ।"

देश, काल या वातावरण शब्द से ही स्पष्ट है कि कला देश-प्रदेश अथवा स्थान की है और उसका काल अथवा समय क्या है और उस स्थान तथा समय की परिस्थितियाँ क्या हैं । उनका पात्रों पर कैसा प्रभाव पड़ता है ? इस दृष्टि से उसके तीन भेद किए जा सकते हैं—सामाजिक, प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक ।

पहली के अन्तर्गत लेखक सामाजिक स्थिति, रीति-रिवाज, वेश-भूषा पात्रों का जीवन-गत स्तर उनकी शिक्षा, संस्कृति, संस्कार आदि का चित्रण करता है।

दूसरी के अन्तर्गत लेखक उसके परिवेश तथा संदर्भ में पात्रों की मनोदशा का भावात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है और उसे अधिक मार्मिकता प्रदान करता है।

तीसरी का उपयोग ऐतिहासिक उपन्यासों में ही होता है।

अतः देश, काल और वातावरण के विषय में सामान्यतः कहा जा सकता है कि कथानक के मर्म और पात्रों की विशेषताओं को उभारने की उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

भाषा-शैली—सजीव से सजीव कथानक भी बिना प्रभावशाली भाषा और सजीव शैली के नीरस और सारहीन बन कर रह जाता है। भाषा-शैली ही उपन्यास को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ जाने की उत्सुकता और उमंग पाठक में जगाती है। अतः भाषा-शैली उपन्यास के तत्वों में अपना प्रमुख और महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भाषा और शैली यद्यपि अलग-अलग हैं; किन्तु भाषा शैली का अंग हैं और शैली भाषा का प्राण। भाषा कथा और उसके पात्रों को वाणी प्रदान करती है और शैली उस वाणी में साभिप्राय अर्थ की प्राण प्रतिष्ठा करती है। शैली कथा को कहने और प्रस्तुत करने तथा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और मनोभावों को चित्रित करने के ढंग से सम्बन्ध रखती है। शैली ही वास्तव में उपन्यास में मौलिकता के गुण का समावेश करती है।

भाषा सरल, सजीव, पात्रानुकूल, रोचक, मर्मस्पर्शी, प्रभावपूर्ण और प्रवाहमयी होनी चाहिए।

शैली अनेक प्रकार की होती है, जैसे—वर्णनात्मक शैली, आत्मकथात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, डायरी शैली, जीवन शैली और मिश्रित शैली आदि। अधिकांश उपन्यासों में एक साथ कई शैलियों का प्रयोग पाया जाता है।

भाषा-शैली का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि इन्हीं के माध्यम से लेखक अपने उपन्यास को प्रभावमय और मर्मस्पर्शी बनाता है और उसमें मौलिकता का समावेश करता है।

उद्देश्य—डा० प्रताप नारायण टंडन के शब्दों में "आज उपन्यास को केवल एक मनोरंजन के साधन के रूप में ही पाठक नहीं ग्रहण और स्वीकार करना चाहते। वे एक प्रखर और स्पष्ट जीवन-दर्शन की माँग करते हैं।"

डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में—"उपन्यास में मुख्यत: यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं, वे किन-किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों में वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं और इन सबके फलस्वरूप उनमें कैसे-कैसे मनोविकास आदि उत्पन्न होते हैं।......सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धान्त आप से आप आ जाते हैं।"

हेनरी जेम्स के अनुसार 'उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यही है कि वह जीवन का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करता है।"

यह बात जीवन में सत्य है कि बिना किसी प्रयोजन या उद्देश्य के हम न तो किसी से कोई बात करते हैं, न सम्बन्ध रखते हैं और न कोई कार्य ही करते हैं। उपन्यास जीवन का ही चित्रण है। फिर वह निरुद्देश्य कैसे हो सकता है ? मनोरंजन भी तो एक उद्देश्य ही है और जीवन में मनुष्य का मनोरंजन भी जीवन के सहज कार्य व्यापारों और मनुष्य-मनुष्य के आपसी सम्बन्धों तथा सहजीवन के बीच ही होता है।

उपन्यास लिखना भी अपने में एक उद्देश्य है। कोई लेखक उपन्यास तभी लिखता है जब वह किसी कथा, किन्हीं पात्रों और उनके जीवन-रहस्यों से, जिनका परिचय या तो उससे हुआ है या जिनका उदय जीवन के अनुभवों के आधार पर उसकी कल्पना में हुआ है, परिचय वह अपने से अन्य सबसे कराना चाहता है। उपन्यास की कथा की कल्पना की अपनी भोगी हुई अनुभूतियों का जब वह अन्यों के साथ मिलकर सहयोग करना चाहता है तो वह

उपन्यास के रूप में उसे अभिव्यक्त कर सबके सहयोग योग्य बना देता है। अतः उद्देश्य उपन्यास का एक अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण तत्व है।

प्रश्न ७१—"उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है।" उपन्यास और महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उक्त कथन के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—उपन्यास की विधा आधुनिक युग की एक लोकप्रिय विधा है। उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने उसके गुणों और विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत की है। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द इसे "मानव चरित्र का चित्र" मात्र मानते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास के मतानुसार "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा" ही उपन्यास है। बाबू गुलाब राय ने भी उस गद्य कथानक को उपन्यास शब्द से अभिहित किया है जिसमें वास्तविक एवं काल्पनिक घटनाओं के माध्यम से मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।

अनेक विद्वानों ने उपन्यास नामक इस साहित्यिक विधा को "आधुनिक युग का महाकाव्य" स्वीकार किया है। उपन्यास को महाकाव्य मानने का आधार यही है कि दोनों विधाएँ मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति में योगदान देती हैं। जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं की झाँकी इनमें दृष्टिगत होती है। दोनों का वर्ण्य-विषय मानव का सम्पूर्ण जीवन होता है और अपने अन्तःकरण पर अवस्थित जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं की झाँकी को उपन्यासकार तथा महाकाव्यकार अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु कथावस्तु सम्बन्धी इस समानता को छोड़कर उपन्यास एवं महाकाव्य में अन्य कोई साम्य नहीं है। दोनों का वर्ण्य-विषय यद्यपि एक ही है परन्तु अन्य बातों में उनमें पर्याप्त वैषम्य है। उपन्यास एवं महाकाव्य के सामान्य अंतर का विश्लेषण करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि—"युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्य-काव्य उपन्यास कहलाता है। नाटक, महाकाव्य और उपन्यास जीवन की

परिस्थितियों एवं चिन्ताओं से युक्त जीवन को सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करते

हैं। परन्तु इन तीनों में सुकर और प्राकृतिक रूप उपन्यास का ही है। इसमें लेखक अत्यन्त स्वच्छन्द होकर अपने हृदयपटल पर पड़े हुए जीवन के जीते-जागते चित्रों को प्रस्तुत करता है। नाटक और महाकाव्य के-से बंधन उपन्यास लेखक के लिए नहीं होते।...महाकाव्य में काव्याङ्गों का पूर्ण ज्ञान, जीवन का गम्भीर अनुभव और विवेचन तो आवश्यक है ही, उसकी रचनाविधि के भी अपने नियम हैं; परन्तु उपन्यास के लिए ये कठिनाइयाँ, वन्धन और पृष्ठ-भूमि की आवश्यकताएँ नहीं। वह कथा-साहित्य का सरल स्वाभाविक रूप है; इसी कारण से आजकल उसका अत्यधिक विकास हो रहा है।"

उपन्यास की पृष्ठभूमि उसी प्रकार व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित होती है जिस प्रकार महाकाव्य की। महाकाव्य में युग-युगीन समस्याएँ समाहित रहती हैं। उसमें जनजीवन के व्यापक क्षेत्र का समावेश होता है। उसमें जन जीवनेतर क्षेत्र को भी आत्मसात किया जाता है। इसी प्रकार उपन्यास भी मानव जीवन का चित्रण है जिसमें मनुष्य के चरित्र का सजीव चित्रण होता है। निश्चय ही मनुष्य का सम्बन्ध अपने युग, समाज, देश और उसकी परिस्थितियों से रहता है। उस मनुष्य का व्यापक चित्रण प्राचीन काल से महाकाव्यों में होता आया है, और आज के युग में इस कार्य को उपन्यास कर रहे हैं अतः कहा जा सकता है कि "उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है।" इन दोनों विधाओं के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. महाकाव्य और उपन्यास में मानव-जीवन का समग्र चित्रण होता है, इसका चित्रण इतने व्यापक धरातल पर होता है कि वह युगयुगीन समस्याओं को अपने में समेट लेता है।

२. इन दोनों विधाओं में मानव को पात्र के रूप में उनका चरित्र चित्रित किया जाता है।

३. अन्य तत्वों की दृष्टि से—संवाद, वातावरण, चित्रण, भाषा तथा उद्देश्यों में भी समानता होती है। यद्यपि शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से रचना-विधान में अन्तर है किन्तु इन लक्षणों को कथावस्तु, पात्र-चरित्र-चित्रण,

संवाद, देशकाल-वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

डा० रामदत्त भारद्वाज ने 'काव्य-शास्त्र की रूपरेखा' में इन दोनों विधाओं के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"प्रथमतः इन दोनों में अभिव्यक्ति का भेद है। महाकाव्य पद्य में तो उपन्यास गद्य में लिखा जाता है। उपन्यास में नाटकीयता की, किन्तु महाकाव्य में वर्णन की प्रधानता होती है। इसी कारण एफ० आर० लेवी ने उपन्यास को नाटकीय गद्यकाव्य बताया और फ़िल्डिग ने अपने एक उपन्यास को 'गद्यमय सुखान्त महाकाव्य' कह दिया है। हार्डी की भी ऐसी ही धारणा थी।

द्वितीयतः महाकाव्य में परम्परागत ऐतिहासिक घटनाओं का प्रायः वर्णन रहता है, किन्तु उपन्यासकार अपने अनुभव के आधार पर जीवन के किसी पक्ष का कल्पनाधृत समर्थन करता है।

तृतीयतः उपन्यास और महाकाव्य दोनों के अपने-अपने रचना-विधान हैं, पर महाकवि की अपेक्षा उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति में अधिक स्वतन्त्र होता है। इस नियन्त्रित स्वान्त्रता के कारण महाकाव्य में किसी वर्ग के चरित्र का चित्रण तो हो पाता है, किन्तु व्यक्ति के चरित्र का विकास उतना अधिक नहीं हो पाता।

"चतुर्थतः महाकाव्य और उपन्यास में उद्देश्य का अन्तर है। महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक की स्थापना के और पश्चिमी महाकाव्यों में महाकार्य, महोद्देश्य और महाफल, महती प्रेरणा आदि प्रयोजन रहते हैं, किन्तु उपन्यास में इनके लिए कोई विशेष स्थान नहीं। अतएव यदि महाकाव्य आदर्श-प्रधान है तो उपन्यास यथार्थ-प्रधान।"

प्रश्न ७२—(१) उपन्यास एवं कहानी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

(२) "कहानी उपन्यास का लघु रूप नहीं है अपितु वह एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए, कहानी और उपन्यास के साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

(३) "आज की कहानी उपन्यास से एक सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र

साहित्यिक रूप है।" इस कथन को दृष्टि-पथ में रखते हुए कहानी और उपन्यास के भेद को समझाइए।

उत्तर—'उपन्यास' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है, किन्तु संस्कृत में यह इसके आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। आज उपन्यास शब्द से एक साहित्यिक विधा का अर्थ ग्रहण किया जाता है जिसमें "जीवन एवं जगत् का सविस्तार निदर्शन होता है, जीवन और जगत् की व्याख्या होती है।" कहानी प्राचीन आख्यायिका की सन्तति पर भी स्वरूप में उससे भिन्न है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त कथा एव आख्यायिका शब्दों का प्रयोग आज उसी अर्थ में नहीं हो रहा है।

आधुनिक काल में प्रचारलब्ध उपन्यास एवं आख्यायिका चिरकाल से सम्बद्ध होते हुए भी आज के विकासवादी युग में एक-दूसरे से पर्याप्त साम्य रखते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। 'उपन्यास' शब्द का अर्थ है—"युक्तिसंगत रूप से अभिनव को अभिनव रूप में प्रस्तुत करना।" संस्कृत में लिखित 'कादम्बरी' उपन्यास का ही पूर्वरूप है। आज मराठी में उपन्यास के अर्थ में 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। गुजराती में 'नवलकथा' जो कि नवीनता, नूतनता के साथ अंग्रेजी के Novel शब्द के समकक्ष ही है। आज हिन्दी में भी 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हो रहा है।

वर्तमान युग की कहानियाँ जिनको गल्प, कथा, लघुकथा और आख्यायिका भी कहते हैं, वे चिरकाल से प्रचलित कहानियों की ही सन्तति हैं किन्तु 'टेकनीक' की दृष्टि से उस पर पाश्चात्य भाव इतना पड़ चुका है कि वे उनसे भिन्न प्रतीत होती हैं। बाबू गुलाबराय जी का यह कथन सत्य है कि—कहानी पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है तो नए रूप में उसकी अनुजा।"

कहानी, उपन्यास, नाटक—साहित्य की इन तीनों ही विधाओं के तत्वों में सर्वथा समानता है, किन्तु तत्वों के अनुपात का अन्तर वैषम्य का कारण बनता है। उदाहरण के लिए कथा-प्रधान उपन्यास होता है; कथोपकथन प्रधान नाटक एवं चरित्रचित्रण अथवा समस्या प्रधान कहानी होती है, किन्तु इतना साम्य

होने पर इन तत्वों के प्रयोग में प्रधानता के कारण उसका भिन्न स्वरूप सिद्ध होता है—"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।" इस न्याय से नामों का आधार तत्तद् तत्व की प्रधानता है।

कहानी एवं उपन्यास के निम्न सर्वमान्य तत्व हैं—(१) उद्देश्य, (२) कथा-वस्तु, (२) पात्र-चरित्र-चित्रण, (४) कथोपकथन, (५) देशकाल तथा (६) भाषा शैली।

उद्देश्य—वास्तव में इन दोनों विधाओं के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उद्देश्य तत्व ही पर्याप्त है। उपन्यास के समान कहानी सर्वाङ्गीण हल प्रस्तुत नहीं करती, वह तो मात्र मार्ग-दर्शन, इंगित अथवा सुझाव देती है। कहानी उपन्यास की भाँति कथा-प्रधान नहीं होती है। कहानी तो अपने एकान्त लक्ष्य सिद्धि के लिए मर्मस्पर्शी प्रभविष्णुतापूर्ण समाधान करती है। कहानी की इसी विशेषता को लक्ष्य कर श्री वासुदेव ने लिखा है कि "उपन्यास उस शिकारी के समान है जो अपने निशाने की चिड़िया के साथ उसके आसपास बैठी हुई दूसरी चिड़ियों तथा उसके पास के दृश्य, वातावरण जहाँ तक उसकी दृष्टि जा सकती है, का निरीक्षण करता है। उसके विपरीत कहानीकार धनुर्विद्या-विशारद वीर अर्जुन की तरह अपने निशाने को अचूक बनाने के लिए केवल पक्षी की आँखों को ज्यादा से ज्यादा सिर को जिसमें आँख स्थित हैं, लक्ष्यकर तीर छोड़ता है। इस प्रकार कहानीकार केवल एक ही लक्ष्य पर सारा आलोक केंद्रित करके उसके प्रभाव को तीव्रतम बनाने की चेष्टा करता है।"

उपन्यास विशाल आकार का होता है, इसलिए अनेक समस्याएँ, विस्तृत विश्लेषण एवं अनेक उद्देश्यों से समन्वित होता है। कहानी का शब्द प्रति-शब्द एवं वाक्य निरन्तर निश्चित लक्ष्योन्मुख होता है।

कथावस्तु—कथावस्तु के अभाव में उपन्यास रचना सम्भव नहीं है। पाश्चात्य देशों में कथा के अभाव में उपन्यास लिखने के प्रयास असफल हो चुके हैं किन्तु कहानी कथा के अभाव में भी बन रही है।

उपन्यास में प्रासङ्गिक कथाएँ; प्रकृति-वर्णन राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक समस्याओं का विश्लेषण विस्तार से किया जा सकता है किन्तु

कहानी में यह सम्भव नहीं है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "उपन्यास एक शाखा-प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष है जब कि कहानी एक सुकुमार लता।" कहानीकार 'पहाड़ी' के शब्दों में "उपन्यास को हम नक्षत्र खचित आकाश कहें तो कहानी को सप्तरंगी इन्द्रधनुष मान लें। व्याख्या उपन्यास का प्राण है। संकेत और गूंज कहानी की जीवन-श्वासें।" श्री प्रेमचंद ने उपन्यास एवं कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "कहानी रचना है जिसमें जीवन के किसी अङ्ग या किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथाविन्यास सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहत रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, वेल, बूटे सजे हुए हैं, वल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

पात्र—उपन्यासों में पात्र-संख्या पर कोई विशेष प्रतिवन्ध नहीं है, उसमें वहुसंख्यक पात्र हो सकते हैं क्योंकि उसमें पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए विस्तृत क्षेत्र होता है।

कहानी में पात्रों की संख्या सीमित रहती है। यदा-कदा तो एक ही पात्र रहता है, (किन्तु सामान्यतया तीन-चार तक) क्योंकि पात्र की अधिकता होने पर उनके चरित्र का विकास असम्भव हो जायगा और कहानी की प्रभाव-शाली एकनिष्ठता भी समाप्त हो जायगी।

उपन्यास की आधिकारिक कथा का एक नायक होता है तथा अनेक प्रासङ्गिक कथाओं के अनेक नायक हो सकते हैं। किन्तु कहानी में प्रासङ्गिक कथाओं के अभाव में सह-नायकों का प्रश्न ही नहीं रहता है। उपन्यास के पात्र और नायक कुछ स्वतंत्रता-प्राप्त होते हैं, जवकि कहानी के प्रत्येक पात्र पर कहानीकार का अंकुश रहता है।

उपन्यास एवं कहानी में मानव जीवन से सम्बद्ध किसी भी श्रेणी के पात्र

आ सकते हैं। चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास एवं कहानी दोनों ही हो सकते हैं किन्तु उपन्यास में इसके लिए अधिक अवसर एवं अवकाश होता है। कहानी में चरित्र की झलक होती है, उपन्यास में विस्तृत झाँकी। कहानी में प्रायः प्रत्यक्ष तथा अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण प्रणाली का प्रयोग होता है, उपन्यास में परोक्ष अभिनयात्मक विकसित प्रणाली का सहारा लिया जाता है।

कथोपकथन—कहानी के लघु आकार के कारण उसमें कथोपकथन संक्षिप्त, सशक्त, व्यंजनापूर्ण, सार्थक एवं मार्मिक होने चाहिए तभी कहानीकार की सफलता सम्भव है। कथोपकथन ही कहानी लेखक की अग्नि-परीक्षा है।

उपन्यास एवं कहानी में नाटकीयता का आनंद इसी तत्व से सम्भव है। वैसे कहानी वर्णनात्मक भी सम्भव है किन्तु यह शैली उत्तम नहीं होती है।

उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत होता है, अतः लेखक विश्लेषण एवं वर्णन दोनों के लिए स्वतन्त्र होता है। अतः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार के कथोपकथन संक्षिप्त एवं विस्तृत दोनों प्रकार के हो सकते हैं किन्तु कहानी में संक्षिप्त कथोपकथन ही अपेक्षित हैं।

देशकाल—इस तत्व से परे न उपन्यास जा सकता है और न कहानी। साहित्य समाज का दर्पण है; अतः साहित्य इस तत्व से निरपेक्ष नहीं हो सकता। इस तत्व का निर्वाह सफल कहानीकार एवं उपन्यासकार दोनों ही करते हैं। यह तत्व कहानी एवं उपन्यास दोनों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है किन्तु उपन्यास में युग का विस्तृत चित्र मिलता है तथा कहानी में संक्षिप्त झलक।

शैली—शैली की दृष्टि से ये दोनों विधाएँ परस्पर भिन्न हैं, यद्यपि वर्ण्य-विषय प्रायः समान होते हैं। कहानी की शैली व्यंजना-प्रधान होती है। 'गागर में सागर' की लोकोक्ति इसी विधा पर पूर्णतः चरितार्थ होती है। श्री प्रेमचंद ने एक स्थान पर लिखा है कि "हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े शब्दों में कही जा सके। उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये। उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक मुग्ध

किये रहे...।" कहानी का एक लक्ष्य स्पष्ट होने के कारण उसकी "शैली में कसावट, ठोसपन और संक्षिप्तता अनिवार्य रूप से रहते हैं। इसके विरुद्ध उपन्यास में ध्येय की एकता के अभाव में शैली में न तो संक्षिप्तता ही होती है और न संकोच। उसमें विस्तार की, विवरण की प्रवृत्ति होती है"

संक्षेप में डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार इन दोनों विधाओं का अन्तर इस प्रकार है।

कहानी	उपन्यास
(१) कहानी जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत करती है।	(१) उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का विशाल और व्यापक चित्र उपस्थित करता है।
(२) कहानीकार के लिए संक्षिप्त और संकेतात्मकता आवश्यक है।	(२) उपन्यासकार के लिए विवरणपूर्ण, विशद और व्याख्यापूर्ण शैली आवश्यक है।
(३) कहानीकार एक भाव या प्रभाव विशेष का चित्रण करता है।	(३) उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की निवृत्ति करता है।
(४) कहानी में प्रासंगिक कथाओं का अवसर नहीं होता।	(४) उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं का संगठन, अधिकारिक कथा की एकरसता को दूर करने तथा वर्णन में विविधता लाने के लिए आवश्यक होता है।
(५) कहानी में थोड़े समय में महत्वपूर्ण बात कहनी होती है। अतः कला की सूक्ष्मता इसमें आवश्यक होती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह	(५) उपन्यास में सूक्ष्मकला की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी व्यापक उदात्त दृष्टिकोण तथा भाव, रस और परिस्थिति के समग्र रूप में चित्रण की। रस के विविध रूपों का

एक भाव विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है।

समावेश उपन्यास में हो सकता है।

(६) कहानी द्वारा हल्का मनोरंजन ही प्रायः सम्पादित हो पाता है।

(६) उपन्यास परिस्थिति और पात्र के पूर्ण चित्रण द्वारा हृदयमंथन और मनस्संस्कार भी करता है।"
(काव्यशास्त्र, पृ० ८२-८३)

अन्त में हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि कहानी तथा उपन्यास नामक साहित्य की इन दो विधाओं में केवल आकार का ही अन्तर नहीं है, उसमें शिल्पविधान की दृष्टि से भी मौलिक अन्तर है। डा० जगन्नाथ शर्मा ने इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"थोड़े में यदि कहानी और उपन्यास का तारतम्य निरूपण करना हो तो कहा जा सकता है कि कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झंकृत और आन्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा करती है तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झाँकी देकर सारे रहस्यों और वस्तुस्थितियों से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णता विधायक संतुष्टि उत्पन्न कर देता है।" आशय स्पष्ट है कि उपन्यास में पाठक सब कुछ पढ़ता है और आनन्द लेता है, जबकि कहानी में पाठक बहुत कुछ अपनी कल्पना के सहारे आनन्दानुभव करता है। निश्चय ही कहानी उपन्यास का न तो छोटा रूप है और न उनका सम्बन्ध पिता और पुत्री का है वरन् वह उससे सर्वथा स्वतन्त्र और भिन्न रचना है। वेरी के मतानुसार "उपन्यास एक तृप्ति है और कहानी एक उभार'—**The novel is a satisfaction, the short story is a stimulus.** निश्चय ही कहानी जीवन का एक अंश है और उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र।

प्रश्न ७३—(२) नाट्यकला और उपन्यासकला का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

(२) नाटक तथा उपन्यास में कुछ साम्य होते हुए भी बहुत बड़ा अन्तर है। इस साम्य तथा वैषम्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर:—नाटक एवं उपन्यास की दो महत्वपूर्ण विधाएँ हैं। यदि हडसन नाटक और उपन्यास को समान विषय-वस्तु के वर्णन और चित्रण के कारण मानते हैं तो मैरियन फॉक्स उपन्यास को जेबी नाटक (थियेटर) कहते हैं। तदनुसार दोनों विधाओं में पर्याप्त साम्य है। निश्चय ही इन दोनों के माध्यम से मानव-मन की जिज्ञासु प्रवृत्ति का समाधान होता है। दोनों विधाएँ मानव जीवन का चित्रण करती हैं। उसकी समस्याओं का समाधान करती हैं। श्री प्रेमचन्द ने ठीक ही लिखा है कि "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" दूसरी ओर नाटक मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं एवं भावों का अनुकरण प्रस्तुत करता है—"अवस्थानुकृतिर्नाटयम्"। यह अवस्था का अनुकरण भी मानव जीवन का चित्रण है। "नाटक जीवन के अति निकट, मानव-समाज का सजीव प्रतिबिम्ब और स्वाभविक रूप है। नाटक में अनुकरण, आत्मविस्तार तथा जाति की रक्षा आदि मूल प्रवृत्तियों के रूप मिलते हैं। इसमें लोकहित, लोकरंजक तथा समाज सुधार की क्षमता विपुल मात्रा में मिलती है। "उपन्यास भी मनोरंजन का एक साधन है। उपन्यास का प्रणयन देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों को साहित्यिक रूप देने के लिए होता है। उपन्यास का कथानक समस्या प्रधान तथा विश्लेषणात्मक होता है।" इन दोनों विधाओं के तत्व समान होते हुए भी प्रयोग के आधार पर दोनों में अन्तर प्रकट होता है। कुछ विषमताएँ इस प्रकार हैं—

(१) उपन्यास श्रव्यकाव्य है और नाटक दृश्यकाव्य। एक का आनन्द पढ़-कर और सुनकर लिया जाता है जबकि दूसरे का आनन्द रंगमंच पर अभिनय देखकर लिया जाता है।

(२) नाटककार के पास अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक साधन वर्णन, गीत, संगीत, चित्र, सजे-सजाये पात्र, दृश्यपट, रंगमंच आदि सुलभ हैं, जबकि उपन्यासकार केवल शब्दों के द्वारा अपना सम्पूर्ण मनोभाव व्यक्त करता है।

(३) नाटककार रंगमंच के आश्रित है, अतः उसकी कुछ सीमाएँ हैं, जबकि उपन्यासकार को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसीलिए नाटक के चरित्र उतनी सफलता से चित्रित नहीं होते हैं जितनी कि उपन्यास के।

(४) नाटककार के ऊपर समय और आकार का प्रतिवन्ध होता है जबकि उपन्यासकार इस दृष्टि से स्वतन्त्र है। हजारों पृष्ठ वाले उपन्यास भी आज उपलब्ध हैं। इस विषय में हडसन ने लिखा है कि—

"उपन्यास को विकास के लिए वह स्वतन्त्रता प्राप्त है, जो नाटक को दूर भविष्य में भी प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है।" इसी आशय को वह अन्यत्र इन शब्दों में व्यक्त करता है—"नाटक जितना अधिक वैधानिक नियन्त्रण में रहता है, उपन्यास को उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।"

डा० भगीरथ मिश्र ने नाटक एवं उपन्यास के अन्तर को 'काव्यशास्त्र' (पृ० ७९) में इन संकेतों के आधार पर स्पष्ट किया है।

नाटक	उपन्यास
१. नाटक में अतीत की घटनाओं को वर्तमान में प्रत्यक्ष घटित होते हुए दिखलाया जाता है।	१. अतीत की घटनाओं का अतीत में घटित रूप में ही वर्णन होता है।
२. नाटककार अपनी समस्त रचना में अप्रत्यक्ष रहता है वह स्वयं कुछ नहीं कहता। उसे जो कुछ कहना होता है वह पात्रों के वार्तालाप या स्वगत कथन के रूप में प्रगट करता है। पात्रों के कथोपकथन और क्रियाकलाप ही उनके चरित्र को अभिव्यक्त करते हैं।	२. उपन्यास अपनी कृति में प्रगट और प्रत्यक्ष रूप में आता है और पात्रों के चरित्रों, आन्तरिक मनोभावों और विचारों पर प्रकाश डालता और टीका-टिप्पणी करता है। वह चरित्र-चित्रण के विश्लेषणात्मक और नाटकीय दोनों ही ढंगों का प्रयोग करता है और कथानक के विकास और चरित्रों के परिचय संबंधी सूचना तथा देशकाल या युग की

पृष्ठभूमि का विवरण स्वयं उपस्थित करता है ।

३. नाटक में पात्र अपने भाव और अर्थ को कथोपकथन और अभिनय द्वारा पूर्णतया प्रकट करते हैं और दर्शक की कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता । देशकाल का संकेत 'सीन-सीनरी' आदि द्वारा होता है इस कारण अर्थ और भाव अधिक सहज-ग्राह्य तथा अधिक प्रभावकारी रूप में प्रकट होते हैं ।

३. उपन्यासकार का माध्यम केवल शब्द है । अतः उसे अपनी वर्णन-शैली को स्वाभाविक सहजग्राह्य और प्रभावशाली बनाना पड़ता है । साथ ही पाठक के लिए भी कल्पना-शीलता और संवेदना की अधिक अपेक्षा रहती है । कथासूत्र को स्मृति और बुद्धि द्वारा जोड़ना होता है ।

४. नाटक का दर्शक नियत समय के लिए ही नाटक का आनन्द ले सकता है । बीच में छोड़कर और जब तक इच्छा हो, तब तक नाटक का आनन्द नहीं लिया जा सकता ।

४. उपन्यास-पाठक के लिए समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं । जब इच्छा और जब समय हो, तब पढ़ा और उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ।

५. नाटक में प्रभाव का ध्यान अधिक रखा सकता है ।

५. उपन्यास का प्रमुख ध्येय वास्तविकता है । वह हमारे अनुभूत जीवन को चित्रित करने का प्रयास करता है ।

प्रश्न—एकाङ्की के स्वरूप, परिभाषा एवं तत्वों का विवेचन कीजिए ।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में एकाङ्की एक नवीनतम विधा है, इसका आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ है । जिस प्रकार उपन्यास के क्षेत्र में 'कहानी का उदय हुआ, ठीक उसी प्रकार नाटक के अन्तर्गत एकाङ्की नामक विधा का उदय हुआ है । आज के व्यक्ति का जीवन व्यस्त है, जटिल है और विषम परिस्थितियों में फँसा हुआ है । अतः वह विशाल काय महाकाव्य, महाकाय नाटक तथा उपन्यास पढ़ने के लिए समय नहीं पाता है उसे तो एक छोटी

सी 'रचना' चाहिए । जो उसका मनोरंजन कर सके । इस दृष्टि से एकाङ्की नाटक तथा कहानी आते हैं ये दोनों ही आज के युग में लोकप्रिय हो रहे हैं; व्यक्ति थोड़े से समय में कम पैसा खर्चकर अधिक आनन्द की प्राप्ति चाहता है, जीवन की विषम समस्याओं का समाधान चाहता है ।

कहानी की अपेक्षा एकाङ्की अधिक महत्वपूर्ण, सरस तथा मनोरम है । क्योंकि इसमें कथा, संगीत, अभिनय, चरित्र-चित्रण और संवादों का आनन्द एक साथ मिलता है । इसमें प्रत्यक्ष आनन्द मिलता है । इसमें जो शिक्षा मिलती है, वह आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष घटित होती हुई सी प्रतीत होती है, जो भी समस्या इसमें हल की जाती है, उसका चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष घूम जाता है । उसकी अच्छाई, बुराई स्पष्ट हो जाती है अतः एकाङ्की आज के युग में एक महत्वपूर्ण विधा है "जिन कारणों ने उपन्यास क्षेत्र में कहानी अथवा गल्प को जन्म दिया है, वे ही कारण नाटक-क्षेत्र में एकाङ्की के जन्म के लिए भी उत्तरदायी हैं । यन्त्रयुग का मनुष्य अपने दैनिक कार्यभार में इतना तल्लीन रहता है कि अनेक अङ्कों और दृश्यों वाला महानाटक देखने अथवा पढ़ने के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता । उसका अधिकांश समय दैनिक कार्य-व्यापार में व्यतीत होता है अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह मनोरंजन के ऐसे साधनों को अपनाये जो अपेक्षाकृत कम समय में ही पूर्ण हो जायें ।" निश्चय ही एकाङ्की इस समस्या का समाधान पूर्ण रूप से करता है क्योंकि एकाङ्की एक छोटी रचना है, इसमें एक अङ्क होता है, इसमें कथा का फैलाव अधिक न होकर संक्षिप्त होता है । इसी संक्षिप्तता के कारण उसकी गति तीव्र होती है और चरमोत्कर्ष पर जाकर वह इतनी व्यंजक हो जाती है कि पाठक मर्माहत होकर रह जाता है ।

एकाङ्कीकार आधुनिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है । मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन की अभिव्यक्ति को उद्देश्य मानने के कारण मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और पात्रों का भावनात्मक घात-प्रतिघात दिखाते हुए नाटकीय घटनाओं को चरम-उत्कर्ष तक ले जाता है यही आज के एकाङ्की की विशिष्ट कलात्मक सिद्धि है ।

आधुनिक हिन्दी एकाङ्की पश्चिम की देन है। पश्चिम में भी इसका उदय अभी हुआ है, वहाँ भी पहले विशालकाय नाटकों का ही प्रचार था। इन्हीं वड़े-वड़े नाटकों के मध्य दर्शकों के मनोरंजन के लिए छोटे-छोटे नाटक खेले जाते थे—जिन्हें 'कर्टेन रेजर्स' कहा जाता था। यही 'कर्टेन रेजर्स' महायुद्ध के वाद स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर एकाङ्की के रूप में उदित हुए हैं। जिन्हें परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

एकांकी की परिभाषा : हिन्दी के नाटक कारों ने एकांकी की अनेक परिभाषाएँ की हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "जव समस्त जीवन अथवा जीवन के विस्तृत भाग की अपेक्षा उसके केवल एक भाग या भावना के चित्रण की आवश्यकता पड़ती है तो एकांकी नाटक की रचना की जाती है।"[1] वर्मा जी ने आगे भी लिखा है कि एकांकी में एक भावना और एक घटना का प्राधान्य होता है वही एक घटना कली के समान खिलकर पुष्प के रूप में विकसित हो मानव हृदय को आह्लादित करती है। विष्णु प्रभाकर की दृष्टि में एकांकी नाटक का छोटा रूप नहीं है अपितु "वड़ा नाटक उपवन के समान है और एकांकी गमले के समान।[2] सेठ गोविन्ददास एकांकी में कोई मूल विचार या समस्या का होना आवश्यक मानते हैं। सेठ जी के मतानुसार "विचार संघर्ष, कथानक आदि नाटक के मुख्य तत्व हैं किन्तु प्रभाव एकता को वे सवसे अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।" डा० नगेन्द्र का मत है कि "एकांकी में हमें जीवन का क्रमवद्ध विवेचन न मिलकर एक पहलू एक महात्वपूर्ण घटना एक विशेप परिस्थिति, अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्रण मिलेगा।"[3] डा० राम चरण महेन्द्र का विचार है कि "एकांकी मानव जीवन या समाज के एक पहलू या उद्दीप्तक्षण का चित्र है। इसका निर्माण एक आधारभूत मुख्य विचार, विशेप समस्या, एक सुनिश्चित सुकल्पित लक्ष्य, एक ही महत्वपूर्ण घटना या विशेप परिस्थिति पर ही हो सकता है।"[4]

१. शिवाजी, भूमिका पृ० ६,
२. अशोक तथा अन्य एकांकी, भूमिका पृ० १५
३. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १२०
४. हिन्दी एकांकी: उद्भव और विकास. पृ० ३१

उपर्युक्त परिभाषाएँ एकांकी के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती हैं। प्रारम्भ में विद्वान एकांकी को नाटक का लघुसंस्करण मानते थे किन्तु आज उस भ्रम का निराकरण हो चुका है। रूपक के इन दोनों रूपों में काफी अन्तर है। दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। निश्चय ही यह विधा मानव मन की समस्याओं के समाधान में बहुत बड़ा योगदान दे रही है। साहित्य के इस नाट्यप्रधान रूप के द्वारा—"मानव जीवन के किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक एक कार्य, एक परिपार्श्व, एक भाव की ऐसी कलात्मक व्यंजना की जाती है कि ये एक अविकल भाव से अनेक की सहानुभूति और आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं"

एकांकी के तत्व: एकांकी नाटक के निम्न तत्व हैं :—कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन संकलनत्रय 'संघर्ष' अभिनेयता, प्रभाव की एकता या उद्देश्य कथानक- कथानक नाटक, उपन्यास, कहानी की भाँति इसका एक अनिवार्य तत्व है। 'एकांकी की कथा-वस्तु एक तीव्र अनुभूति है। एकांकी की कथा वस्तु में कुतूहल एवं चरम सीमा का विशेष महत्व है। वर्मा जी के अनुसार "एकांकी के कथानक का रूप हमारे सामने तब आता है, जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके आरम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और विज्ञान की अपरिमित शक्ति भरी रहती है।" एकांकी की कथा वस्तु में एक घटना ही रहती है घटनाधिक्य का समावेश उचित नहीं होता फिर भी वह एकांकीकार एक ही अंक में अनेक दृश्यों की योजना कर देते हैं किन्तु रामकुमार वर्मा जैसे समर्थ एकांकीकार इसे उचित नहीं समझते। निश्चय ही संक्षिप्तता और सांकेतिकता एकांकी का अनिवार्य तत्व है। उपेन्द्रनाथ अश्क का मत है कि एकांकी लेखक किसी मूलभूत विचार को उसकी समस्त भावनाओं के साथ व्यक्त नहीं करता, उसका संकेत मात्र करता है।"[१] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मार्मिकता, संवेदना, परिधि-संकोच और प्रभावान्विति एकांकी के अच्छे कथानक के अनिवार्य गुण हैं। क्षिप्तता और गति से कथा चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ने में सहायक होती है।

१. रेखाएँ और चित्र पृ० ११७

एकांकी की कथा जीवन के किसी अङ्ग से ली जा सकती है उसके लिए ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि कथा राजनीतिक हो या ऐतिहासिक आदि।

चरित्र-चित्रण: एकांकी के लिए चरित्र-चित्रण एक अनिवार्य तत्व है। किन्तु पात्राधिक्य एकांकी के सौन्दर्य को कम ही नहीं कर देते है अपितु नष्ट भी कर देते हैं अतः प्रत्येक पात्र की अपनी आवश्यकता एवं विशेषता सिद्ध होनी चाहिए तभी उसकी उपयोगिता और सौन्दर्य की वृद्धि हो सकेगी। पात्र के अन्तः में विद्यमान संघर्ष एकांकी को सौन्दर्य प्रदान करता है। पात्रों का मनःस्थिति और उसके रहस्यों का उद्घाटन चरित्र-चित्रण में आवश्यक माना जाता है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "घटना से अधिक शक्तिशाली पात्र होते हैं।...एकांकी में पात्र महारथी होता है घटनाएँ रथ बनकर समस्त संग्राम में उसे गति प्रदान करती हैं। मेरी दृष्टि में पात्र-प्रधान एकांकी कला की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हुआ करते हैं।"[१] वस्तुतः पात्र और उसका चरित्र ही वह तत्व है जिसकी प्रेरणा से एकांकीकार नाटक सृजन के लिए प्रस्तुत होता है। अतः कथानक के समान ही चरित्र-चित्रण एकांकी का अनिवार्य तत्व है।

किन्तु एकांकी की सफलता के लिए पात्रों की संख्या सीमित चारित्रिक विविधता तथा गतिशीलता एक अनिवार्य तत्व है।

कथोपकथन

कथोपकथन या संवाद एकांकी का सर्वस्व है सुन्दर कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की सफलता तभी सम्भव हैं जब कथोपकथन तदनुरूप हो। संक्षिप्त हो, मार्मिक हो और ध्वन्यात्मक हो। अनावश्यक एवं विस्तृत संवाद एकांकी के सौन्दर्य को नष्ट करने वाले होते हैं। अतः निरर्थक एवं निष्प्रयोजन संवादों का नाटक में कोई स्थान नहीं है। उपेन्द्रनाथ अंश्क संवाद को एकांकी का महत्वपूर्ण तत्व स्वीकार करते हैं किन्तु संवाद को ही एकांकी नहीं कहा जा सकता" कुछ आलोचकों का मत है कि एकांकी सम्भाषण का दूसरा नाम है; यह उतना ही सत्य है जितना यह कि ईंटों का ही दूसरा नाम मकान है।"[१] डा०

१. ऋतुराज, भूमिका पृ० १४

रामचरण महेन्द्र के अनुसार "संवादों की स्वाभाविकता के साथ सजीवता बड़ा आवश्यक गुण है। वे संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वदैग्ध्य पूर्ण पात्रों की चारित्रिकता को स्पष्ट करने वाले तथा कथासूत्र को आगे बढ़ाने वाले होने चाहिए।[२] स्वगत के सम्बन्ध में एकांकी में उनके महत्व एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु यह निश्चय है कि एक-दो छोटे-छोटे स्वगत कथन तो एकांकी का सौन्दर्य बढ़ा सकते हैं किन्तु लम्बे-लम्बे स्वगत कथन सौन्दर्य को नष्ट भी कर देते है।

संकलन-त्रय—एकाङ्की एक स्वल्पकाय किन्तु तीव्र गति वाली रचना है अतः उसमें स्थान, समय और कार्य-घटना की एकता नितान्त आवश्यक है। हिन्दी के एकाङ्कीकारों में इस विषय में मतभेद है कि—डा० रामकुमार वर्मा में संकलन-त्रय के निर्वाह के लिए विशेष आग्रह है। उनका विचार है कि "मेरी दृष्टि में एकाङ्की में संकलन त्रय का महत्वपूर्ण स्थान है। एक सम्पूर्ण कार्य एक स्थान पर ही एक ही समय में हो जाना मैं एकाङ्की के लिए आवश्यक समझता हूँ।"[३] विष्णु प्रभाकर भी इसके निर्वाह के समर्थक हैं "जहाँ तक सम्भव हो उसमें दूसरी बार पर्दा न उठाना पड़े। कम से कम सेट से काम चल सके तो अच्छा है।"[४] लेकिन डा० नगेन्द्र इनके निर्वाह के लिए विशेप आग्रहवान नहीं हैं। उनका विचार यह है कि "प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किए विना भी सफल एकाङ्की की रचना की जा सकती है।"[५] वस्तुतः संकलन-भय के अभाव में भी यदि एकाग्रता और प्रभावगत एकता है तो इसके लिए अधिक आग्रह नहीं करना चाहिए। फिर भी एकाङ्की का सौन्दर्यवर्द्धन तो संकलन-त्रय के निर्वाह से होता ही है।

---

१. अश्क, रेखाएँ और चित्र, पृ० १२१

२. हिन्दी एकाँकीः उद्भव और विकास, पृ० ३४

३. ऋतुराज की भूमिका, पृ० १५

४. मैं इनसे मिला (दूसरी किस्त) पृ० २३०

५. एकाङ्की, भूमिका, पृ० ३

संघर्ष—आज का एकाङ्कीकार एकाङ्की में संघर्ष पर अधिक वल देता है। मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं से उत्पन्न घात-प्रतिघात ही एकाङ्की में व्यक्त रहता है अतः द्वन्द्व मानव-चरित्र के उद्‌घाटन में सहयोग देता है इससे गति आती है।

अभिनेयता—एकाङ्की एक दृश्यकाव्य है। अतः अभिनेय होना ही चाहिए। एकाङ्की का यह तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है इसीलिए आज हिन्दी का प्रत्येक एकाङ्कीकार अपनी रचना में रंग—निर्देश और रंगमंच का विशेष ध्यान रखता है। भाषा की सरलता, संवादों की मार्मिकता आदि एकाङ्की की रंगमंचीयता में सहयोग देतें हैं। आज का हिन्दी एकाङ्कीकार रंगमंच पर विशेष ध्यान देने लगा है।

उद्‌देश्य या प्रभाव—रचनाकार किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलता है। इसी उद्‌देश्य के माध्यम से वह प्रभाव डालने की भरसक चेष्टा करता है। एकाङ्की का रचना विधान और उसकी शैली इसमें सहयोग देती है। कथानक–आरम्भ, नाटकीय स्थल, द्वन्द्व, चरमसीमा और उपसंहार के रूप में विभाजित रहता है। चरमसीमा पर जाकर कथा का अन्त हो जाता है और पाठक या दर्शक के मन पर प्रभाव डालने में वह समर्थ होती है। निश्चय ही एकाङ्की में चरमसीमा का विशेष महत्व है।

आज के युग में मानव जीवन की व्यस्तता के कारण एकाङ्की निरन्तर लोकप्रिय होते जा रहे हैं। क्योंकि एक छोटी सी रचना के द्वारा दर्शक या पाठक पूर्ण रसास्वादन करता है निश्चय ही एकाङ्की एक लोकप्रिय विधा है।

प्रश्न—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए

अ, संस्मरण,

ब. रेखाचित्र,

स. रेडियोनाटक

द. रिपोर्ताज, इण्टरव्यू,

य. गद्यगीत, लघुकथा

संस्मरण एवं रेखाचित्र आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य की उदीयमान महत्वपूर्ण विधाएँ हैं। 'संस्मरण' किसी स्मर्यमाण की स्मृति का शब्दाङ्कन है स्मर्यमाण के जीवन के वे पहलू, वे संदर्भ, और वे चारित्रिक वैशिष्ट्य जो स्मरणकर्त्ता को स्मृत रह जाते हैं, उन्हें वह शब्दाङ्कित करता है। स्मरण वही रह जाता है जो महत्, विशिष्ट, विचित्र और प्रिय हो। स्मर्यमाण को अंकित करते हुए लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता है। संस्मरण में विषय और विषयी दोनों ही संपादित होते हैं। इसलिए इसमें स्मरणकर्त्ता पूर्णतः तटस्थ नहीं रह पाता। अपने स्व का पूर्ण विसर्जन वह नहीं कर पाता। वस्तुतः वह स्मर्यमाण के संदर्भित अपने 'स्व' का पुनः सर्जन करता है।"[1] उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि संस्मरण में–(i) स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखित रचना संस्मरण है। (ii) संस्मरण वर्ण्य वस्तु-व्यक्ति के अतिरिक्त लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता है। (iii) संस्मरण में लेखक तटस्थ, नहीं रह पाता है (iv) संस्मरण में लेखक जो स्वयं देखता है, अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसमें लेखक की स्वयं की अनुभूतियाँ— संवेदना भी रहती है। (v) शैली की दृष्टि से संस्मरण निबन्ध के अधिक निकट होता है। (vi) संस्मरण विवरणात्मक अधिक होता है। (vii) विद्वान संस्मरण को जीवनी साहित्य के अन्तर्गत समाहित करते हैं।

संस्मरण घटनात्मक अधिक होते हैं, किन्तु ये घटनाएँ प्रायः सत्य होती हैं और वर्णित व्यक्ति या वस्तु के चरित्र का परिचय देती हैं।

रेखाचित्र—संस्मरण एवं रेखाचित्र में भेद करना कठिन है। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है कि "संस्मरण, रेखाचित्र और आत्म चरित्र इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।[2]" महादेवी वर्मा ने भी इस प्रसङ्ग में लिखा है कि "इन स्मृतिचित्रों में

१. हिन्दी का गद्य साहित्य, डा० तिवारी पृ० १६७
२. संस्मरण, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, पृ० ४

मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनन्त अंधकार के अंश हैं। परन्तु मेरी निकटता जनित आत्म-विज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता, जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है।"[1] संस्मरण एवं रेखा-चित्रों की अति निकटता के कारण विद्वान इनकी साथ-साथ ही चर्चा करते हैं।—'रेखाचित्र' में किसी व्यक्ति, वस्तु या प्रसङ्ग का अंकन किया जाता है। यह अंकन पूर्णतया तटस्थ भाव से ही किया जाता है। रेखाचित्र में रेखाएँ बोलती हैं। जिस प्रकार कुछ थोड़ी सी रेखाओं का प्रयोग करके रेखा-चित्रकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है। उसी प्रकार कुछ थोड़े से शब्दों का प्रयोग करके साहित्यकार किसी व्यक्ति वस्तु को उसकी मूल-भूत विशेषता के साथ सजीव कर देता है। रेखांकन करते समय यह अपने को तटस्थ रखने की चेष्टा करता है। वस्तु को ही महत्व देता है। विषय को रूपायित करता है। जब कभी उसकी तटस्थता भंग होती है तो रंगों की चटक रेखाएँ डूब जाती हैं।"[2] रेखाकंन व्यक्ति के अन्तर एवं वाह्य दोनों का होता है। रेखाचित्र में वस्तु परकता का आधिक्य होता है। हिन्दी रेखाचित्रकारों में पं० पद्मसिंह शर्मा, व श्री रामशर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनी पुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, महादेवी वर्मा, माखन लाल चतुर्वेदी, सेठ गोविन्द दास, डा० नगेन्द्र, विनय मोहन शर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर आदि महत्वपूर्ण प्रतिभाएँ है।

रेडियो नाटक—आज का युग विज्ञान का है अतः रेडियो की लोक-प्रियता निरन्तर वृद्धि पर है। इसीलिए रेडियो के माध्यम से साहित्यिक रचनाओं का प्रचार और प्रसार किया जा रहा है।" रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ लिखित नाटक रेडियो नाटक कहा जाता है। चूंकि यह मात्र श्रव्य होता है,

---

१. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा अपनी बात, पृ० २

२. हिन्दी का गद्य साहित्य पृ० १६८

अतः इसे श्रव्य नाटक भी कहते हैं और चूंकि इसमें ध्वनि की प्रधानता होती है, अतः ध्वनि नाटक भी कहते हैं, पर रेडियो नाटक अथवा रेडियो नाट्य नाम ही अधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है।"

रेडियो नाटक में अङ्क का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसमें एक ... ... दृश्य तो हो सकते हैं किन्तु अङ्क नहीं। दृश्यों पर भी किसी तरह [illegible]-ति-बन्ध नहीं है दो पंक्तियों का भी दृश्य हो सकता है और दो सौ [illegible] भ[illegible]।

प्राचीन नाटकों में जो दृश्य था वह रेडियो नाटक में श्रव्य हो गया है। रंग-मंच नाटकों में प्रत्येक वस्तु दृष्ट होता है किन्तु रेडियो नाटक में ऐसा नहीं है। रेडियो नाटक में श्रोताओं को सहज बोध कराने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता है। रेडियो नाटक में पात्रों की संख्या न्यूनतम होती है न्यूनता के कारण ही वह सहज रूप में पहचाने जा सकते हैं। ये नाटक अधिक लम्बे नहीं होते अधिक से अधिक आध घण्टे का रेडियो नाटक आदर्श हो सकता है वैसे दस-पद्रह मिनट वाले नाटकों ने अधिक लोकप्रियता अर्जित की है।

रेडियो नाटक का मूल आधार ध्वनि है। ध्वनि भावभिव्यक्ति का एक सहज किन्तु प्रमुख साधन है। एक शब्द विभिन्न मुद्राओं भंगिमाओं से कहा जाने पर विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। रेडियो नाटक में ध्वनि का उपयोग तीन रूपों में होता है भाषा, ध्वनि प्रभाव और संगीत।

श्रव्य भाषा ही रेडियो नाटक का मूल आधार है। यह भाषा सरल स्वाभाविक और भावाभिव्यंजक होनी चाहिए, जिसे श्रोता सहज हृदयंगम कर सकें। रेडियो नाटक में भाषा का प्रयोग दो रूपों—कथोपकथन या संलाप के रूप में तथा नैरेशन—या प्रवक्ता के कथन के रूप में होता है।" नैरशेन से तात्पर्य नाटक के उस अंश से होता है, जिसमें पात्र नाटक के क्रिया कलाप का वातावरण निर्मित करता है, आवश्यक विवरण देता है, घटनाओं की शृंखला जोड़ता है अथवा घटनाओं की आलोचना करता है।"

यद्यपि रेडियो रूपक में नैरेटर सरलता से आ सकता है किन्तु रेडियो नाटक में वह जितना ही कम आवे उतना ही अच्छा है।

ध्वनि से आशय यह है कि रेल, वर्षा, बादल आदि की ध्वनियाँ-जिनका नाटक के प्रसारण में उपयोग किया जाता है "ध्वनि-प्रभाव और वाद्य संगीत ...वश्यकता पात्रों के कार्यों के लिए पृष्ठभूमि एवं वातावरण निर्माण, ...अभिव्यंजन, दृश्यान्तर, देश-काल-परिचय आदि के लिए होती है। इनके द्वारा नाटक में सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता आती है।"

शिल्प की दृष्टि से रेडियो नाटक के निम्न रूप हैं:—रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तर, रेडियो फैण्टेसी या अति कल्पना, मोनोलॉग या स्वगत् नाट्य, एक पात्रीय नाटक, संगीत, रूपक, झलकियाँ आदि।

रेडियो नाटक की कथा अति संक्षिप्त एवं सरल होती है। उसमें तीव्र वेग, भी होता है। इस दृष्टि से यह एकांकी नाटक अधिक निकट है। चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से भी एकांकी की भाँति लाघव की अपेक्षा होती है।

रिपोर्ताज

यह शब्द फ्रेंच का है। आज यह इसी रूप में एक विधा के रूप में स्थिर हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के आस-पास इस विधा का उदय हुआ है। किसी घटना विशेष को अपनी मानसिक इमेज की पृष्ठभूमि में पुनः मूर्त रूप में प्रस्तुत करना 'रिपोर्ताज' का सहज धर्म है। "वास्तविक घटना को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देना "रिपोर्ट" है। ठेठ हिन्दी में इसे 'रपट लिखाना' कहते हैं। जब सफल पत्रकार या साहित्यकार वास्तविक घटना को अपने भीतर निहित मूल्यों के अनुसार एक विशेष दृष्टिकोण से उपस्थित करके प्रभावपूर्ण बना देता है तो वह 'रिपोर्ताज' की कला सृष्टि करता है।"

हिन्दी साहित्य में रिपोर्ताज विधा का तेजी से विकास हो रहा है। रांगेयराघव, प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृतराय, प्रभाकर मचवे, फणीश्वर नाथ रेणु, ठाकुर प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, विश्व कान्त शास्त्री आदि ने श्रेष्ठ रिपोर्ताज लिखे हैं।

जब एक पत्रकार पत्रकारिता के स्तर से उठकर संवेदनशील साहित्यकार बन जाता है तो वह प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज का सृजन करता है।

मानव मन को झकझोर देने वाली अकाल, युद्ध, महामारी आदि की विभीषिका को 'रिपोर्ताज' शैली में एक पत्रकार या साहित्यकार प्रस्तुत करता है। तो वह 'रिपोर्ताज' कहलाता है।

बंगला देश के युद्ध, मिर्जापुर विहार के अकाल आदि को लेकर हिन्दी में सुन्दर 'रिपोर्ताज' लिखे गये हैं। भविष्य में इस विधा को विकास की अधिक संभावनाएँ हैं।

'इण्टरव्यू'

हिन्दी साहित्य में इण्टरव्यू भी लिखे जाने लगे हैं किन्तु इसका विधा विकास तीव्र गति से नहीं हो रहा है। फिर भी बड़े-बड़े साहित्यकार, राजनीतिक नेता, कलाकारों आदि के 'इण्टरव्यू' पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। "इण्टरव्यू में कला, साहित्य, राजनीति, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र की महान और मान्य विभूतियों से मिलकर किन्हीं प्रश्नों के संदर्भ में उनके विचार या दृष्टिकोण जानने और उन्हें उसी की शैली भाषा और भंगिया में व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है। मिलने वाला सुविधा की दृष्टि से कुछ प्रश्न तैयार कर लेता है और क्रमशः उन प्रश्नों के उत्तर के रूप में वह उस विख्यात, विशिष्ट, अनुभवी और महान् व्यक्ति के विचार जान लेने की चेष्टा करता है।"

'इण्टरव्यू' लघु और बड़े के बीच अधिक आकर्षक बनता है। इण्टरव्यू में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं। उत्तर देने वाला कभी मुस्कराकर, कभी हँसकर या प्रसङ्गान्तर आदि विभिन्न मुद्राओं से उत्तर दे सकता है, टाल सकता है।

हिन्दी में यथार्थ तथा काल्पनिक दोनों ही प्रकार के इण्टरव्यू मिलते हैं। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने "मैं इनसे मिला" (दो भागों) में हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकारों के इण्टरव्यू प्रस्तुत किये हैं। लक्ष्मी चन्द्र जैन, और शरद देवडा कुछ काल्पनिक इण्टरव्यू लिखे हैं। इधर साहित्यकारों को लेकर इण्टरव्यू कम ही लिखे जा रहे हैं किन्तु कलाकारों को लेकर नित नये-नये 'इण्टरव्यू' पत्र-पत्रिकाओं में छप रहे हैं।

गद्यगीत

गद्यकाव्य के अन्तर्गत प्राचीन काल में कथा, वृत्त, और आख्यायिका आदि का परिगणन किया गया था किन्तु आज इस व्यापक अर्थ के अतिरिक्त इस शब्द का संकुचित अर्थ में भी प्रयोग हो रहा है, और भविष्य में यह शब्द इसी अर्थ में रूढ़ भी हो जायगा। "गद्य-काव्य वह रचना है, जिसमें कविता जैसी संवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। फलस्वरूप उसका बाह्य रूप भी साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलंकृत और सधा हुआ होता है। ......गद्य-काव्य से वस्तुतः गद्यगीति का ही बोध होता है। परन्तु कहानी, संस्मरण, निबन्ध आदि भी गद्य काव्यात्मक हो सकते हैं तथा नाटक के कथोपकथन और स्वगतकथन तथा उपन्यास के वर्णन, चित्रण तथा कभी-कभी कथोपकथन में भी गद्य काव्यात्मक शैली का प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गद्य-काव्य एक साहित्य रूप भी है और एक शैली वैशिष्ट्य भी।"[1] गद्य गीति में वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अन्तर्निहित ध्वनि संगीत भाव की एकात्मकता या भाव संकलन और गीति के लिए अपेक्षित भाव विकास और उसकी परिणति-आदि लक्षण थोड़े-बहुत अंश में रहते हैं।

साहित्य की इस विधा का सृजन छायावाद युग में हुआ है। इसी युग में यह पूर्ण विकास को भी प्राप्त हुई। रायकृष्ण दास, वियोगी हरि इसके प्रारम्भिक स्रष्टा हैं। बाद में तो हिन्दी गद्य साहित्य के आकाश में गद्य-गीतों की घटा ही छा गई।

गद्यगीतों की रचना की प्रेरणा रवीन्द्र की गीताञ्जलि के हिन्दी अनुवाद से मिली है। इस रचना के द्वारा रहस्यमयी परोक्षसत्ता के प्रति आध्यात्मिक अनुराग, राष्ट्र प्रेम प्रकृति प्रेम, करुणा की भावना आदि की अभिव्यक्ति की जाती है। भावोच्छ्वास की गहनता, आन्तरिकता, तरलता और वेग के कारण इन गद्य गीतों की शैली में भी अन्तर हो जाता है। साधारणतः गद्य गीत भाव प्रधान होते हैं अतः इनकी शैली भावात्मक ही होती है।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, २६२

आज का युग यथार्थ का है, जीवन दृष्टि वैज्ञानिक और भौतिकवादी है अतः नवीन लेखक इस ओर कम प्रवृत हो रहे हैं। संभावना है कि भविष्य में बहुत कम गद्य-गीत लिखे जायँ।

लघुकथा—हिन्दी में लघु कथाएँ भी लिखी गई हैं। आकार एवं प्रकार में ये गद्यगीतों के अधिक निकट हैं। लघुकथाओं में जीवन के किसी गूढ़ अन्त-र्वर्ती सत्य, सन्देश, विचार या अनुभूति को छोटी-सी साधारण प्रतीत होने वाली कहानी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कभी-कभी इन्हें 'बोध-कथा' भी कहा गया है।'' इन लघुकथाओं से जीवन के सत्य का बोध होता है।

हिन्दी साहित्य में कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर, कृत 'आकाश के तारे धरती के फूल' रावी कृत 'मेरे कथा गुरु का कहना है' जगदीश चन्द्र मिश्र कृत 'मौत की खोज' 'उड़ते पंख' आदि लेखक और इनकी वृत्तियाँ इस दिशा में प्रारम्भिक चरण हैं।

लघुकथाओं में प्रतीकात्मकता और रहस्यात्मकता का भी पुट रहता है। 'जीवन के सत्य को भी व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। लेकिन एक बात यह भी ध्यान देने की है कि लघुकथाओं में जीवन के अमर सन्देशों को प्रकट करना कोई सरल कार्य नहीं है अतः अन्य विधाओं की तुलना में इसका विकास अधिक सम्भव नहीं है।

मुद्रक—अतुल प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद,